

वर्ष : 15
अंक : 23
अंक : अप्रैल, 2023 - जून, 2023
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Page Rs. 20,000/-
Half Page Rs. 10,000/-
Qtr. Page Rs. 5,000/-
Back Cover Rs. 40,000/-
(four colour)
Inside Front Rs. 35,000/-
(four colour)
Inside Back Rs. 35,000/-
(four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page 12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक

प्रो. श्योराज सिंह 'बेचैन'

संपादक

प्रो. दिनेश राम

सहायक संपादक

डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'

तान्या लाम्बा

भाषा सहयोग

डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'

डा. राजकुमार राजन

कानूनी सलाहकार

एड. सतपाल विर्द्ध

एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ

डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी,
प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार,
डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय
सौदार्यी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार,
डा. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ

ओमप्रकाश वाधा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम,
डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव,
डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।

* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।

* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्ड/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।

* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।

* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय		–दिनेश राम	4
1. चाण्डालत्व से ब्राह्मणत्व तक : पूर्व-मध्यकालीन भारत में अछूतों के अंदर सामाजिक गत्यात्मकता		–प्रो. विजया लक्ष्मी सिंह	
2. हिन्दू कोड बिल		–डॉ. प्रेम कुमार	5
3. भीमगीत : भोजपुरी लोक में बहुजन अस्मिता का हस्तक्षेप		–डॉ. संजीव कुमार गौतम	15
4. डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ की कहानियों में चित्रित पहाड़ी जीवन (‘बस एक ही इच्छा’ कहानी संग्रह के सन्दर्भ में)		–धनंजय सिंह	21
5. तुलसी के मानस काव्य में लोक दृष्टि		–डॉ. पठान रहीम खान	25
6. हैदराबाद का आदि हिन्दू आंदोलन और स्वामी अछूतानन्द ‘हरिहर’ (1906-1931)		–डॉ. श्रवण कुमार	29
7. मोहनदास नैमिशराय के उपन्यासों में दलित प्रश्न		–अभिलाष वेन्ना	32
8. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में लोकसंस्कृति		–डॉ. राजेंद्र घोडे	35
9. निराला का काव्य और भारतीय संस्कृति		–डॉ. शशिकला	37
10. पद्मा शर्मा की कहानियों में नारी पात्रों की मनःस्थिति का विश्लेषण		–प्रज्ञा मिश्रा	41
11. भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य सांस्कृतिक संश्लेषण फैलाने में महान सप्राट अशोक का योगदान		–कृष्ण कुमार थापक	
12. दलित जीवन-संघर्ष और मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास		–डॉ. संगीता पाठक	45
13. ‘बेघर’ उपन्यास : प्रेम एवं पुरुष अहं का संघर्ष		–ललित सिंह	49
14. दलित स्त्री मुक्ति का स्वकथन : अपनी जर्मी अपना आसमां		–विद्यार्थी कुमार (शोधार्थी)	53
15. फिल्म ‘कशमकश’ और रवींद्रनाथ टैगोर कृत उपन्यास ‘नाव दुर्घटना’ का तुलनात्मक अध्ययन		–श्रीमती मेनुका श्रीवास्तव	56
16. ‘सूरजमुखी अँधेरे के’ में अभिव्यक्त स्त्री मन की पीड़ा		–कुसुम सबलानिया	59
17. विमर्शों से आगे : एक रास्ता यह भी		–श्रेयसी सिंह	63
18. ‘उत्कोच’ दलित मानवीय संवेदना का सच		–सुमन साहू	66
19. वर्तमान परिदृश्य में प्राचीन सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की प्रासांगिकता		–डॉ. राजेश कुमार	69
20. महिला सशक्तिकरण और पंचायती राज व्यवस्था : एक अवलोकन		–उषा यादव	74
21. पितृसत्ता का उद्धव और हिन्दी उपन्यास : विशेष संदर्भ जैनेन्द्र का सुनीता		–अरुण कुमार	77
22. जापानी इतिहास एवं समाज : एक विश्लेषण		–डॉ. ज्योति सिंह गौतम	81
23. ब्रिटिश शासन एवं क्रान्तिकारी संघर्ष में कानपुर की भूमिका		–डॉ. रजनी दिसोदिया	85
		–डॉ. सूरज प्रकाश बडत्या	90
		–अभिषेक सचान	95
		–डॉ. आर. के. बिजेता	

24. उच्च-शिक्षा में आदिवासी बालिकाओं की स्थिति :	—अनुज कुमार पाण्डे —डॉ. देवी प्रसाद सिंह	99
मध्यप्रदेश के विशेष संदर्भ में		
25. काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य : संवेदना और शिल्प	—कुमारी रेनू	102
26. मुक्तिबोध की कविता ‘अंधेरे में’ और ‘ब्रह्मराक्षस’ में फैटेसी	—पूरन कुमार	105
27. महिला सशक्तिकरण और अम्बेडकर के विचार : एक अवलोकन	—डॉ. जितेन्द्र कुमार	108
28. भिक्षावृत्ति का समाजशास्त्र	—विनय कुमार सिंह	111
29. कृष्ण सोबती के उपन्यासों में स्त्री मुक्ति के प्रसंग : एक दृष्टि	—डॉ. अखिलेश कुमार	115
30. लोकसाहित्य और मुस्लिम समाज	—डॉ. विजय कुमार चौबे	120
31. वर्णवादी समाज और संस्कृति का दलित साहित्य से विलगाव	—डॉ. अमित कुमार	124
32. सामासिक संस्कृति के निर्माण में सूफी कवियों का योगदान	—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी	128
33. रामवृक्ष बेनीपुरी के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना	—डॉ. प्रकृति राय	131
34. स्वधर्म से स्वराज : विनायक दामोदर सावरकर	—डॉ. प्रखर कुमार	134
35. दादा कामरेड उपन्यास में स्त्री का छंद और संघर्ष	—डॉ. प्रीति देवी	138
36. युवा एवं सोशल मीडिया : शैक्षिक अध्ययन एवं निष्पत्ति के संदर्भ में	—प्रियंका दीक्षित —प्रो. मुकेश चंद	141
37. हिंदी दलित कहानियों में अंतर्जातीय प्रेम विवाह और अँनर किलिंग का स्वरूप	—अलका जिलोया	146
38. सरदार जाफ़री की ‘कबीर बानी’ : रचनात्मक बनावट और प्रासांगिक महत्ता	—तरुण त्रिपाठी	150
39. मिथकीय चेतना के आलोक में एक और द्रोणाचार्य	—नवीन कुमार —प्रो. अश्विनी कुमार शुक्ल	154
40. महिलाओं के सशक्तीकरण में शिक्षा की भूमिका एवं प्रभाव (उ. प्र. के विशेष संदर्भ में)	—कोमल सिंह	157
41. शिक्षक की अपने विषय के प्रति जागरूकता एवं कक्षा अध्यापन में सम्बोधन तकनीकी की भूमिका	—डॉ. आशीष कुमार	162
42. भारतीय वाड्मय में निहित मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में पर्यावरण संरक्षण	—मनीषा मिश्रा	165
43. प्रेमचंद के उपन्यास ‘रंगभूमि’ में गांधीवाद : एक मूल्यांकन	—डॉ. सपना भूषण —डॉ. प्रीति विश्वकर्मा	169
44. जोतिराव फुले : सामाजिक क्रांति के अग्रदूत	—डॉ. प्रकाश चौराधिया	173
45. सदियों के बहते जर्ख में अभिव्यक्त दलित-संवेदना	—कुमारी अनीता	177
46. आदिवासी समाज के संदर्भ में स्त्रियों की समस्याएं	—राजलक्ष्मी जायसवाल	180
47. दिन बहुरने की बाट जोहता विमुक्त या घुमन्तू समुदाय	—शेषांक चौधरी	183
48. भोजपुरी समाज और भिखारी ठाकुर	—जितेन्द्र कुमार यादव	186

संपादकीय

सदगुरु कबीर की 625वीं जयंती पूरे देश में धूमधाम से मनायी गयी। दिल्ली में 4 जून, 2023 को संयुक्त संघर्ष समिति दिल्ली राज्य अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यक संगठन की तरफ से एन. डी. तिवारी भवन, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, आई.टी.ओ. में कबीर जयंती मनायी गयी। इस के मुख्य संयोजक वी. के. जाटव जी ने इस कार्यक्रम में मुझे भी वक्ता के रूप में शामिल किया था। समय कम था और वक्ताओं की संख्या ज्यादा थी इसलिए बोलने का पूरा समय नहीं मिला। लेकिन थोड़े में ही सही पर अपनी बात रखने का मौका मिला। इससे भी अच्छी बात यह री कि बहुत से वक्ताओं को सुनने का मौका मिला। इस लिहाज से मेरे लिए यह बहुत अच्छा अनुभव रहा। अच्छी बात थी कि इस कार्यक्रम में कबीर को चाहने वाले सभी समाज के लोग शामिल थे। वैसे, यह एकेडेमिशियन लोगों का कार्यक्रम नहीं था। कबीर को लेकर वक्ताओं की जो समझ थी वह परंपरागत ढंग की थी। अध्ययन के क्षेत्र में कबीर पर कुछ नये अनुसंधान हुए हैं उससे वक्तागण परिचित नहीं थे।

हिन्दी साहित्य में कबीर को लेकर सबसे लंबी बहस चली है। इस की शुरुआत डा. धर्मवीर ने अपनी किताब ‘कबीर के आलोचक’, जो वर्ष 1998 में छपी थी, से की थी। इस का अंत भी उन्होंने ही अपनी किताब ‘महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल’ से की थी। यह किताब वर्ष 2017 में छप कर आयी थी। 19 सालों की यह बहस हिन्दी साहित्य की सबसे लंबी बहस है। सदगुरु कबीर को लेकर जो नयी स्थापनाएं डा. धर्मवीर ने दी थीं, उससे एकेडेमिक समाज के बाहर के लोग परिचित नहीं हैं। इसमें उनका कोई दोष नहीं है। संचार के जिन माध्यमों से कबीर की नयी स्थापनाओं को गैर-एकेडेमिक समाज में जाना है, वह अभी उसे लेने के लिए तैयार नहीं हैं। उन की अपनी समस्याएं हैं।

वास्तविक कबीर को सेमिनारों, पत्र/पत्रिकाओं, इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों, सोशल मीडिया और नुक्कड़ नाटकों के जरिए आम जनमानस में जाना है। यह जिम्मेदारी संस्थाओं की ज्यादा है। वास्तविक कबीर को आने वाली पीढ़ियों में जाना है तो उन्हें हर स्तर के पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाना है। इसके लिए सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं को दबाव बनाना होगा। लेकिन इससे पहले खुद इन संस्थाओं को उदार, लोकतांत्रिक और दृष्टि संपन्न होना होगा। बिना इसके यह काम संभव नहीं है। संयुक्त संघर्ष समिति दिल्ली राज्य अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यक संगठन ने इसकी शुरुआत की है जो स्वागतयोग्य है। यह इस कारण से और भी स्वागतयोग्य कि इसमें अगड़ा क्या पिछड़ा, दलित क्या आदिवासी और अल्पसंख्यक क्या बहुसंख्यक सभी समाज के लोग आमंत्रित और शामिल थे।

—दिनेश राम

चाण्डालत्व से ब्राह्मणत्व तक : पूर्व-मध्यकालीन भारत में अछूतों के अंदर सामाजिक गत्यात्मकता

—प्रो. विजया लक्ष्मी सिंह
—डॉ. प्रेम कुमार

पूर्व मध्यकाल परिवर्तन का युग था। प्राचीन काल से मध्यकाल में संक्रमण के साथ-साथ इस काल में बड़ी तेजी से सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे। सामाजिक गत्यात्मकता इस काल की प्रमुख विशेषता थी। सामंतवाद का उदय और कृषि के प्रसार के कारण सामाजिक परिवर्तन को एक राजनीतिक और आर्थिक आधार मिल रहा था। चतुर्वर्ण व्यवस्था का स्थान एक जटिल और विषम जाति नामक व्यवस्था ले रहा था जो गत्यात्मकता के सिद्धांत पर आधारित थीं, यद्यपि ब्राह्मणवादी ग्रंथ अभी भी वर्ण व्यवस्था को ही आदर्श मानकर सैद्धांतिक विमर्श दे रहे थे और इसके साथ-साथ सामाजिक बदलाव को भी जाने-अनजाने में चिन्हित कर रहे थे। सामाजिक परिवर्तन में दो प्रकार की गत्यात्मकता मौजूद थी—सकारात्मक और नकारात्मक। पूर्व मध्यकाल में आए सामाजिक गत्यात्मकता ने वर्णों और जातियों को उसके प्रारंभिक स्वरूप से अलग कर दिया था। वर्ण व्यवस्था में आए गत्यात्मकता ने आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं को भी प्रभावित किया और समाज को एक गतिशीलता प्रदान की। जबकि मार्क्सवादी इतिहासकार रामशरण शर्मा के शब्दों में आरंभिक मध्यकाल बिखराव, टूट-फूट और संख्या में वृद्धि का काल था।¹

प्रारंभिक वर्ण व्यवस्था के सिद्धांतों से काफी अलग, नई जातियों की उत्पत्ति पूर्व मध्यकाल की एक प्रमुख विशेषता है। पूर्व मध्यकालीन ग्रंथ जैसे यादवप्रकाश की वैजयंती, हेमचंद्र की अभिनवचिंतामणि, पराशर स्मृति, ब्रह्मवैर्त पुराण आदि जातियों की संख्या में वृद्धि का उल्लेख करते हैं। प्रारंभिक मध्यकाल में राजपूत, कायस्थ और वैद्य जैसी कई नई जातियों का विकास हुआ। यद्यपि इन जातियों को समकालीन ग्रंथों में काफी निम्नस्तर पर रखा गया। धार्मिक ग्रंथों के साथ-साथ काव्य और नाट्य साहित्य ने भी कायस्थों को काफी निम्न चित्रित किया है परंतु कायस्थों के राजनीतिक और आर्थिक उत्थान को दिखाने से रोक नहीं पाते हैं। यही स्थिति वैद्य के साथ भी है। ब्राह्मणवादी ग्रंथ द्विजों को वैद्य का पेशा अपनाने से रोकता है। पूर्व मध्यकालीन भारत में सबसे ज्यादा सामाजिक गत्यात्मकता निम्न जातियों में देखने को मिलती

है। कृषि के विस्तार के साथ कई नवीन शूद्र जातियों की उत्पत्ति हुई। कृषि कार्य के लिए ज्यादा से ज्यादा लोगों को शूद्र बनाया गया और दूरदराज के इलाकों में दिए गए भूमि अनुदान के कारण कई आदिवासियों अथवा आदिवासी समूहों को शूद्र बनाकर कृषि कार्य में लगाया गया। शूद्र जातियों का विकास पूर्व मध्यकाल का एक प्रमुख विशेषता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण हजारों मिथ्रित जातियों का वर्णन करता है। चीनी यात्री हेन सांग ने भी अपने यात्रा वृत्तांत में अनेक मिथ्रित जातियों का उल्लेख किया है। पूर्व मध्यकाल के दौरान लिखी गई लघु स्मृतियाँ भी कई शूद्र और अछूत जातियों के बनने का प्रमाण देती हैं।

जातियों के अंदर उप-जातियों का बनना भी पूर्व मध्यकालीन प्रक्रिया की ही देन है। सभी जातियों के अंदर कई उप-जातियों का विकास हो चुका था। छठी शताब्दी तक आते-आते कृषक के रूप में वैश्य अपनी पहचान खोने लगे थे और उनका स्थान शूद्र लेने लगे। बंगाल और दक्षिण भारत में शूद्र समुदाय की संख्या ब्राह्मणों से कई गुना ज्यादा दिखाई देती है। वहीं क्षत्रिय और वैश्य समुदायों की उपस्थिति इन प्रदेशों में कम दिखाई देती है। शूद्रों को ब्राह्मवैर्त पुराण दो श्रेणियों में बांटता है—सत् शूद्र और असत् शूद्र। असत् शूद्रों को पतित और अधम भी कहा जाता है और उन्हें अछूतों की श्रेणी में रखने का प्रयास निरंतर दिखाई देता है। शूद्र और अछूतों का अध्ययन करने वाले ज्यादातर इतिहासकार अपने आपको इनके वर्गीकरण और सामाजिक स्तरीकरण तक ही सीमित रखते हैं। अछूत वर्ग के भीतर की गतिशीलता अथवा गत्यात्मकता को इतिहासकारों ने अध्ययन का विषय नहीं बनाया है। इस लेख का मुख्य उद्देश्य अछूत वर्ग और जातीय समूह में अंतर्निहित ऐतिहासिक गत्यात्मकता का अध्ययन करना है।

विवेकानन्द झा ने अछूतों पर ‘चाण्डाल : पूर्व कालीन भारत में अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था’ नामक पुस्तक प्रकाशित की है¹ झा अछूतों के प्रारंभिक इतिहास को चार व्यापक चरणों में विभाजित करते हैं।² प्रथम चरण—600 ई.पू. तक, दूसरा—200 ई. तक, तीसरा—600 ई. तक तथा चौथा एवं अंतिम चरण 1200 ई. तक फैला हुआ है। अन्य इतिहासकारों की तरह विवेकानन्द झा की पुस्तक भी यद्यपि विस्तृत रूप में परंतु अछूतों के वर्गीकरण और स्तरीकरण तक सीमित है और वहीं पुराने स्रोतों का इस्तेमाल करते हैं। अछूतों के इतिहास के पुनर्निर्माण की जरूरत अभी भी बनी हुई है। कई नये प्रकार के स्रोतों जैसे काव्य-नाट्य साहित्य तथा कल्हण की राजतरंगिणी अस्पृश्यों के जीवन से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण संदर्भ प्रदान करते हैं। यह लेख

वर्गीकरण और स्तरीकरण से ऊपर अछूतों की जीवन में अंतर्निहित गत्यात्मकता उजागर करने का एक प्रयास है।

पूर्व मध्यकाल में सभी वर्ण और जातियों के साथ-साथ अछूतों के जीवन में भी व्यापक परिवर्तन आया और यह परिवर्तन उनके जीवन में आए गत्यात्मकता का पर्याय बन गया। एक तरफ जहाँ पूर्व मध्यकाल के स्मृतिकारों ने परिवर्तन को छूत और अछूत समाज पर लगाए गए प्रतिबंधों के रूप में चिन्हित किया, वहीं दूसरी तरफ पूर्व मध्यकाल के पुराणों तथा ऐतिहासिक ग्रंथ कल्हण की राजतरंगिणी ने भी अछूतों के जीवन में आए सकारात्मक बदलाव को कहानियों के माध्यम से अंकित किया है। इस लेख में मैं लघु स्मृतियाँ जैसे अत्रि, उसना, अंगीरस, यम, आपस्तंब, समव्रत, कात्यायन, हरित, बृहस्पति, दक्ष, सातातप, शंख, लिखित, व्यास तथा वशिष्ठ स्मृति के साथ-साथ स्कंदपुराण और राजतरंगिणी से लिए गए संदर्भ और कहानियों के आधार पर अछूतों के जीवन में आए गत्यात्मकता का निर्माण करने का प्रयास करूँगा। जहाँ एक तरफ स्मृतिकार अछूतों और शेष समाज पर ज्यादा से ज्यादा धार्मिक प्रतिबंध लगाकर अछूतों और शेष समाज को नियंत्रण करते दिख रहे हैं वहीं दूसरी तरफ ऐसा प्रतीत होता है कि समाज बार-बार उन प्रतिबंधों का उल्लंघन कर रहा है और ब्राह्मणवादी ताकतें उनको रोकने का लगातार प्रयास करती दिखाई दे रही हैं। इन प्रतिबंधों का उल्लंघन नैसर्गिक रूप से एक विविधता पूर्ण समाज की ओर बढ़ाया गया कदम है, जो सामाजिक-धार्मिक परिवर्तनों और वास्तविकता के विरोधाभास के द्वांद्य या संघर्ष से सामाजिक गत्यात्मकता का जन्म देता हुआ दिखाई पड़ता है।

पूर्व मध्यकाल में आए संक्रमण को हम उस समय तक नहीं समझ सकते जब तक हमें यह पता नहीं चलता है कि गुप्तकाल और उसके पूर्व अछूतों के जीवन में क्या चल रहा था? उनकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दशा और दिशा, पूर्व मध्यकाल में उनके जीवन की गत्यात्मकता को तय कर रहे थे। अभी तक नाट्य साहित्य का इस्तेमाल शूद्र और अछूतों के इतिहास के निर्माण के लिए नहीं किया गया था जबकि नाटककारों ने अपने नाटकों के चरित्रों में इन वर्गों के लोगों को भी शामिल कर एक वास्तविक समाज का परिदृश्य स्थापित करते हैं। नाट्य साहित्य जैसे भास रचित अविमारक, शूद्रक कृत मृच्छकटिकम्, श्यामिलक रचित पादताडिक, विशाखदत रचित मुद्राराक्षस और भवभूति कृत मालतीमाधव—सभी शहरों के बाहर रह रहे अकुलीन या अंत्यज जैसे श्वापक/चाण्डाल के जीवन संबंधित पर्याप्त संदर्भ प्रस्तुत

करते हैं। अविमारक में, श्वापक को अकुलीन या अंत्यज (निम्नतम परिवार या मूल या अछूत व्यक्ति) कहा जाता है।⁴ सबसे पहले चाण्डाल और श्वापक को अस्पृश्य का दर्जा दिया गया था। पूर्व मध्यकाल में भी चाण्डाल और श्वापक अछूत जातियों के पर्याय बने रहे। इन नाटकों में भी बहिष्कृत लोगों, जिसमें चाण्डाल और श्वापक शामिल थे, के आवास शहर या गांव के सीमा के बाहर स्थित थे। हालांकि, वे सामाजिक परिदृश्य के दायरे से बाहर नहीं थे, बल्कि हाशिये पर रखे गए थे। हाशिए पर होने के बावजूद, वे शहर और शहर के लोगों के साथ लगातार बातचीत करते रहे। यामाजाकी जिनीची यह कहते हुए इसकी पुष्टि करते हैं कि चाण्डालों और ब्राह्मणों सहित समाज के अन्य सदस्यों के बीच लगातार संपर्क (सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक) मौजूद था।⁵ अछूत समूहों का अलगाव पूर्ण नहीं था लेकिन दो परस्पर विरोधी समूहों के संबंध में समझौते पर आधारित था, माइकल अक्टार का तर्क है।⁶

भास के नाटक अविमारक में, नायक एक बहिष्कृत (श्वपक) के भेष में, वैरंत्य शहर के बाहर रहता है। अविमारक शहर के बगीचे में जाता है और एक उग्र हाथी से राजकुमारी की जान बचाता है। शहर में आने वाले पर्यटकों के वर्ण और जाति की पहचान करने के लिए कोई तंत्र नहीं था। हालांकि, अछूतों की पहचान उनके अलग-अलग स्थानों और प्रकारों से की जाती थी। अविमारक की तरह, पादताड़िक भी उज्जयिनी शहर के बाहर रहने वाले श्वपक का संदर्भ प्रदान करता है। ‘ध्वज वेश्या’ (पताका वैश्य) उज्जयिनी के शहर की दीवारों के बाहर, अपने फूस के घर या लता कुटिया (कुटंकगार) में दक्षिणी द्वार (बहिः शिविक) के बाहर रहती थीं। शहरी परिदृश्य भी शुद्ध, अशुद्ध और तटस्थ प्रकारों में विभाजित थे। अशुद्ध लोगों और उनकी बस्तियों को नगर से बाहर रखा जाता था। श्मशान घाट भी अपवित्र स्थान माने जाते थे और इसलिए शहर के बाहर स्थित होते थे। नाटककार अस्पृश्यता से संबंधित किसी निश्चित प्रतिमान का उल्लेख नहीं करते हैं। हालांकि, माइकल अक्टार एक्टर का तर्क है कि जहाँ तक ब्राह्मणादी अभिव्यक्ति का संबंध है, अस्पृश्यता की अवधारणा काफी अच्छी तरह से सीमांकित प्रतिमान पर आधारित है।⁷

प्रामाणिक धार्मिक साहित्य की तरह, नाटककार भी चाण्डालों (अछूतों) को अलग, प्रदूषित, अपवित्र और निर्दर्शी के रूप में नकारात्मक रूप से चित्रित करते हैं। प्रचलित धारणा के अनुसार, उन्हें दयालु नहीं माना जाता था। संभवतः, निष्पादन के साथ उनके जुड़ाव के कारण, उन्हें

कठोर और निर्दर्शी माना जाता था। अविमारक में, रानी अविमारक (भेष में एक अछूत) के बारे में कहती है, ‘अकुलीन व्यक्ति इतना दयालु कैसे हो सकता है?’ अस्पृश्यों को केवल सामाजिक-धार्मिक रूप से पृथक और अधीनस्थ वर्गों के रूप में नहीं देखा जा सकता है। प्रारंभिक राज्यों ने भले ही समान रूप से नहीं, लेकिन सकारात्मक रूप से अछूतों को राज व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर शामिल किया। राज्य ने अछूतों को जल्लाद के रूप में नियुक्त किया था। नाटककारों ने जल्लादों और चाण्डालों का परस्पर विनिमय किया है। मुद्राराक्षस में जल्लाद को घातक, वधाधिकृतजन और शलायतना कहा जाता है।⁸ मृच्छकटिकम् जल्लाद के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग नहीं करता है बल्कि चाण्डाल घोषित करता है। मुद्राराक्षस में, सिद्धार्थक, समृद्धार्थक से कहते हैं, ‘आइए हम चण्डाल (चण्डालवेश) का भेष धारण करें और चंदनदास को फाँसी के स्थान पर ले जाएँ।’ ऐसा लगता है कि जल्लादों की विशेष पोशाक थी जो शहरी लोगों से खुद को अलग करने में मदद करती थी।

ऐसा लगता है कि घोषित निर्दर्शी होने के कारण, चाण्डालों को राज्य द्वारा जल्लाद के रूप में नियुक्त किया जाता था। हालांकि, मृच्छकटिकम् में दो जल्लादों को पसंद नहीं आया कि उन्हें चाण्डाल कहा जाए। मृच्छकटिकम् में, जल्लाद कहते हैं, ‘वास्तव में हमें चाण्डाल नहीं कहा जाना चाहिए, हालांकि हम एक चाण्डाल परिवार (‘चाण्डाल-कुल) में पैदा हुए हैं।’ जो लोग एक गुणी व्यक्ति पर मुकदमा चलाते हैं, वे पापी हैं, और वे चाण्डाल हैं।⁹ चाण्डालों के लिए कुल प्रणाली की शुरुआत करके, नाटककार ‘एक अशुद्ध वंश की पवित्रता’ को बनाए रखने की कोशिश करता है या समाज को संरक्षित करने की कोशिश करता है। शहर में चाण्डाल पूरी तरह से प्रतिबंधित नहीं थे क्योंकि राज्य ने उन्हें आधिकारिक जल्लाद के रूप में नियुक्त किया था। उन्हें अभियुक्तों को फाँसी के लिए श्मशान की ओर ले जाना होता था और शहर में अभियुक्तों के अपराध और सजा के बारे में उद्घोषणा करनी होती थी। मृच्छकटिकम् में, दोनों जल्लाद कहते हैं, ‘हम हाल ही में सजा पाए अपराधी को जंजीरों में बांधने और फाँसी तक ले जाने में विशेषज्ञ हैं, और बिना समय गंवाए सिर काटने या सूली पर चढ़ाने में कुशल हैं।’¹⁰ चाण्डाल फाँसी देने में विशेषज्ञ थे, इसलिए राज्य ने कुछ चाण्डालों को जल्लाद के रूप में नियुक्त करके और उन्हें ‘स्वजातिमहत्तर’ जैसी उपाधियों से विभूषित कर संरक्षण दे रखा था। उदाहरण के लिए, मृच्छकटिकम् में, दोनों जल्लादों को ‘जाति का प्रमुख’

(स्वजातिमहत्तर) कहा गया है। उनकी उपाधियाँ, दो बातों को इंगित करती हैं—पहली, जहाँ चाण्डाल समाज के द्वारा सामाजिक और धार्मिक रूप से बहिष्कृत किए गए थे वहीं राजनीति ने उन्हें निचले स्तर पर ही सही पर अंगीकृत किया हुआ था। दूसरी, राज्य ने अछूतों में से कुछ को उनके प्रमुख या प्रतिनिधि के रूप में नामित करके उनके बीच एक पदानुक्रम बनाया ताकि अछूत समाज को कुछ खास लोगों के माध्यम से नियंत्रित किया जा सके। मृच्छकटिकम् के दसवें और अंतिम अंक में, दो जल्लादों को चारुदत्त द्वारा ‘सर्व-चाण्डालाणाम-अधिपति’ ('सभी चाण्डाल के प्रमुख'), संभवतः पूरे राज्य के प्रमुख) की उपाधि से सम्मानित किया जाता है।¹¹ दोनों उपाधियों से संकेत मिलता है कि उन्हें अपने जाति समूहों के भीतर काम करना है, इससे परे नहीं। आधिकारिक उपाधि देने की व्यवस्था, अछूत समाज का स्तरीकरण, विभाजन और शासन के माध्यम से एक जाति को नियंत्रित करने के लिए एक उपयुक्त तंत्र के रूप में अपनाया गया था। अछूत होने के कारण, उन्हें अपनी ही जाति तक सीमित कर दिया गया था और उन्हें आवंटित कर्तव्यों का पालन करना होता था। चित्रलेखा गुप्ता के शब्दों में, राज्य-समाज ने आवश्यकतानुसार एकीकरण और अलगाव की दोहरी प्रक्रिया द्वारा अपना संरचनात्मक संतुलन बनाए रखा।¹² जल्लाद बनाकर चाण्डाल सबसे नीचे राज्य समाज में एकीकृत, और मृतकों का निपटान करके, वे सामाजिक-सांस्कृतिक सोपान के निचले भाग में अनुष्ठानिक रूप से शामिल कर लिए गए थे। जिस समाज में हत्या करना कोई मुद्दा नहीं था, वहाँ चाण्डालों को जल्लाद का पद क्यों दिया गया? ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य ने शेष समाज को नियंत्रित करने के लिए चण्डाल की अशुद्धता का लाभ उठाया था। राज्य ने चाण्डालों को जल्लाद बनाकर उसकी अस्पृश्यता का इस्तेमाल, एक दो-धारी तलवार के रूप में किया था—एक, अपराधियों की शारीरिक हत्या का दंड, और दूसरा उद्घोषणा और वध-अनुष्ठान के द्वारा वंश (कुलदूषण) का प्रदूषण।

शुद्धता-अशुद्धता का धार्मिक उपकरण केवल अछूतों के लिए नहीं बल्कि सर्व समाज के लिए लागू किया गया था। अछूत घोषित करने के नियम निश्चित नहीं थे। मुख्यधारा के समाज के साथ सांस्कृतिक मतभेदों के बावजूद शक्तिशाली म्लेच्छों, स्वदेशी जनजातियों और विद्रोहियों को अच्छी तरह से स्वीकार किया गया था, जबकि चाण्डालों को नहीं। शहर के भीतर, उन्हें शारीरिक संपर्क, श्रवण और भाषण के माध्यम से स्पर्श से बचने के लिए कहा गया था। चाण्डालों की दृष्टि, वाणी और सामीप्य से प्रदूषण होता है

ऐसा स्थापित कर दिया गया था। उद्घोषणा में चाण्डालों द्वारा पूर्वजों के नामों की घोषणा करना अपवित्रता का कार्य माना जाता था। उदाहरण के लिए, मृच्छकटिकम् में, चारुदत्त कहता है, ‘मेरा परिवार जो पहले सैकड़ों बलिदानों द्वारा पवित्र किया गया था, और यज्ञ सभाओं में भीड़ भरे सभागार में वैदिक मंत्रोच्चारण द्वारा चित्रण किया गया था, अब घोषणा में जोर-शोर से नामित किया गया है और (चाण्डालों) द्वारा प्रदूषित किया गया है।¹³ फाँसी के मैदान के रास्ते में, दोनों चाण्डाल लगातार लोगों से दूरी या रास्ता बनाने के लिए कहते हैं। प्रदूषण के कारण उनकी निकटता वांछित नहीं थी। दोनों जल्लाद लोगों को फाँसी देखने से रोकते हैं और कहते हैं, ‘इद्र-ध्वृव का हरण किया जाना, गाय का जन्म, तारे का गिरना और पुण्यात्मा का वध—इन चारों को नहीं देखना चाहिए।¹⁴ भले ही उन पर हजारों प्रतिबंध और प्रदूषण ला दिए गए हो, चाण्डाल अपने निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करने के लिए शहरों का दौरा किया करते थे।

शहर के लोग भी अछूतों के पास जाते थे। उच्च वर्णों के लिए प्रदूषण संबंधी नियम अधिक सख्ती से लागू थे। लोगों को शहर के बाहर चाण्डाल के घरों में जाने से प्रतिबंधित नहीं किया गया था। उदाहरण के लिए, अविमारक में, दाई और नलिनीका ('नौकरानी') जिज्ञासावश ‘हाथी के दिन’ शहर के बाहर एक अछूत (*श्वपाक*) के निवास पर जाते हैं।¹⁵ दूसरी बार वे राजा की बेटी के दूत के रूप में अविमारका के घर भी आते हैं। नौकरानियाँ निम्न सामाजिक मूल (ज्यादातर अकुलीन) से संबंधित थीं और अछूत के घर जाने से उन्हें कोई लिंगक नहीं होती थी। अकुलीन और कुलीनता के एक परिभाषित सामाजिक विरोधाभास वाले शहर में, अकुलीन (*शुद्ध, नौकर, दास आदि*) अछूतों के ज्यादा करीब थे। हालाँकि, ब्राह्मणों के लिए शहर की सीमा के बाहर अछूतों के घरों में जाना प्रतिबंधित था। एक ब्राह्मण के लिए एक अछूत के घर (एक अपवित्र स्थान के रूप) में जाना, एक ब्राह्मण (ब्राह्मण-परिवाद) के दुर्व्यवहार या प्रदूषण के रूप में देखा जाता था। इन सब को जानने के बावजूद, ब्राह्मण विदूषक शहर के बाहर अविमारक (एक अछूत) के घर में जाता है।¹⁶ श्वपाक के भेष में अविमारक की स्थिति को अस्पृश्यता के दूसरे चरण (विवेकानन्द ज्ञा की विभाजन की योजना) से संबंधित कहा जा सकता है, जब अस्पृश्यता ने समाज में आकार लेना शुरू कर दिया था, लेकिन सख्ती से इसका पालन नहीं किया जा रहा था। हालाँकि, मृच्छकटिकम् में चाण्डाल तीसरे चरण (ज्ञा की योजना के अनुसार 200-600 इसवी सन्) से संबंधित है, जो अस्पृश्यता के अभ्यास और प्रतिरोध की तीव्रता को

चिन्हित करता है। प्रतिरोध के रूप में मृच्छकटिकम् में, चाण्डाल कहते हैं, वास्तव में हम चाण्डाल नहीं हैं, हालाँकि हम एक चाण्डाल परिवार में पैदा हुए हैं। जो लोग एक गुणी व्यक्ति को सताते हैं, वे असली पापी हैं और वे चाण्डाल हैं।¹⁷ मालतीमाधव के चाण्डाल, विवेकानंद ज्ञा की योजना के चौथे चरण पूर्व मध्यकाल (600-1200 ईसवी सन्) के हैं जब चाण्डाल शब्द प्रदूषण के पर्याय के साथ-साथ अपमान अथवा गाती के रूप में प्रयोग होने लगता है। मालतीमाधव में, चाण्डालों को ‘पाषाण-चाण्डाल’ या नापाक कार्यों में लगे ‘विधर्मी’ कहा जाता है। मालतीमाधव में एक अपमानजनक संबोधन के रूप में ‘चाण्डाल’ का प्रयोग किया गया है। पाँचवें अंक में, माधव ने अधोरघट को ‘दुरात्मन्’ और ‘पासन-चाण्डाल’ के रूप में संबोधित करता है।¹⁸ मालतीमाधव के संदर्भ से ऐसा लगता है कि पूर्व मध्यकाल में चाण्डालों की स्थिति में और अधिक गिरावट दर्ज हुई। परंतु पूर्व मध्यकाल के कई अन्य स्रोत इसके विपरीत अछूतों के जीवन के कुछ सकारात्मक संदर्भ भी प्रस्तुत करते हैं।

पूर्व मध्यकाल में शूद्रों के साथ-साथ अछूतों की संख्या में भी काफी वृद्धि दिखाई देती है। अछूत जातियों का विस्तार भी पूर्व मध्यकाल की एक प्रमुख विशेषता है। मार्क्सवादी इतिहासकार रामशरण शर्मा के अनुसार सातवीं सदी से आगे एक महत्त्वपूर्ण घटना थी जातियों की संख्या में वृद्धि तथा शुद्ध और अशुद्ध जातियों में विभाजन।¹⁹ जातियों की संख्या में वृद्धि ने न केवल वर्ण व्यवस्था बल्कि नई जातियों और अछूतों को भी गहरे तरीके से प्रभावित किया था। पूर्व मध्यकाल के ग्रंथों में कई नवीन अछूत जातियों का उदय का वर्णन मिलता है। रामशरण शर्मा अछूतों की संख्या में इस भारी वृद्धि की व्याख्या करना कठिन मानते हैं। रामशरण शर्मा के अनुसार जिन अछूत जातियों को हिंदू समाज में आत्मसात् नहीं किया जा सका उन्हें अछूतों की श्रेणी में ढकेल दिया गया। कई अछूत जातियों ने हिंदू बनाने के प्रयत्नों का तीखा विरोध किया इसके कारण उन्हें उनके संसाधनों से अलग कर उन्हें गाँव से बाहर रखा गया। शबरों, भीलों, कैवर्तों, पुरिंदों तथा अभीरों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक लंबा संघर्ष किया और अंततः उन्हें हराकर अछूत घोषित कर दिया गया। कुछ पुरानी जातियाँ जैसे शिकारी, दस्तकार, चर्मकार, नापित इत्यादि को पूर्व मध्यकाल में अछूत घोषित कर दिया गया, शायद इन जातियों ने भी ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध किया था। जितनी तेजी से पूर्व मध्यकाल की स्मृतियों में ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया का विस्तार देखने को

मिलता है उतनी ही बड़ी संख्या में अछूत जातियों का निर्माण भी दिखाई देता है। उदाहरण के तौर पर कई शूद्र जातियाँ जैसे नापित और चर्मकार जो गुप्तकाल तक शूद्रों की श्रेणी में शामिल थी, अछूत घोषित कर दी गई। गुप्तकालीन नाटक मृच्छकटिकम् नाटक के छठे अंक में वीरक नाम का नापित और चंदनक नाम का चर्मकार राजा के उच्च सैन्य अधिकारी हैं।²⁰ विराट राजा का सेनापति, ‘प्रधान दंडनायक’ और विश्वास भाजन है साथ में चंदनक भी राजा की सेना में विश्वासपात्र ‘बलपति’ है। चंदनक नाटक के प्रमुख पात्र ब्राह्मण चारुदत्त और शार्विलक से भी जुड़ा हुआ है। चंदनक विद्रोही आर्यक की भी भागने में मदद करता है। वीरक चंदनक का विरोध करता है। फलस्वरूप दोनों के बीच झगड़ा होता है और दोनों सांकेतिक रूप से एक दूसरे की जातियाँ बता कर नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। नाटक के अंतिम अंक में राजा के प्रतिनिधि के रूप में चारुदत्त चंदनक को ‘पृथिवीदंडपालक’ की उपाधि प्रदान करता है। वीरक और चंदनक अपने झगड़े में एक दूसरे की जातियों से परिचित होने के बावजूद उसे उजागर नहीं करते शायद उन्हें भी सामाजिक तिरस्कार का डर लग रहा होगा। स्मृतियों के प्रतिबंधों के विरुद्ध प्राचीन भारत में नापित और चर्मकार जाति के लोग राजसत्ता अथवा प्रशासन के उच्च पदों पर पहुँच रहे थे। राजनीति उनकी गत्यात्मकता को पंख प्रदान कर रही थी और ब्राह्मण चारुदत्त के द्वारा उन्हें सामाजिक वैधता भी प्राप्त हो रही थी।

पूर्व मध्यकाल में इन जातियों का पतन दो बातों की ओर संकेत करती है—पहला, इन जातियों ने पूर्व कालीन भारत में सामाजिक गत्यात्मकता को प्राप्त किया था; दूसरा, स्मृतिकारों द्वारा इन जातियों को अछूत घोषित कर, प्रतिबंध लगाकर इनकी गत्यात्मकता को पूर्ण रूप से रोक दिया गया था। स्मृतिकारों का प्रतिबंध अछूतों के गत्यात्मकता के विरुद्ध एक ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया दिखाई देती है जिसकी सहायता से इन जातियों को उनके पदों और संसाधनों से बंचित कर अस्पृश्यता की ओर आसानी से ढकेला जा रहा था। जहाँ तक चाण्डालों के संसाधनों का सवाल है, स्मृतिकार अस्पृश्यता के बावजूद उसका दोहन करने का अधिकार द्विज जनों को देते हैं। उदाहरण के तौर पर अत्रि स्मृति फल-फूल से लदे अछूतों के वृक्षों का दोहन करने की अनुमति देता है।²¹ अत्रि स्मृति के इस उदाहरण में फल-फूल से लदे वृक्ष अछूतों के जीवन में हो रहे आर्थिक संपन्नता अथवा सकारात्मक गत्यात्मकता के प्रतीक हैं। जबकि उनके फलों-फूलों का दोहन ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है। चित्रलेखा गुप्ता का भी मानना है कि

संसाधन के साथनों तक पहुँच नहीं होने के कारण बड़ी संख्या में अछूत जातियों का विकास हुआ।²²

पूर्व मध्यकालीन धार्मिक ग्रंथों में अंत्यज अथवा अकुलीन की जगह अब अस्पृश्य शब्द का बार-बार प्रयोग होने लगता है। चाण्डाल और श्वापक जैसे स्थाई अछूत जातियों पर और अधिक पावर्दियाँ लगा दी जाती हैं और कई जनजातियों को अछूतों के समूह में शामिल कर दिया जाता है और उन पर अस्पृश्यता निरूपित कर दी जाती है। चर्मकार, रजक, भुकड़, नट, चकरी, सैंडीका, शिकारी, मछुआरे, कसाई, जल्लाद आदि का अछूत जातियों में गिना जाना प्रारंभ होने लगता है। गौ मांस खाने वाले गवासनों को पहली बार अछूत बनाया जाता है। भील, केवट, मेल और कोलिका जैसे जनजातियों को जिन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था, अछूतों का दर्जा दिया जाता है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था को अस्वीकार करने के कारण कई कृषि आधारित जातियों को भी अछूतों की श्रेणी में रखा जाता है। शूद्रों की कई जातियों को अस्पृश्यता के दायरे में लाया गया और इन्हें असत् शूद्र का दर्जा दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अस्पृश्यता का इस्तेमाल ब्राह्मण ग्रंथों ने बहिष्कार के एक हथियार के रूप में किया, जहाँ एक तरफ ब्राह्मणवादी ग्रंथ अछूत घोषित कर कई जातियों की गत्यात्मकता को रोकते दिखाई देती हैं, वहीं दूसरी तरफ पुराण और ऐतिहासिक कथाओं में अछूतों के जीवन की गत्यात्मकता को देखा जा सकता है। उनका यह प्रयास ज़मीनी स्तर पर कितना प्रायोगिक था कहा नहीं जा सकता परंतु ग्रंथों में मिली छूट यह दर्शाती है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था उन्हें सैद्धांतिक रूप से सामाजिक गत्यात्मकता देने को बाध्य हो रही थी। स्कंदपुराण में वर्णित मातंग की कहानी न केवल सामाजिक गत्यात्मकता का एक ज्वलंत उदाहरण पेश करता है बल्कि यह दिखाता है कि कैसे ब्राह्मणवादी व्यवस्था बाध्य होकर एक चाण्डाल को ब्राह्मणत्व देने पर मजबूर हो रहा था। इसी तरह की कथाओं का जिक्र 11वीं सदी के कश्मीरी लेखक सोमदेव के कथासरित्सागर तथा कल्हण के राजतरंगिणी में भी मिलता है।

पूर्व मध्यकाल के सारे सूतिकार अछूतों के विरुद्ध अनेक प्रकार के प्रतिबंध और प्रायश्चित लगा रहे हैं—जैसे अछूतों के छुए गए भोजन और पानी पर प्रतिबंध। इन सारे प्रतिबंधों को पूर्व मध्यकालीन भारत में आ रहे सामाजिक बदलाव और गत्यात्मकता के विरुद्ध ब्राह्मणवादी प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा जा सकता है। अत्रि सूति चाण्डाल के वर्तनों में पानी पीने के लिए सैंतीस दिनों का प्रायश्चित का प्रावधान करता है। चाण्डाल ‘म्लेच्छ’ और श्वापक

औरतों के साथ संसर्ग करने के लिए कपाल ब्रत के द्वारा शुद्धिकरण का प्रस्ताव करता है।²³ समव्रत सूति काम के आवेश में चाण्डाल औरतों के साथ सोने के लिए प्रजापत और कृक्ष ब्रत को शुद्धिकरण की राह बताता है।²⁴ वहीं पुक्कस स्त्रियों (पुक्कस निषाद और शूद्र औरतों से मिश्रित), नटी, सलूसी, रजकी तथा वेणुजीबी स्त्रियों के साथ संसर्ग के लिए चंद्रायण का प्रस्ताव देता है।²⁵ कई द्विज नशा और काम के प्रभाव में अछूत औरतों के साथ संबंध बनाते थे। अत्रि सूति इसका निराकरण प्रजापति प्रायश्चित में करता है।²⁶ ऐसा प्रतीत होता है कि अछूतों ने पूर्व मध्यकाल में वेद, धर्मशास्त्र और पुराण सुनने शुरू कर दिए थे इसको रोकने के लिए उसना सूति इसे पाप घोषित करता है और इसके लिए चंद्रायण प्रायश्चित का प्रावधान करता है।²⁷ सभी सूतिकार जैसे अत्रि, उसना, अंगीरस, यम, आपस्तंभ, समव्रत, कात्यायन, इत्यादि चाण्डाल के कुएँ और पात्र से पानी पीने पर पाबंदी लगाते हैं। यम सूति शूद्र, दातों, नाई, गोपालक आदि जिनसे पारिवारिक स्तर पर मित्रता स्थापित हो उससे भोजन ग्रहण करने की अनुमति देता है।²⁸ ब्राह्मणों द्वारा अछूत जातियों जैसे रजक, व्याघ्र, चर्मकार, बढ़इ, वेणुजीबी इत्यादि जातियों से पका हुआ भोजन अथवा उबला चावल लेने पर प्रतिबंध लगाता है और इसके लिए चंद्रायण प्रायश्चित का निवारण करता है। सूतिकार ब्राह्मणों और द्विज के अंदर आ रहे नकारात्मक गत्यात्मकता को भी अंकित कर रहे हैं उदाहरण के तौर पर अत्रि सूति मांस, लाख और नमक बेचने वाले ब्राह्मणों को पतित घोषित करता है।²⁹

सूतिकारों के फरमानों से अलग, कई ऐतिहासिक स्रोत अछूतों के जीवन के सकारात्मक गत्यात्मकता को प्रस्तुत करते हैं। स्कंदपुराण के पञ्चम भाग, अवंती खंड के साठवें पाठ में, मातंगेश्वर (साठवें लिंग) की कहानी है।³⁰ मातंग प्रख्यात ब्राह्मण सुगति के पुत्र थे। बचपन में मातंग बहुत शरारती थे, एक दिन जब मातंग ने एक गधे की डड़े से पिटाई की तो बगल में खड़ी उसकी माँ ने कहा यह कोई ब्राह्मण नहीं बल्कि चाण्डाल है। यह सुनते ही मातंग ने गधे से पूछा, ‘राशभी आपने ऐसा क्यों कहा? मैं तो यायावर कुल में जन्मा हूँ।’ जब मातंग को पता चला कि उसका जन्म वर्णसंकर (एक ब्राह्मण महिला का नशे में धूत नाई द्वारा किए गए दुष्कर्म) से हुआ है, ब्राह्मणत्व वापस पाने के लिए उसने प्रतिज्ञा की और जंगल जाकर कठोर तपस्या की। उसकी कठोर तपस्या से डरकर इंद्र प्रकट हुए और एक वरदान मांगने को कहा। वरदान में मातंग ने अपना ब्राह्मणत्व वापस मांगा। फिर इंद्र ने कहा ‘यह किसी भी

तरीके से चाण्डाल गर्भ से पैदा हुए आपके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ठुकराए जाने पर मातंग ने एक ही पैर पर खड़े होकर सौ सालों तक फिर से तपस्या की। विवश होकर इंद्र फिर से प्रकट हुए और कहा ब्राह्मणत्व को प्राप्त करना बहुत ही मुश्किल है बदले में तुम कुछ और मांग लो। यह सब सुनने के बाद मातंग बहुत दुखी हुए और गया चले गए जहाँ उन्होंने खुद को योग और प्राणायाम के कठिन तप में लगा दिया और सौ साल तक एक ही पैर के अंगूठे पर खड़े रहकर तपस्या की और केवल त्वचा और हड्डियों तक सिमट गए। इंद्र फिर से प्रकट हुए और अपनी बात फिर दोहराई। इस बार मातंग ने इंद्र से कहा, ‘जब ब्राह्मणत्व किसी और वर्ण के लिए इतना ही मुश्किल है तो फिर राजा विश्वामित्र (एक क्षत्रिय) को तपस्या के बाद कैसे प्राप्त हो गया?’ उन्होंने इंद्र से कहा कि अगर मैं ब्राह्मणत्व के योग्य हूं तो आप मुझे रास्ता बताइए। इस बार इंद्र मातंग से प्रसन्न हुए और कहा कि महाकाल वन में ब्रह्मा द्वारा एक दिव्य लिंग की स्थापना की गई है और केवल इसके दर्शन करने से आप ब्राह्मणत्व को प्राप्त करेंगे। फिर, लिंग के दर्शन करके मातंग ने ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया और संसार में मातंगेश्वरक कहलाए। गया में, इंद्र ने उन्हें 60वें लिंग की उत्कृष्ट महिमा प्रदान की। पुराण की यह कहानी अछूतों के जीवन की सर्वश्रेष्ठ गत्यात्मकता का प्रतीक है। इसी तरह की गत्यात्मकता कल्हण की राजतरंगिणी तथा सोमदेव की कथासरित्सागर की कई कहानियों में देखी जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मध्यकालीन कश्मीर में ब्राह्मणवादी प्रतिबंधों के विरुद्ध निम्न जातियों तथा अछूतों ने सबसे ज्यादा राजनैतिक और सामाजिक गत्यात्मकता प्राप्त की थी।

राजतरंगिणी में कल्हण ‘राजा चक्रवर्मन (936-37 ईसवी) और रंगा’ की कहानी प्रस्तुत करते हैं।³¹ रंगा एक अद्भुत गायक होने के साथ-साथ एक अछूत (डोंब/डोम जाति का) था। यह जानने के बावजूद राजा चक्रवर्मन उसे अपनी सभा में संगीत कला का प्रदर्शन करने की अनुमति देता है। राजा की सभा में मंत्रियों और सरदारों के समक्ष रंगा अपनी कला का प्रदर्शन करता है। रंगा के गायक मंडली के साथ आई उसकी दो पुत्रियाँ हंसी और नागलता राजा का ध्यान अपनी ओर खींचती हैं। राजा, रंगा को बेशकीमती आभूषणों का पुरस्कार देता है। रंगा की दोनों पुत्रियों के गायन कला से काफी प्रभावित होकर और उनकी निम्नता के बावजूद राजा उन्हें अपने अंतःपुर में शामिल कर लेता है। हंसी को राजा मुख्य रानी का पद प्रदान करता है। एक समय हंसी का प्रभाव राज दरबार में

इतना ज्यादा बढ़ गया था कि हंसी के द्वारा छोड़ा गया भोजन ग्रहण करने वाले को उच्च पद पर शामिल किया जाता था। हंसी के द्वारा छोड़े गए भोजन प्राप्त करने वालों में कई छोटे राजा भी शामिल थे। इस अवसर का फायदा उठाकर कई चालाक डोंब मंत्री पद तक पहुँच गए और कई अक्ष, पटेल जैसे महत्वपूर्ण पद पर विराजमान हो गए। इनमें से कई श्वापक औरतों के मासिक धर्म के खून के धब्बे वाले कपड़े पहनकर राजदरबार में आते थे और इस पर अपना गर्व महसूस करते थे। इस काल में डोंबों का आदेश एक शाही आदेश हो गया था और उसका पालन सभी करते थे। राजा ने हेतु नामक गाँव रंगा को अग्रहार के रूप में प्रदान किया था। जब पत्तोपाध्याय इस आदेश को लिखने से इंकार कर देता है तो रंगा अक्षपटेल के कार्यालय में जाकर गुस्से से कहता है, ‘दासपुत्र तुम यह क्यों नहीं लिखते कि हेतु रंगा को दिया गया है’। तिल द्वादशी के समय हंसी विष्णु के मंदिर जाती है और केवल दामर सरदार उसका अनुसरण नहीं करते हैं। कश्मीर के औरतों के इतिहास पर लिखने वाले इतिहासकारों ने भी इस कहानी को अपने लेख में शामिल नहीं किया है।³²

सोमदेव कृत कथासरित्सागर के पाठ संख्या एक सौ बारह में भी इसी प्रकार की एक कहानी ‘युवराज अवंतीवर्धन और मातंग की पुत्री’ का वर्णन मिलता है।³³ राजा पालक के समय एक उत्सव के दौरान जब लोग खुशियों से जोर-जोर से चिल्ला रहे थे एक हाथी अपनी बेड़ियाँ तोड़ लोगों के बीच आ जाता है और लोगों को मारना शुरू करता है। हस्तपाल तथा अन्य कोई हाथी को नियंत्रित नहीं कर पाते हैं। लोगों को मारते-मारते हाथी चाण्डालओं की बस्ती में जा पहुँचता है जहाँ उसका सामना मातंग की एक सुंदर कन्या से होता है, जिसका मुँह चंद्रमा के समान और पैरों से प्रकाश निकल रहा होता है। आगे बढ़ रहे हाथी को मातंग की कन्या, उसकी सूँड पर अपने हाथों से मारती है और हाथी उसके हाथों के स्पर्श से शांत हो जाता है। मातंग की कन्या अपने ऊपरी वस्त्र खोलकर हाथी की सूँड में बांध देती है और उसे झूला बनाकर झूलने का आनंद लेती है। जमा भीड़ यह देख कर आश्चर्यचकित हो जाती है और मातंग की कन्या को एक दैवीय कन्या बताने लगती है जो अपनी सुंदरता ही से हाथी जैसे जानवर को भी मोह लेती है। जब यह खबर युवराज अवंतीवर्धन के कानों में पड़ती है तो वह भी इस आश्चर्य को देखने के लिए मातंग की कन्या के पास आ जाता है और उसके सौंदर्य को देखकर उसे अपनी बाहों में भर लेता है। घर लौटते वक्त मातंग की कन्या भी युवराज को उसी शर्म और प्यार की नजर से

देखती है। घर लौटकर युवराज अपने साथियों से उस कन्या के बारे में पूछता है तब पता चलता है कि चाण्डालों की बस्ती में रहने वाली वह कन्या उत्पलहस्त नामक मातंग की बेटी है, जिसका नाम सूरतमंजरी है। यह सुनने पर युवराज कहता है कि मैं नहीं मानता कि वह एक मातंग की कन्या हो सकती है, निश्चित ही वह एक दैवीय कन्या है। मातंग की कन्या इतनी सुंदर कैसे हो सकती है? इतनी सुंदर कन्या जब उसकी पत्नी नहीं बन सकती तो इस जीवन का क्या अभिप्राय है? जब यह बात राजा पालक और रानी अवंतीवर्ती के कानों में पड़ती है, आश्चर्यचकित रह जाते हैं। रानी कहती है, 'एक शाही परिवार में जन्मे हमारे पुत्र को एक निम्न जाति की कन्या से प्रेम कैसे हो सकता है? राजा कहता है क्योंकि हमारा पुत्र उस कन्या पर आसक्त है तो यह स्पष्ट है कि वह दूसरी किसी जाति की कन्या है, जो मातंग के हाथों आ पड़ी है। मातंग की कन्या को ऊँची जाति का सिद्ध करने के लिए राजा (कहानीकार सोमदेव) दो अन्य कहानियों का सहारा लेता है। पहली कहानी में एक चाण्डाल राजा प्रसेनजीत की कन्या से विवाह करता है और दूसरी कहानी में एक युवा मछुआरा राजगृह के राजा मत्यसिन्हा की बेटी मायावती से विवाह करता है।

राजतरंगिणी में कल्हण सुध्या नामक एक महान अभियंता की कहानी का जिक्र करता है। कहानी के अनुसार, सुध्या नाम की एक चाण्डाल स्त्री को सड़क पर झाड़ देते समय एक नवजात बच्चा मिलता है। बच्चे को देखते ही सुध्या में मातृत्व का भाव जाग जाता है और उसके स्तन से दूध टपकने लगता है। अछूत होने के कारण सुध्या एक शूद्र नौकरानी रखकर उस बच्चे का पालन-पोषण करती है ताकि बच्चे को अपने ही प्रदूषण से बचा सके। उस बच्चे का नाम उसकी पालन-पोषण करने वाली माता के नाम पर ही सुध्या पड़ जाता है। बड़े होने पर सुध्या न केवल बुद्धिमान बल्कि साक्षर होने के कारण कई घरों में बच्चों को पढ़ाया करती है। उस समय कश्मीर पर अवंतीवर्मन का राज था। सुध्या हमेशा विताशा (आधुनिक नाम झेलम) नदी के बाढ़ को रोकने के उपाय पर चर्चा किया करता, परंतु गरीबी के कारण अपनी असमर्थता भी जताया करता। राजा अवंतीवर्मन तक जब सुध्या की बात पहुँची तो राजा उसे संरक्षण देने का फैसला करता है। राजा के संरक्षण में सुध्या अपने अभियांत्रिकी के आधार पर झेलम नदी की धारा को मोड़कर घाटी को ढूबने से बचाता है। उसके प्रयास से झेलम और सिंधु नदी का संगम हो पाता है। सुध्या सात योजन तक झेलम का किनारा और बांध बनाकर

महामदन झील से झेलम को निकालता है। सुध्या के प्रायोगिक बदलाव से ना केवल भयंकर बाढ़ से बचाव हो सका बल्कि जमीन का बड़ा हिस्सा खेती के लिए उपलब्ध हो पाया। नदी घाटी के उर्वरक जमीन की उपलब्धता के कारण लोगों को अकाल से बचाया जा सका। सुध्या के प्रौद्योगिक बदलाव के कारण घाटी में सिंचाई की स्थाई व्यवस्था हुई, जिसके कारण घाटी में चावल की पैदावार संभव हो सकी, जिससे चावल की कीमतों में भयंकर गिरावट आई। सुध्या के प्रयासों से चावल की कीमत 200 दिनार से गिरकर 36 दिनार तक पहुँच गई। सुध्या ने न केवल कई गाँव बसाए बल्कि अपनी माँ की प्रतिष्ठा में कई गाँव को ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में दान भी दिए। इन गाँवों को सूर्यकुंड कहा गया। सुध्या ने एक शहर भी बसाया जिसको सुध्यापुर (आधुनिक सोपारा) के नाम से जाना जाता था। सुध्या विष्णु के एक रूप हृषिकेशयोगासाई जिसका मंदिर झेलम और सिंधु के संगम पर स्थित था, का उपासक था। सुध्या के द्वारा किए गए सामाजिक योगदान विशेषकर नदी के मार्ग में परिवर्तन कर खेती योग्य जमीन उपलब्ध कराने के कारण कल्हण उसकी तुलना विष्णु के अवतार के साथ करता है और उसे विष्णु के चार अवतारों से ऊपर रखता है।³⁴

कश्मीर के इतिहास में रानी दिद्दा (980-1003 ईसवी) को कौन नहीं जानता है? कल्हण जब दिद्दा की कहानी लिखता है तो उसके साथ उसका अवैद्य प्रेमी तुंगा की कहानी भी कहता है।³⁵ तुंगा का संबंध खश नामक जनजाति से था। उसने अपने जीवन की शुरुआत चरवाहे के रूप में की थी। कश्मीर में तुंगा का प्रवेश एक डाकिए के रूप में होता है। बहुत जल्द ही वह रानी दिद्दा का विश्वासपात्र और खुले रूप से अवैद्य प्रेमी बन जाता है।³⁶ कश्मीर के राजदरबार में तुंगा का दबदबा लंबे समय तक बना रहा। संग्रामराजा (1003-28 ईसवी) के शासन के दौरान उम्र होने के बावजूद तुंगा का प्रभाव कम नहीं हुआ। तुंगा को हमीर (गजनी का महमूद) के साथ हुए युद्ध में हार का सामना करना पड़ता है। युद्ध में हार के बाद तुंगा की स्थिति कमजोर पड़ने लगती है और इसका फायदा उठाकर उसके शत्रु एक दिन उसे और उसके पुत्र की हत्या कर देते हैं। तुंगा की कहानी भी इस बात की ओर इशारा करती है कि मौका मिलने पर निम्नजातियों के लोग न केवल उच्च पदों पर आसीन हुए बल्कि अपनी योग्यता के बल पर लंबे समय तक बने रहे।

पूर्व मध्यकाल में अछूत जल्लादों से ऊपर उठकर मौका मिलने पर शूद्र, म्लेच्छ और अछूत, शाही संरक्षण और

दरबारों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे थे और बता रहे थे कि राजसत्ता और राजनीतिक समझ केवल ऊपर के वर्गों तक ही सीमित नहीं है। तप, तपस्या, और तीर्थ भी अछूतों से अछूता नहीं रहा। चित्रलेखा गुप्ता सुव्याक की कहानी पर शंका ज़ाहिर करती है और चाण्डाल के जीवन की सामाजिक गत्यात्मकता से इंकार करती है³⁷ पर इस इंकार के पीछे कोई खास वजह नहीं बताती है मृच्छकटिकम् का भारत हो या पूर्व मध्यकालीन कल्हण का भारत हो यह स्पष्ट है कि राजसत्ता और राजनीति सभी वर्गों के योग्य लोगों को गत्यात्मकता का अवसर प्रदान कर रहा था। धर्म और संस्कृति की तुलना में राजनीति में ज्यादा गतिशीलता दिखाई देती है और इस गतिशीलता का फायदा अछूत वर्गों को भी मिलता दिखाई देता है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में आए संक्रमण का प्रभाव चाण्डालों के जीवन पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप उनके जीवन में दोनों प्रकार की गत्यात्मकता आई। स्मृतिकार जहाँ कई नवीन समूहों को अछूतों की श्रेणी में शामिल कर रहे हैं और उन पर हजारों प्रकार के प्रतिबंध लगा रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ समाज उनके द्वारा बनाए गए व्यवस्थाओं के खिलाफ खड़ा दिखाई देता है खासकर राजसत्ता। स्कंदपुराण की मातंग की कहानी तथा राजतरंगिणी की हंसी आदि की कहानी न केवल अछूतों के जीवन की गतिशीलता या गत्यात्मकता की कहानी कहता है बल्कि स्मृतिकारों द्वारा बनाए गए सामाजिक व्यवस्था पर भी सवाल खड़ा करता है। यद्यपि यह गत्यात्मकता सामुदायिक ना होकर व्यक्ति विशेष तक ही सीमित थी परंतु इसने समाज को प्रेरित किया जिसके कारण राजशाही/प्रशासन इस गतिशीलता के सबसे बड़े वाहक बने। ऐतिहासिक स्रोतों में इस प्रकार के कई और संदर्भ होने की पूर्ण संभावना है। यह सारे संदर्भ अछूतों के एक अलग इतिहास का पुनर्निर्माण करते हैं जिन्हें अभी भी मुख्यधारा के इतिहास में शामिल करना बाकी है। इतिहासकारों को इस बात पर भी ध्यान देने की जरूरत है कि स्मृतिकारों द्वारा लगाए गए प्रतिबंध और शुद्धिकरण के तरीके, यह बताने का प्रयास हैं कि समाज ब्राह्मणवादी व्यवस्था को जाने-अनजाने, दोनों स्थितियों में, मानने से इंकार कर रहा है। परिणामस्वरूप स्मृतिकारों को नए-नए धार्मिक प्रतिबंध और प्रायश्चित का गठन करना पड़ रहा है ताकि समाजिक गत्यात्मकता और तरलता को रोका जा सके। उदाहरणस्वरूप कई ब्राह्मण चाण्डालों के व्यवहार और पेशा अपना रहे थे जिसके कारण वशिष्ठ स्मृति इन्हें ब्रह्म-चाण्डाल की संज्ञा देती है³⁸ नए-नए धार्मिक प्रतिबंध और प्रायश्चित पूर्व

मध्यकाल के सामाजिक गत्यात्मकता के परिचालक हैं, जिसके द्वारा सामाजिक विविधता स्थापित हो रही थी ना कि समाज कल्युग जैसे कोई 'संकट' की ओर बढ़ रहा था।

संदर्भ

1. रामशरण शर्मा, प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, भारतीय ऐतिहासिक पुनर्निर्माण, दिल्ली माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2011, संख्या 217।
2. विवेकानंद झा के अलावा, रामशरण शर्मा, वी.एन.एस. यादव, आर.एन. नंदी, चित्रलेखा गुप्ता, यामाजाकी जिनीची, माइकल अक्टार तथा अन्य भी अछूतों का उल्लेख अपनी पुस्तकों तथा लेखों में किया है।
3. विवेकानंद झा, चाण्डाल अनटचेबिलिटी एंड कास्ट इन अर्ली इंडिया, प्राइमस बुक्स, दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या 62-73।
4. बक कुनबे अविमारक, मेहरचंद लक्ष्मणदास पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, 1986, पृष्ठ संख्या 15, 117.
5. यामाजाकी जिनीची, द स्ट्रक्चर ऑफ एनसेंट इंडियन सोसाइटी, द टोयो बुनको टोक्यो, 2005, पृष्ठ संख्या 233.
6. माइकल अक्टार, रूल्स ऑफ अनटचेबिलिटी इन एनसेंट एंड मिडिल लॉ बुक्स : हाउस हॉल्डर्स, कॉर्पोरेशंस एंड और ऑस्पीशीशीयसेनेस, इंटरनेशनल जनल ऑफ हिंदू स्टडीज, वॉल्यूम 6, संख्या 3, 2002, पृष्ठ संख्या 246.
7. वही, पृष्ठ संख्या 243
8. के.एच. ध्रुव, मुद्राराक्षस, ओरिजिनल बुक सप्लाई एजेंसी, पुणे, 1923, पृष्ठ संख्या 12, 152, 158.
9. मृच्छकटिकम्, X.21.
10. मृच्छकटिकम्, X.1.
11. एम.आर. काले, मृच्छकटिकम्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या 404.
12. चित्रलेखा गुप्ता, सोशल प्रोसेस : मोइस एण्ड पैटन्स ऑफ सोशल चेंजेज इन अर्ली इंडिया, द प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, वॉल्यूम 60, 1999, पृष्ठ संख्या 29.
13. मृच्छकटिकम्, X.12.
14. मृच्छकटिकम्, X.7.
15. बक कुनबे, अविमारक, मेहरचंद लक्ष्मणदास पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, 1986, पृष्ठ संख्या 45.
16. वही, पृष्ठ संख्या 30.
17. मृच्छकटिकम्, X.22.
18. गंगा सागर राय, मालतीमाधव, चौखंवा विद्याभवन, वाराणसी, 2014, पृष्ठ संख्या 197.
19. रामशरण शर्मा, प्राचीनता का मध्ययुगीनता में परिवर्तन - भारतीय इतिहास : एक पुनर्विचार, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2011, पृष्ठ संख्या 195.
20. एम.आर. काले, मृच्छकटिकम्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या

21. अत्रि स्मृति, 201.
22. चित्रलेखा गुप्ता, सोशल प्रोसेसेस नोट्स एंड पैटर्न्स ऑफ सोशल चेंज इन अर्ली इंडिया प्रोसीडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1999, वॉल्यूम 60, पृष्ठ संख्या 39.
23. अत्रि स्मृति, 183.
24. समव्रत स्मृति, 149.
25. समव्रत स्मृति, 150-51.
26. अत्रि स्मृति, 260.
27. उसना स्मृति, 72.
28. यम स्मृति, 20.
29. अत्रि स्मृति, 21.
30. जी.वी. तगारे, स्कंदपुराण, भाग-13, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003, पृष्ठ संख्या 211-215.
31. एम.ए. स्टैन, कल्हण राजतरणिणी, वॉल्यूम 1, बुक 5, वेस्टमिंस्टर, 1900, पृष्ठ संख्या 227-28.
32. विमेन एंड पावर : अर्ली मीडिएवल कश्मीर में देविका रंगचारी ने जहाँ शाही और गैर शाही औरतों का जिक्र करती हैं जिन्होंने राजसत्ता में अपनी भूमिका निभाई और शक्ति प्रदर्शन किया। इस लेख में रंगा और उसकी बेटी हंसी की कहानी का ना होना मेरे लिए आश्चर्य की बात थी। देविका रंगचारी 'विमेन एंड पावर : अर्ली मीडिएवल कश्मीर' उपिंदर सिंह 'रिथिकिंग अर्ली मीडिएवल कश्मीर', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2012, पृष्ठ संख्या 189-208.
33. सी.एच. टावनी, द कथासरित्सागर, वॉल्यूम-2, कलकत्ता, 1881, पृष्ठ संख्या 488-496.
34. राजतरणिणी, पञ्चम पाठ, 73-120.
35. मैने भी अपनी पुस्तक में तुगा के बहादुरी का जिक्र किया है, विजया लक्ष्मी सिंह, विमेन एंड जेंडर इन एनसीएंट इंडिया : स्टडी ऑफ टेक्स्ट एंड इनस्क्रिप्शंस, आर्यन बुक्स इंटर्नेशनल, न्यू दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या 99
36. एम.ए. स्टैन, कल्हण राजतरणिणी, वॉल्यूम 1, बुक 5, वेस्टमिंस्टर, 1900, पृष्ठ संख्या 105-08.
37. चित्रलेखा गुप्ता, सोशल प्रोसेसेस : नोट्स एंड पैटर्न्स ऑफ सोशल चेंज इन अर्ली इंडिया प्रोसीडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1999, वॉल्यूम 60, पृष्ठ संख्या 39.
38. वशिष्ठ स्मृति, पाठ-6.

-प्रो. विजया लक्ष्मी सिंह

इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

-डॉ. प्रेम कुमार

एसोशिएट प्रोफेसर
इतिहास विभाग,
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दू कोड बिल

—डॉ. संजीव कुमार गौतम

स्वतन्त्र भारत देश की शासन व्यवस्था चलाने के लिये बनाये जाने वाले भारतीय संविधान की प्रारूप समिति का अध्यक्ष बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर को चुना गया तो उन्होंने सर्वप्रथम सभी भारतीयों के लिए कुछ मूलभूत अधिकारों को संवैधानिक दर्जा देने के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी थी। इसके साथ-साथ उन्होंने देश की सभी महिलाओं को पुरुषों के सामान बराबरी का दर्जा देने के कार्य को भी अपनी प्राथमिकता में सर्वोपरि रखा था क्योंकि हिन्दू विधि-विधान के अनुसार भारतीय महिलाओं को पूरी तरह अधिकारविहीन करके उन्हें शोषण का पात्र¹ बना दिया था। इतना ही नहीं, इन महिलाओं को समाज व्यवस्था के शूद्र वर्ण में समाहित कर दिया गया था।² मनुस्मृति में महिलाओं को प्रत्येक दशा में पुरुष के अधीन अपना सम्पूर्ण जीवन जीने का प्रावधान कर दिया गया था।³ बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने भारत देश को पुनः गौरवशाली बनाने के उद्देश्य से सबके लिये स्वतन्त्रता, बराबरी तथा आपसी भाईचारा को भारतीय संविधान की आत्मा में स्थान दिया तथा स्वतन्त्र भारत के प्रथम विधि मंत्री ने महिलाओं को प्रत्येक दशा में स्वाभिमान के साथ जीने का अधिकार देने वाले समस्त प्रावधानों को हिन्दू कोड बिल के रूप में लिपिबद्ध किया। इस बिल को भारतीय संसद में पास कराने के लिये एक कानून मंत्री के रूप में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने जी जान से कोशिश की थी। लेकिन देश की पुरातनवादी सामाजिक व्यवस्था के कट्टर समर्थकों द्वारा संसद व संसद के बाहर इस हिन्दू कोड बिल का तीव्र विरोध किये जाने के कारण यह विधेयक संसद में पास नहीं हो सका। इससे अत्यन्त दुःखी होकर बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने 27 सितम्बर, 1951 को अपने कानून मंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया था।⁴

हिन्दू धर्म के सामाजिक कानूनों का अध्ययन करने के लिये 1941 में भारत सरकार द्वारा श्री बी. एन. राव समिति का गठन किया गया और इस समिति ने गंभीर अध्ययन के बाद पाया कि समाज में सभी लोगों विशेषकर महिलाओं के स्वतंत्रता व समानता के अधिकार के साथ जीवन यापन करने के लिये पुराने हिन्दू कानूनों में मूलभूत बदलाव करना अनिवार्य है। इसलिये बी. एन. राव के नेतृत्व में गठित इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में भारत सरकार से जो सिफारिशें की, उनमें भारतीय समाज से संबंधित पुराने कानूनों को पूर्ण समाप्त अथवा बदलाव करके सभी विशेषकर महिलाओं को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा समानता के साथ जीने का अधिकार देने वाले कानून को बनाकर उसे सख्ती से लागू करना जैसी प्रमुख

सिफारिश थी। भारत सरकार ने सर्वप्रथम इस महत्वपूर्ण रिपोर्ट का अध्ययन करने के लिये चयन समिति के अध्यक्ष तथा उसके सभी 16 सदस्यों के पास भेज दिया था। इस चयन समिति में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर भी शामिल थे। इस चयन समिति के अध्यक्ष को अपनी अन्तिम रिपोर्ट 1948 में प्रस्तुत करनी थी।

31 अगस्त, 1948 को बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का अत्यंत चुनौतीपूर्ण कार्य हिन्दू कोड बिल को संसद में पास करा कर स्वैधानिक स्वरूप प्रदान करना था और जब चयन समिति द्वारा इसे स्वीकार करने और फिर संसद में बहस करने के लिये संसद सदस्यों को सूचित किया गया तो प्रारम्भ में पुरुषवादी अधिकारों के पोषक संसद सदस्यों ने हिन्दू कोड बिल के स्वरूप पर कड़ा विरोध⁵ जताया। इन संसद सदस्यों की दलील थी कि हिन्दू के स्थान पर संसद द्वारा पास होने वाला हिन्दू कोड बिल एक विशेष जाति के लोगों पर ही लागू होगा क्योंकि सन् 1930 में पारित एक कानून में परिभाषित किया गया है कि हिन्दू कानून में बौद्ध, सिक्ख तथा जैन समुदाय के लोगों को नहीं शामिल किया गया और यह हिन्दू कोड बिल हिन्दूओं के अलावा बौद्ध, सिक्ख व जैन समुदाय के लोगों पर भी लागू होना था। संसद सदस्यों का हिन्दू कोड बिल पर भारी विरोध के कारण चयन समिति कोई फैसला नहीं ले सकी इसलिये बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने ही 24 फरवरी, 1949 को हिन्दू कोड बिल पर प्रारंभिक भाषण दिया।⁶ उन्होंने अपने इस भाषण के माध्यम से हिन्दू कोड बिल की प्रमुख विशेषताओं को सबके सामने रेखांकित किया तथा इन रेखांकित विशेषताओं में उन्होंने महिला विवाह अधिनियम, हिन्दू महिलाओं का पैतृक संपत्ति में अधिकार अधिनियम जैसे बिन्दुओं को विशेष रूप से रेखांकित करते हुए कहा कि कट्टरपंथी सदस्य अपने धर्म के अनुसार सही-गलत सोचने के लिये स्वतन्त्र हैं, परन्तु अनेक आशाओं से भरपूर सुधारवादी व्यक्ति किसी धर्म का अंधानुकरण नहीं कर सकता। वह हमेशा कारण तथा दशाओं पर ध्यान केन्द्रित करता है।

26 जनवरी, 1949 को जब नया भारतीय संविधान अपने अस्तित्व में आया और इस नये संविधान में सबको बराबरी का अधिकार देने की गारंटी देने वाले अनुच्छेद 14, 15 तथा 16 की व्यवस्था की गयी तो कभी हिम्मत न हारने वाले बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने एक बार पुनः हिन्दू कोड बिल को कानून का रूप देने के लिए जोरदार कोशिश की तथा 05 फरवरी, 1951 को इस बिल का बहस के लिये सदन के पटल पर रखवाया⁷ तथा 06 फरवरी, 1951

को इस बिल को पास कराने के लिए बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने जोरदार हस्तक्षेप⁸ किया जिसके कारण हिन्दू कोड बिल पर बहस अगले तीन दिनों तक लगातार चलती रही परन्तु इस बहस से कोई सार्थक नतीजा नहीं निकला, क्योंकि अचानक 09/02/1951 को सदन से घोषणा कर दी गयी कि यह बिल संसद के अगले सत्र तक स्थगित किया जाता है।⁹ हिन्दू कोड बिल के मुद्रदे पर संसद में लगातार चली 3 दिनों की बहस बेनतीजा रहने का कारण यह था कि कट्टरपंथी हिन्दूनेता पण्डित ठाकुरदास भागव, सिक्ख नेता सरदार हुक्म सिंह ने हिन्दू कोड बिल का यह कहते हुये तीव्र विरोध किया था कि यह बिल सदियों से चली आ रही हमारी संस्कृति को नष्ट कर देगा, जबकि एक अन्य नेता पंजाब रवि देशमुख का यह कहना था कि इस सदन को देश के लोगों का जनमत हासिल नहीं है अतः यह हिन्दू कोड बिल इस सदन में पास नहीं हो सकता।

संसद का शीतकालीन सत्र का समापन 09 फरवरी, 1951 तो हो गया परन्तु हिन्दू कोड बिल का मुद्रदा बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं बल्कि सामान्य जन के दिलों दिमाग में छा गया तथा इसी दौरान हिन्दू कोड बिल के विरोधी पक्ष के किसी लेखक द्वारा ‘ईब्ज वीकली’ के महिला मासिक पत्र लेख में देश की महिलाओं के बारे एक लेख लिखा गया और इस लेख में यह सिद्धान्त प्रतिपादित करने की कोशिश की गयी कि बौद्ध धर्म के कारण भारतीय महिलाओं का पतन हुआ था। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने महिलाओं के संबंध में लिखे गये इस शारारतपूर्ण लेख का जवाब बड़े ही तार्किक ढंग से “राइज एण्ड फाल ऑफ द हिन्दू वीमेन” नाम के शोध लेख के माध्यम से दिया और उनका यह शोध लेख विश्व प्रसिद्ध महाबौद्ध नामक पत्रिका में 1951 में छापा था।¹⁰ अपने इस लेख के माध्यम से बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने बताया कि बौद्ध काल में भारतीय महिलाओं को जो स्वतंत्रता मिली थी। उसे पुरुषवादी व्यवस्था के पोषक मनु ने समाप्त किया था।¹¹ महात्मा बुद्ध ने महिलाओं को परिव्राजक अथवा भिक्षुणी होने के लिये जो अनुमति दी थी उससे महिला को विद्या प्राप्त करने की आजादी मिली थी साथ-ही-साथ उसे आत्मोन्नति की भी आजादी प्राप्त हुयी।¹² तथा इसका सटीक परिणाम यह हुआ कि सारे समाज में महात्मा बुद्ध के इस क्रान्तिकारी कार्य से भारतीय नारियों को आजादी तथा सम्मान के साथ जीने का प्रथम बार अधिकार भी मिला था।¹³ परन्तु पुरुषवादी सोच के प्रतीक मनु ने बौद्ध धर्म में जाने वाली महिलाओं के प्रवाह को रोकने के लिये उन पर विभिन्न प्रकार के बन्धन

की बेड़ियाँ (रोक) लगा दी, जिसके कारण यह भारतीय महिलाएँ गुलामी की बेड़ियों से बुरी तरह जकड़ गयी।¹⁴ बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने 10 अगस्त, 1951 को प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को पत्र लिखकर सूचित किया कि उनकी तबियत लगातार खराब होती जा रही है इसलिये 16 अगस्त से 01 सितम्बर, 1951 तक हिन्दू कोड बिल को बहस के लिये सदन के पटल पर रखा जाये और फिर उसे संसद से पास करा लिया जाये।¹⁵ बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के इस पत्र के जवाब में प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने उन्हें इन्तजार करने की राय दी थी क्योंकि वह इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे कि संसद में पेश किये जाने वाले इस हिन्दू कोड बिल को कट्टरपंथी हिन्दूओं ने बहुत ही संवेदनशील मुद्रा बना दिया है। सितम्बर, 1951 के प्रथम सप्ताह में प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने स्वयं कांग्रेस पार्टी के संसदीय दल की सभा में हिन्दू कोड बिल को शीघ्रता के साथ संसद में पास कराने के लिये कहा, क्योंकि संसद का यह अन्तिम सत्र था।¹⁶ जबकि कांग्रेस पार्टी के अधिकतर संसद सदस्यों की राय थी कि इस ‘हिन्दू कोड बिल’ को तब तक सदन के पटल पर न रखा जाये जब तक नयी संसद का गठन हो जाये। इन सदस्यों ने हिन्दू कोड बिल पर अपना स्वतन्त्र मत देने की राय भी दी थी तथा ऐसी दशा में हिन्दू कोड बिल को सितम्बर, 1951 के प्रथम सप्ताह में सदन के पटल पर नहीं रखा जा सका।¹⁷ इसके बाद कांग्रेस पार्टी द्वारा बुलायी गयी सांसदों की सभा में फैसला किया गया कि हिन्दू कोड बिल के दो अनुच्छेदों महिला विवाह अनुच्छेद तथा विधवा विवाह अनुच्छेद को 17 सितम्बर, 1951 को संसद के सदन पटल पर रखा जाये,¹⁸ जबकि हिन्दू कोड बिल के शेष अनुच्छेदों महिला संपत्ति अनुच्छेद आदि को संसद की कार्यवाही में समय शेष रहने की दशा में सदन पटल पर रखा जाये।¹⁹

सितम्बर, 1951 का तृतीय सप्ताह तथा दिनांक 17/09/1951 को भारतीय संसद का सबसे महत्वपूर्ण दिन आ ही गया जब संसद के चलाऊ सत्र में हिन्दू कोड बिल के प्रत्येक बिन्दू पर बहस प्रारम्भ हुई तथा इस समय संसद का वातावरण काफी तनावपूर्ण था।²⁰ इस तनावपूर्ण वातावरण के कारण पूरा सदन दो भागों में स्पष्ट विभाजित हो चुका था, क्योंकि एक तरफ एन. वी. गाडगिल, हृदय नारायण कुंजरू तथा कुमारी जयश्री जैसे सदस्य हिन्दू कोड बिल का पुरजोर समर्थन कर रहे थे, तो वहाँ दूसरी ओर श्यामा प्रसाद मुखर्जी, मदन मोहन मालवीय तथा स्वयं राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जैसे लोग इस हिन्दू कोड बिल को

किसी भी दशा में संसद में पास न होने देने के लिये कोई भी सीमा लांघने को तैयार थे। हिन्दू कोड बिल पर चल रही बहस में भाग लेते हुए डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा कि हिन्दू कोड बिल के पास होने से हिन्दुओं की गौरवशाली संस्कृति का संपूर्ण ढाँचा खण्ड-खण्ड हो जायेगा, साथ ही साथ इससे हिन्दुओं की सार्वभौमिक जीवन पद्धति तथा चरित्र बल समाप्त हो जायेगा।²¹ इसी क्रम में मदन मोहन मालवीय ने भारत सरकार को खुली चेतावनी दी कि वह हिन्दू कानूनों के ताने-बाने से छेड़खानी करने की कोशिश न करे।²² पंजाबराव देशमुख जैसे नेता ने भी इस हिन्दू कोड बिल का यह कहते हुए विरोध किया कि नया जनमत के तैयार होने पर ही हिन्दू कोड बिल को संसद से पास कराया जाये।²³ सरदार भूपेन्द्र सिंह मान तथा राम नारायण जैसे संसद सदस्यों ने भी हिन्दू कोड बिल के विरोध में अपनी आवाज बुलांद की थी।²⁴ वहाँ हिन्दू कोड बिल की बहस में भाग लेते हुए एन. वी. गाडगिल ने कहा कि हिन्दू कोड बिल को संसद में पास कराना समय की मांग है तथा इस बिल से भारतीय महिलाओं की नैतिकता को बल मिलेगा।²⁵ वहाँ हृदय नारायण कुंजरू तथा कुमारी जयश्री जैसे संसद सदस्यों ने हिन्दू कोड बिल के समर्थन करते हुए इस बहस में भाग लिया था।

संसद के बाहर भी हिन्दू कोड बिल के मुद्रदे पर पक्ष और विपक्ष में दो खेमा बन गये। इनमें से एक गुट मदन मोहन मालवीय के नेतृत्व में हिन्दू कोड बिल का तीव्र विरोध करके अपने पक्ष मजबूत कर रहा था, तो वही दूसरा गुट कुमारी पी. नायडू के नेतृत्व में हिन्दू कोड बिल के पक्ष में लोगों का समर्थन जुटा रहा था।²⁶ इस प्रकार संसद के बाहर व भीतर हिन्दू कोड बिल के मुद्रदे पर बहस को बिना वजह लंबा खींचा जा रहा था। इस दोरान हिन्दू कोड बिल का पुरजोर विरोध कर रहे सदस्यों ने प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के अनुरोध को भी नजरअंदाज कर दिया था।²⁷ बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने अन्यत कटुतापूर्ण वातावरण में हिन्दू कोड बिल पर हुई तीन दिनों की बहस का जवाब देते ही तार्किक तरीके से 20 सितम्बर, 1951 को संसद के अन्दर दिया। अपने जवाब की शुरूआत करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दू कोड बिल के द्वितीय अनुच्छेद पर ही नहीं, बल्कि संपूर्ण हिन्दू कोड बिल पर विभिन्न वक्ताओं ने प्रमुख रूप से एक ही बिन्दु को आगे बढ़ाया, जबकि इसकी वास्तव में कोई आवश्यकता ही नहीं थी। विभिन्न वक्ता बताते हैं कि जब प्राचीन समाजों में रोम, ग्रीस तथा मिस्र देश का समाज नष्ट हो गया, लेकिन प्राचीन हिन्दू समाज अपने पुराने अस्तित्व में बना हुआ है तथा इसलिए

कि इसका कानून व समाज का ढाँचा अच्छा ही है लेकिन यहाँ पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या इसका अस्तित्व ही काफी है या फिर उसे और अधिक अच्छा बनाने की आवश्यकता है। हमें विचार करना चाहिए कि हिन्दू समाज का अपने अस्तित्व में बने रहना भी स्वयं में अस्तित्व से जु़झने के समान है।²⁸ जहाँ एक योद्धा अपने विरोधियों से युद्ध में सामना करके अपने अस्तित्व के लिए विजय प्राप्त करता है²⁹ वहाँ एक योद्धा अपने शत्रुओं का सामना करने के लिए से युद्ध में जाता है तथा अपने विरोधी का सामना किये बिना ही एक डरपोक की तरह भाग आना भी उसे स्वयं को अस्तित्व में बनाये रखने से प्रेरित है।³⁰ इस प्रकार एक योद्धा युद्ध में विजय प्राप्त करके अपना अस्तित्व बनाये रखता है, जबकि दूसरा एक कायर की भाँति युद्ध से भागकर अपना अस्तित्व बचाता है। वस्तुतः इन दोनों में आप को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए कौन सा तरीका पसन्द है? हमारे दोस्त बहस के दौरान मेरे कथन को हमेशा भूल जाते हैं लेकिन जब मैं भारतीय इतिहास का विश्लेषण करता हूँ तो मैं पाता हूँ कि हम एक व्यक्ति के रूप में स्वयं को अस्तित्व में बनाये रखने के लिए समय-समय पर दूसरों को साम, दाम, दण्ड और भेद नीति से अपने नियन्त्रण में लाते हैं। संसार के बहुत से देशों तथा समुदाय युद्ध में नष्ट होते हैं तथा कुछ समय बाद वे दूसरे देशों के लोगों को हराकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की कोशिश करते हैं, लेकिन इस देश में ऐसा कोई सच नहीं देखता हूँ।³¹ अतः यहाँ के संदर्भ में मेरा मुख्यतः तर्क यह है कि हम जिस जगह रहते हैं। वहाँ एक बढ़िया सामाजिक ताना-बाना के अभाव में हम इतिहास में जैसेनैसे अपना अस्तित्व को तो बनाये रखने में सफल तो हो जाते हैं, परन्तु अपना अस्तित्व बनाये रखने की कोशिश में दूसरे समाज के लोग इतिहास बन जाते हैं।³² इसी क्रम में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर आगे तर्क के साथ कहते हैं कि डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी अपने भाषण में सच ही कहते हैं कि हिन्दू समाज बहुत अधिक प्रगतिशील समाज है जिसमें महान् सुधारक गौतम बुद्ध को भी अपने में समाहित किया है और गौतम बुद्ध के समस्त सिद्धान्तों को हिन्दू समाज ने अंगीकार किया है। निसदेह, हिन्दू समाज की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि हिन्दू समाज उन विशेषताओं को भी अपने में समाहित कर लेता है जो उसके आधारभूत सिद्धान्तों से बिल्कुल भी मेल नहीं खाते हैं, परन्तु यहाँ पर मेरा मुख्य तर्क यह है कि क्या समाज का विभिन्न समुदायों के सिद्धान्तों को अपने में समाहित करने के लिये हिन्दू समाज का ढाँचा बदल चुका है?³³ गौतम बुद्ध के उपदेशों

का मूलाधार समानता है तथा इसलिये उन्होंने हिन्दू समाज की आत्मा चतुर्थ वर्ण व्यवस्था का कठोर विरोध किया था।³⁴ इसके अलावा वह वेदों के प्रति अटूट अविश्वास रखते थे और इसके पीछे गौतम बुद्ध का तर्क यह था कि वेद ऐसी पुस्तक है जिसमें दिये गये विवरण पर तर्क करने की क्षमता बिल्कुल भी नहीं है।³⁵ गौतम बुद्ध अहिंसा में विश्वास करते थे, जबकि ब्राह्मण समाज कभी भी तर्क को स्वीकार करने की हिम्मत नहीं करता तथा समानता के अधिकार का पुरजोर विरोध करता है।³⁶ वस्तुतः यही सर्वोत्तम कारण है कि हिन्दू समाज अपने ढाँचे में बिल्कुल भी बदलाव नहीं लाना चाहता और वह उसी रूप में अपना अस्तित्व रखना चाहता है जिस अस्तित्व में वह शताब्दियों पहले था।³⁷

हम बहुत वर्षों से बड़ी उत्सुकता से इंतजार कर रहे हैं कि हिन्दू समाज में सबको अपने समाहित करने के नैतिक सिद्धान्त के तहत उन्हें समाहित करेगा, जिन महापुरुषों का जन्म इस देश में हुआ था। दूसरे देशों में हुआ है। हिन्दू समाज का सामाजिक ढाँचा बदलना ही चाहिये परन्तु संसद इस मुद्रे पर पूर्ण रूप से निराश हो चुकी है कि हिन्दू समाज अपने इस पुराने सामाजिक ढाँचे में बदलाव कभी नहीं करेगा। तथा महिलाओं तथा शूद्रों को सम्मान पूर्ण जीवन जीने के लिए हिन्दू समाज अपना मूलभूत सामाजिक ढाँचा में कभी भी परिवर्तन करने की हिम्मत नहीं करेगा।³⁸ अतः इस रुद्धिवादी सोच से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है कि हिन्दू समाज के पुराने ढाँचे में समय की मांग के मद्देनजर परिवर्तन कर दिया जाये।

हमारा दूसरा तर्क यह है कि जब हम सदन का नेतृत्व करते हैं, तब हम कोई योजना नहीं रखते हैं। हमारा कोई सिद्धान्त नहीं होता। हम कानून कार्यवाही में कुछ भी ज्ञान नहीं रखते तथा ऐसे में हम केवल पश्चिमी देशों की नकल ही करते दिखायी देते हैं और ऐसा इसलिये होता है कि पश्चिमी देशों में केवल एक पत्नी और पति रखने की परंपरा है परन्तु वहाँ कुछ अच्छे सिद्धान्त बनाने की कोशिश कर रहा है परन्तु हमारे देश में आगे बढ़ने के लिए न कोई सटीक योजना है और न ही ऐतिहासिक उदाहरण है यहाँ तो वह राम-सीता की कहानी, दशरथ की कहानी तथा कृष्ण लीला कहानी आदि हैं, जिन्हें लोग एक-दूसरे को सुनाते हैं तथा इन सब पर मैं कोई टीका-टिप्पणी नहीं करूंगा क्योंकि इसके लिये सदन सर्वोच्च अधिकार रखती है।

हिन्दू कोड विल पर हुई बहस का जवाब को आगे

बढ़ाते हुये बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि यह मेरी ही सोच का परिणाम था कि भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व' के सिद्धान्त को हमारे संविधान की आत्मा मानी गयी है तथा इसलिये हमारा यह उत्तरदायित्व बनता है कि भारतीय संविधान की आत्मा के सिद्धान्त को प्रभावी रूप से देश में लागू करने के लिए हिन्दू समाज के स्वरूप का हम पहले गहराई से परीक्षण करें तथा संविधान के अनुसार संस्था के सिद्धान्तों में मूलभूत परिवर्तन³⁹ करें। साथ ही साथ देश में मौजूद महिला विवाह संबन्धी के संस्कारों पर गंभीरतापूर्ण विचार करें, यद्यपि मैंने इस सबके लिये अपने मस्तिष्क को पूरी तरह तैयार कर लिया है कि जो व्यक्ति स्वतन्त्रता तथा समानता में पूर्ण विश्वास रखता है वह महिला विवाह संबन्धी संस्कारों के बारे में गंभीरतापूर्ण अवश्य ही सोचेगा।⁴⁰ वैसे, आदर्श विवाह संस्कार की इन शब्दों विवेचना करते हैं, "बहुपत्नी प्रथा कभी समाप्त न होने वाली महिला दासता को जन्म देती है क्योंकि बहुपत्नी प्रथा की वजह से स्त्री अपनी पूरी स्वतन्त्रता अपने पति की तरफ से खो देती है।" उपरोक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए सदन में उपस्थित सभी सदस्यों से मैं पूछना चाहता हूँ कि आप सभी महिलाओं की गुलामी पूर्ण जीवन जीने का समर्थन करते हैं या फिर आप महिलाओं को इस दासता से मुक्ति दिलाना चाहते हैं।⁴¹

संसद में हुई इस प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण बहस के जवाब में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने अपने इस प्रभावशाली भाषण के द्वारा अपनी प्रभावपूर्ण शैली में हिन्दू कोड बिल का बहुत जोरदार तरीके से बचाव किया तथा उन्होंने संसद सदस्यों से कहा कि यदि आप किसी को स्वतन्त्रता देना चाहते हैं तो आप इस सत्य को नहीं नकार सकते कि स्वतन्त्रता एक अति महत्वपूर्ण कारक है और इसे आप स्वीकार भी कर चुके हो क्योंकि भारतीय संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान किये गये स्वतन्त्रता और समानता और बन्धुत्व के अधिकार की आप सभी तारीफ भी कर चुके हैं, लेकिन अब आप इस संस्था (हिन्दू कोड बिल) का विरोध क्यों कर रहे हो? आप सभी का हिन्दू कोड बिल का विरोध करने का एकमात्र कारण यह है कि आप सभी अपनी संकीर्ण मानसिकता के कारण हिन्दू समाज के रुद्धिवादिता से युक्त पुरातनवादी विचारों को नहीं छोड़ पा रहे हैं तथा हम सब पुरातनवादी विचारों की नकल ही करते हैं, जबकि मेरे फैसले के अनुसार आज के समय में इन पुरातनवादी विचारों को किसी के लिये भी अपने व्यवहार में ला पाना असंभव है क्योंकि इन पुरातनवादी विचारों का

कोई वैज्ञानिक आधार है ही नहीं।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. मनुसंहिता में स्पष्ट कहा गया है कि महिला (स्त्री) कभी भी स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि बचपन में उसे अपने पिता, युवावस्था (शादी के बाद) उसे अपने पति तथा वृद्धावस्था में उसे अपने बेटों के अधीन ही रहना है। (एम.एस.वी., 148)
2. हिन्दू विधि संहिता के अनुसार महिलाओं को शूद्र वर्ण में रखकर उन्हें बुद्धिहीन, दासी के रूप में स्थान दिया है तथा उन्हें किसी भी हालात में स्वतन्त्र जीवन जीने अथवा कुछ नया सोचने का अधिकार नहीं था। (एम.एस.वी., 148)
3. महिलाओं के बारे में यह परंपरा बना दी गयी कि उन्हें अपने पति को ही भगवान मानकर उनकी पूजा करनी चाहिये, इसके अलावा उन्हें कुछ भी नहीं सोचना चाहिये। (एम.एस.वी., 154)
4. धनन्जय, कीर: डॉ. अम्बेडकर, लाईफ एण्ड मिशन, पापूलर प्रकाशन, मुम्बई, 1977, पृ. 434-435
5. कॉस्टीट्यूट असेम्बली आफ इण्डिया (लेजिस्लेटिव) डिवेट्स, 31 अगस्त, 1948, वाल्यूम प्टनम्बर I, पार्ट II, पृ. 775-842
6. सी.ए. ॲफ इण्डिया (लेजिस्लेटिव) डिवेट्स, 24 फेब्रुअरी, 1949, वाल्यूम II, पार्ट II, पृ. 775-581
7. राजकुमार: इंसाइक्लोपीडिया ॲफ डा.बी.आर. अम्बेडकर, कामनवेल्थ पब्लिशर्स वी.बी.टी., एल.टी.डी.प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, न्यू देहली, 2016, पेज 366
8. पार्लियामेंट आफ इण्डिया डिवेट्स, 06/02/1951, वाल्यूम, नम्बर I, पार्ट II, पेज 2462-2473
9. वही, डिवेट्स 05/02/1949 एण्ड 09/02/1951, पेज 2356-2695
10. राजकुमार: इंसाइक्लोपीडिया ॲफ डा.बी.आर. अम्बेडकर, कामनवेल्थ पब्लिशर्स वी.बी.टी., एल.टी.डी., प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, न्यू देहली, 2016, वाल्यूम II, पेज 369
11. राजकुमार: इंसाइक्लोपीडिया ॲफ डा.बी.आर. अम्बेडकर, कामनवेल्थ पब्लिशर्स वी.बी.टी., एल.टी.डी., प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, न्यू देहली, 2016, वाल्यूम II, पेज 369
12. वही
13. वही
14. वही
15. वसंतमून: डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 05 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110032, 1991, पृ. 192
16. राजकुमार: इंसाइक्लोपीडिया ॲफ डा.बी.आर. अम्बेडकर, वाल्यूम क8, कामनवेल्थ पब्लिशर्स, वी.बी.टी., एल.टी.डी., प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, न्यू देहली-1100003, पृ. 372
17. वही
18. वही
19. वही
20. पार्लियामेंट ॲफ इण्डिया डिवेट्स 17/9/1951-19/09/1951, वाल्यूम XV, पेज 2674-2939

21. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने इस हिन्दू कोड बिल के संदर्भ में
यहाँ तक कह दिया कि डॉ. अम्बेडकर “आधुनिक मनु
तथा याक्षरत्वस्य” बनना चाहते हैं।
22. पार्लियामेंट ऑफ इण्डिया डिवेट्स 17/09/1951-
19/09/1951, वाल्यूम XV, पेज 2674-2930
23. राजकुमारः इंसाइक्लोपीडिया ऑफ डा.बी.आर. अम्बेडकर,
वाल्यूम 8, कामनवेल्थ पब्लिशर्स वी.बी.टी., एल.टी.डी., प्रह्लाद
स्ट्रीट, अंसारी रोड, न्यू देहली-1100003, पृ. 373
24. वही
25. अहीर, डी.सी. : डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड
स्पीचेस, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली-110052,
2007, पृ. 340
26. वही
27. पार्लियामेंट ऑफ इण्डिया डिवेट्स 17/09/1951-
19/09/1951, वाल्यूम ग्ट, पेज 1158-1162
28. अहीर, डी.सी.: डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड
स्पीचेस, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली-110052,
2007, पृ. 340
29. अहीर, डी.सी.: डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड
स्पीचेस, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली-110052,
2007, पृ. 340
30. वही
31. वही
32. वही
33. अहीर, डी.सी.: डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड
स्पीचेस, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली-110052,
2007, पृ. 340
34. वही
35. वही, पृ. 341
36. वही
37. वही
38. वही
39. वही
40. वही
41. अहीर, डी.सी. : डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड
स्पीचेस, बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली-110052,
2007, पृ. 342

-डॉ. संजीव कुमार गौतम

(अध्यक्ष इतिहास विभाग)

केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान

(सम विश्वविद्यालय)

लेह लदाख (के.शा.प्र.) 194104

Email: skgautamcibsleh@gmail.com

भीमगीत : भोजपुरी लोक में बहुजन अस्मिता का हस्तक्षेप

—धनंजय सिंह

महाराष्ट्र में भीमगीत ‘अंबेडकर के बाद की परिघटना है। यह लोक भजन से लेकर बड़े पैमाने पर तैयार किए गए कैसेट्स से विकसित हुआ है और अब रैप और पॉप गीतों तक पहुंच गया है।’ महाराष्ट्र में बहुजन समुदाय में नामकरण, मृत्यु और उत्सवों के अवसर पर गाए जाने वाले भीमगीतों की अद्वितीय परंपरा है। भीमगीतों ने अंबेडकर के संघर्षों और उनके चिंतन को सरलतम ढंग से विचित्र समुदायों के मानस में पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महाराष्ट्र के बहुजन समुदाय की परम्पराओं में अंबेडकर गुथे हुए हैं। अंबेडकर की मौजूदगी का दावा जाति-विरोधी आन्दोलन के इतिहास में महाराष्ट्र और दक्षिण के राज्यों से लेकर उड़ीसा-बंगाल तक फैल चुका है। वर्हीं पंजाब में अंबेडकर की पूर्ववर्ती परंपरा रविदास डेरों की सामाजिक आंदोलनों से बनी है। पिछले आठ-दस सालों में यू-ट्यूब पर रविदास, अंबेडकर या फिर चमार समुदाय को लेकर बने भीमगीत काफी समृद्ध हुए हैं।

पंजाब में ‘अंबेडकर फोक’ या ‘चमार पॉप’ उभरकर आया है और गिन्नी माही उसकी झँडाबरदार हैं। उनके अल्बमों में प्रमुख हैं—‘फैन बाबा साहिब दी’ (2016), डेंजर चमार 1 और 2 (2016), डाउन 2 अर्थ और डॉलर इत्यादि। भीमगीत गायक परमजीत सिंह पम्मा का कहना है कि ‘दूसरी जातियों के गाने पर क्यों नाचे जबकि हम अपनी जाति के ऊपर बने हुए गानों पर भी नाच सकते हैं। उन्हें सुन सकते हैं।’ पंजाबी भीमगीतों में आलीशान गाड़ियाँ एवं भव्य महलनुमा मकान दिखते हैं। पंजाबी बहुजनों के उभार में कनाडा, अमेरिका और यूरोप में प्रवसन की बड़ी भूमिका है और प्रवसन ने उनकी आर्थिक समृद्धि में चार चाँद लगा दिया, फलस्वरूप भीमगीत एवं अन्य कलाएँ समृद्ध हुईं। हालांकि, ‘पंजाब में दलित समुदाय में प्रतिरोध की परंपरा रही है, लेकिन इन गीतों में यह प्राइड नए तेवर और नए सौंदर्य-शास्त्र के साथ सामने आया है। मसलन, डेंजर चमार गाने में हथियारों से तुलना, दृश्य में बॉडी बिल्डर युवा, जलती आग, धातुओं के सामान आदि नया सौंदर्य-शास्त्र रखते हैं।’ भारत के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षाकृत पंजाबी दलित ज्यादा समृद्ध हैं। इसलिए उनके भीमगीतों का सौंदर्य अलग रूप में दिखता है।

भीमगीत के इतिहास की शुरुआत महाराष्ट्र से होती है। भीमगीत भी लोकगीत बन चुके हैं। लेकिन परंपरागत लोकगीत और भीमगीत में फर्क है। जहां ज्यादातर लोकगीत हिन्दू पौराणिक कथाओं एवं किसानी जीवन का उत्सव मनाते

हैं, वहीं भीमगीत में बाबा साहब अंबेडकर एवं महात्मा बुद्ध के जीवन कथाओं का उल्लेख मिलता है। उनकी जीवन-यात्रा से लेकर भारतीय संविधान निर्माण तक की कहानी पहले पहल मराठी में भीमगीतों का विषय बनी। पहले-पहल यह भीमगीत मात्र मराठी भाषा तक सीमित रहा लेकिन धीरे-धीरे भीमगीत भारत-वर्ष के हर क्षेत्रीय भाषा में गाया जाने लगा

भोजपुरी भीमगीतों में बाबा भीम की अनगिनत छवियाँ हैं। कहीं भीम हर बहुजन के घर पैदा होने वाले बालक बन गये हैं, तो कहीं किसी वर्णवादी को बौद्धिक चुनौती दे रहे हैं। कहीं नीला सूट-बूट पहने हाथ में संविधान लिए खड़े हैं तो कहीं बहुजन समाज के खेवइया के रूप में हैं। कहीं विश्वरत्न हैं तो कहीं देशरत्न हैं। कहीं भारतरत्न हैं तो कहीं बहुजन के शरीर रूप में हैं। कहीं पूरे देश के नेता हैं तो कहीं देश के मसीहा हैं। इसी तरह महात्मा बुद्ध, जोतिराव फुले, पेरियार ललई सिंह यादव, कांशीराम जैसे लोकप्रिय बहुजन नायकों के जीवन छवियों को भीमगीत दृश्यांकित करता है।

डॉ. अंबेडकर की विरासत को सहेजने वाले भीमगीत गायकों से टेलीफोनिक बातचीत सृजनशील बहुजन की सामाजिकता को सामने लाती ही है, इसके साथ डॉ. अंबेडकर इन गायकों के पास कैसे पहुंचते हैं वह भी बताती है। अनुभवी भीमगीत गायक पहले से ही हिन्दू पौराणिक कथाओं का गायन करते रहे हैं लेकिन भीमचर्चा ने उनके गायन की दिशा बदल दी है। बिरहा-शैली के भीमगीत गायक राजकुमार यादव बताते हैं, “बचपन से संगीत से लगाव था। शुरू में अपनी बिरहा गायकी में रामायण, महाभारत जैसे पौराणिक कहानियाँ गाता था लेकिन जब बाबा भीम राव अंबेडकर के जीवन के बारे में जानने-सुनने को मिला तो पता नहीं कब मेरे विचार बदल गये। आज अंबेडकर के आगे सब फेल हैं। अंबेडकर के अलावे उनके धारा के जितने भी संत-विचारक थे, उनके बारे में पढ़ना-सुनना मन को भाता गया और धीरे-धीरे मेरी बिरहा गायकी में कहानियों की दिशा बदलती गई। शोर गीतों (जो भीमगीत नहीं हैं) को छोड़कर अपने बिरहा गायकी में मुझे भीमगीत गायकी से काफी सुकून मिलता है।”

राजकुमार भीमगीतों के बारे में फक्त से बताते हैं, जबकि ढाई-तीन वर्षों से भीमगीत लिखने वाले 26 वर्षीय मनोज कुमार, जो दलित समुदाय से ताल्लुक रखते हैं, फोन पर पहले संशक्ति थे, इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अपने बारे में विस्तार से बताए जाने पर भी डरते-डरते बताते हैं—“मैं मैट्रिक तक पढ़ा हूँ। घर के हालात ठीक नहीं थे, इसलिए बेल्डिंग का काम करके घर चलाता हूँ। स्कूल

टाइम में मैंने बाबा साहेब का नाम सुना था लेकिन उनके बारे में ठीक से जानकारी देने वाला कोई नहीं था। बाबा साहेब के बारे में 6-7 साल पहले जानकारी मिलनी शुरू हुई तो सोचा कि अपने समाज में भीमगीत लिखकर जागरूकता लाया जाए। पहले भोजपुरी गीत लिखता था, लेकिन बाबा साहेब के जीवन और विचार जानने के बाद बाबा साहेब के मिशन से जुड़ना जीवन का लक्ष्य बना लिया।”

इस मिशन में मनरेगा मजदूर गुलशन कुमार भी दो सालों से अपने गीतों के माध्यम से सहयोग दे रहे हैं। जबकि ग्यारहवीं क्लास के विद्यार्थी सुधीर यादव को भोजपुरी के अन्य गीतों की अपेक्षा भीमगीत गाने पर इज्जत मिलती है। समाजशास्त्री अंतोनियों ग्राम्सी ने कहा था कि किसी भी आंदोलन की आधार एक सांस्कृतिक विचारधारा होती है। यह सांस्कृतिक विचारधारा ही किसी बड़ी राजनीतिक शक्ति का आधार होती है। बहुजन महासंघ, रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया और बहुजन समाज पार्टी से लेकर अन्य हाशिये के लोगों के लिए कई सांस्कृतिक दस्ते भी इन गीतों के माध्यम से अंबेडकरवादी विचारों का प्रचार रैलियों में करते रहे हैं।

सांस्कृतिक विचारधाराओं में मिथक की उपस्थिति सबसे ताकतवर रूप में प्रवाहित होती है। अंबेडकरवादी विचारणा मानती है कि स्थापित और आदर्श के रूप में प्रस्तुत की गयी सांस्कृतिक संरचनाओं को तोड़े बिना स्थापित प्रभुत्व को तोड़ा नहीं जा सकता। हिंदी क्षेत्र में स्वामी अशूलानन्द, चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु और ललई सिंह द्वारा शम्बूक, नाग यज्ञ और एकलव्य पर लिखे गये नाटकों को पढ़कर ब्राह्मणवाद के खिलाफ बहुजन में जागरण हुआ था जिनके प्रभाव से बिरहिया नसुड़ी यादव रामायण, महाभारत से लेकर प्रभुत्वशाली स्थानीय मिथकों को भी तार्किकता से प्रस्तुत करते थे। बिरहा गायकी में वे इतने लोकप्रिय थे कि बिरहा गाने जहाँ भी पहुंचते, वहाँ मिथकों और कर्मकांडों का धुरा उखाड़ देते। बिरहा का सबसे रुढ़ और पोंगा पक्ष यह था कि इनके अखाड़े को छोड़कर तीनों अखाड़े भले ही भक्ति, सौंदर्य और वीरता की गायकी की अपनी विशेषताओं से चारों ओर चमक बिखेर रहे हों लेकिन उनका मूल चरित्र एक ही था। तीनों बनी-बनाई सांस्कृतिक मान्यताओं और धारणाओं को कोई चुनौती नहीं देते थे।

लेकिन नसुड़ी तर्क से मिथकीय व्यक्तित्व का साधारणीकरण कर देते और लोक की निगाह में उनका मुलम्मा उतार देते। ब्रह्मा मुँह से बच्चा पैदा होने वाली कहानी को नसुड़ी अपने देसी अंदाज में पूछते थे—‘हम तो

बच्चा पैदा होने का एक ही रास्ता जानते-सुनते हैं भिया। का इहाँ बैठे लोग किसी और रस्ते के बारे में जानते हैं क्या? जनता के बीच से शोर उठता नाहीं! तब? नसुड़ी फिर उस बिरहिया से पूछते तब तू कवन दूसर रस्ता देख लेहला कनचोदऊ, बताव! बताव जल्दी नाहीं त रम्मा लाल हौ! इतने पर तो जनता नसुड़ी पर अपने को लुटा देती और बाजी ही पलट चुकी होती। नसुड़ी की भाँति परंपरागत मिथकीय गाथाओं की बहुजनवादी पाठ करने वालों में भोजपुरी बिरहा गायक काशीनाथ यादव, पारसनाथ यादव, बेचन राजभर, राजकुमार यादव, कंचन, काजल बौद्ध, सरोज त्यागी इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। इन गायकों की मजबूत, तीखी और सुरीली आवाज जाति-विरोधी आंदोलन और उसके चुनौतीपूर्ण वर्तमान और अतीत को एक साथ रखती है।

बहुजन चेतना एक वैकल्पिक सांस्कृतिक चेतना है। इस चेतना की जड़ में भारतीय हिन्दू समाज की वह संरचना है जो न केवल जाति-आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी मिली है। भीमगीत गायकों को अतीत या वर्तमान में घटित घटनाओं को सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों में व्याख्यायित करने का विकेत अपने बहुजन नायकों से मिला है। इसलिए भीमगीत अतीत में हुए स्त्री उत्पीड़न को बड़ी बारीकी एवं पैनी दृष्टि से देखता है—“दलित नारियन के हाल सुन एही देसवा में बाटे मनुवदियन से सवाल एही देसवा में/सभा बीच द्रोपदी होत रही उथारी/सुनि के पुकार दउरल अइले बनवारी/साड़ी बनके कइले कमाल एही देसवा में” गायिका सरोज त्यागी का कहना है कि यह बात वर्णवादी कहते हैं लेकिन डेढ़ सौ साल पूर्व केरल के त्रावणकोर में दलित स्त्रियों को स्तन ढकने पर स्तन के बराबर वजन का टैक्स देना (मुलाकरम) देना पड़ता था—“सामने पड़े जो पुरुष अउर बड़की जाति/दलित नारी खोल के देखावे आपन छाती/तोपला प पापी खींचे खाल एही देसवा में” इस मुलाकरम प्रथा के खिलाफ नांगेली नामक दलित स्त्री ने टैक्स चुकाने के लिए अपना एक स्तन काटकर प्रतिरोध किया था। भीमगीत अपने वर्तमान को दर्ज करते हुए प्रतिरोध कर रहा है कि आज भी दलित स्त्री को सम्मान नसीब नहीं है।

कुछ लोग बाबा साहेब की मूर्तियाँ तोड़ते हैं, उन को भीमगीत चेतावनी देता है—“बाबा साहेब के मूर्ति के तुरबे जे जबरी/कि हमार वादा बा कि नीला झंडा तोरा छाती प फहरी/देर अब कइले अत्याचार मनुवादी/हरदम करेले काहे के जातिवादी,.../पहिले से ज्यादा अब जागल मोर समाज बा।” इधर गायक बेशक वर्णवादी वर्चस्व को चुनौती देते

हुए अपने समाज को जागरूक बता रहा है परंतु उसका समाज आज भी दारू के नशे में सोया ही है। लोकगीतों में नशाखोरी की समस्या बहुत पहले से उठायी जा रही है। भिखारी ठाकुर का इस समस्या पर ‘कलजुग प्रेम’ (पिया निसइल) नाटक लोकप्रिय हुआ था। लोकगायक मुन्ना सिंह का ‘मिलल बा शराबी सैया, नसवे में चूर हे अरे’ बहुत चर्चित था। भीमगीत के चर्चित गायक तारकेश्वर राव टंडन ने अभिनय करते हुए नशाखोरी पर व्यंग्य किया है। बहुजन पत्नी पति से शिकायत कर रही है—“बैंचि दिहले लोटा बरतनावा/ सखी मोर पियक्कड़ सजनवा/बैंचि दिहले सगरो गहनवा/ सखी मोर सराबी सजनवा” पत्नी समझाती भी है कि यह तो भीमजी की देन है कि उसका पति अच्छा कपड़ा पहनता है, अंग्रेजी दारू पीता है। वो आग्रह करती है कि पति भीमचर्चा में चले। वहां अच्छी-अच्छी बातें सीखने को मिलती हैं। “सोचली इनिके लिया जाइ भीमचर्चा में, जाई के लुका गइले लाला के बगड़चा में/डर लागे नास दीहें मिसनवा/ सखी मोर सराबी सजनवा” बेबस होकर बोलती है कि बाबा साहेब इतना समझा गये हैं, फिर भी इन्हें कुछ भी समझ नहीं आ रहा है। एक तो वर्णवाद हमारा दुश्मन रहा है, ऊपर से पति की नशाखोरी परिवार को बर्बाद करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ती है। पीना ठीक नहीं है। घर की मर्यादा चली जाती है, मान-सम्मान चला जाता है, घर लूट जाता है।

वहीं दूसरी ओर बहुजन शिक्षित होकर भारतीय सर्विधान के तहत आरक्षण से नौकरी पाता है, जिसे कामयाबी के रूप में बाबा भीम की इस देन को भीमगीत बखूबी स्वीकारता है—‘भीमजी के दिल ह नौकरिया’। लेकिन बहुजन समाज के कुछेक लोग संस्कृतिकरण के बहाव में आकर बाबा भीम के एहसान को सरेआम नहीं स्वीकारते—“जय भीम कहे में, काहे लाज लाग ता/तनी कर सरम, तोहार फूटल करम/बाड़ कवना भरम/ बुझ बाबा के मरम/तोहरा जेबवा में आज जवन पैन बा/उ हमरा भीम बाबा के देन बा।” यह ऑटो ट्यून का ऑडियो गारी भीमगीत आत्मगौरव के बोध के साथ अतीत में हुए दलित उत्पीड़न की दृश्यावली भी प्रस्तुत करता है। झाड़ कमर में बंधा होता था, दर-दर ठोकर खाते थे। मर-मरके गुलामी सहते थे, आँखों से अंसुवा झर-झर गिरता था, आज भीमजी की वजह से फेसबुक चलाते हो, गोबर गणेश की पूजा करते हो, फिर भी महेश खुश नहीं होते, हमेशा कलेस में ही रहते हो। अब तो अपना परिवेश बदलो। तुम्हारे तन पर जो कपड़ा है, इन सबके लिए बाबा भीम ने कितना पापड़ बेला था! हमारे पूर्वजों की यही कहानी थी, उन्हीं के लिखे भारतीय सर्विधान

में हमें मान-सम्मान मिला है। नौकरी मिली है और आरो का पानी पीने को मिल रहा है। बाबा भीम या फिर मंडल कमीशन के बदौलत दलित-ओबीसी श्रेणी में छोटी-बड़ी सरकारी नौकरी पाने वालों में अधिकांश ऐसे लोग हैं जो डॉ. अंबेडकर या मंडल कमीशन का नाम लेना खुद की तौहीन समझते हैं। उपर्युक्त गीत इसी हीनभावना से ग्रस्त बहुजन को लक्षित करता है।

परिवार में स्त्री सशक्तिकरण का विमर्श भोजपुरी भीमगीतों में मुखर नहीं है। मिशन गायिका मालती बौद्ध की टेलीफोनिक वार्ता दलित स्त्री की स्थिति पर प्रकाश डालती है—‘मैं पिछले बारह सालों से भीमगीत गा रही हूँ। मेरे घर में सभी बाबा भीम के विचारधारा को मानते ही नहीं बल्कि समाज में जागृति लाने के लिए सक्रिय भी हैं। हम सभी पढ़े-लिखे हैं और नौकरीशुदा भी। मैं नर्स हूँ। हमने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया है। जब मैं व्याह के आयी तो गीतों के माध्यम से बाबा भीम के विचारों को अपने लोगों तक पहुँचाने के लिए घर में प्रस्ताव रखा। मेरे ससुर, वेल एजूकेटेड होने के बावजूद, ने सार्वजनिक रूप में गाने की अनुमति नहीं दी। कहा कि गाना है तो घर में गाओ, बाहर जाने की क्या जरूरत। इसके लिए मुझे और मेरे पति को घर से निकाल दिया गया।’ जब जागरूक एवं मध्यवर्गीय बहुजन घर में स्वावालंबित स्त्री के प्रति यह व्यवहार है तो फिर आम बहुजन स्त्री के प्रति किए जाने वाले बर्ताव के बारे में समझा जा सकता है। अपने रोजमर्ग की जिंदगी में भीमगीत की स्त्री अपने पति पर ही आश्रित दिखती है, वह खुद स्वावालंमित नहीं है, वह पति से ही पंचशील साड़ी की मांग कर रही है। भले ही शादी से पूर्व युवक ऐसी ही अंबेडकरवादी जीवनसाथी की चाहत रखता हो और जो बौद्ध धर्म की रस्म से विवाह करना चाहता हो—‘लड़की चाही अम्बेकरवादी।’ ऑडियो भीमगीतों में पंचशील साड़ी की चर्चा मुख्यतः स्त्री के बारे में है, लेकिन दृश्यों में स्त्री-पुरुष दोनों पंचशील टाई को गले में पहने हुए दिखते हैं—‘सईर्या पंचशील के साड़ी हमें मंगाई द, कि जय भीम लिखवाई द/धनिया का तू करदू हो कि हमके समझाई द तू हो/जाइम हम भीम चरचा करे, मत जा तू रह घरे।’

पंचशील चिन्ह भीमगीतों में एक नैतिक मूल्य बनकर आता है जिसका पालन सभी को करना चाहिए। जैसे कोरोना महामारी ने संवेदनहीन भारतीय समाज को बेपद कर दिया है, भीमगीत गायकों के लिए यह महामारी अन्ध विश्वास और कर्मकांड के विरुद्ध सन्देश के एक बहुत बड़े माध्यम के रूप में भी उभरी। बिरहा भीमगीत गायक पूछ रहा है कि कोरोना के कहर में भारत के छप्पन हजार

देवी-देवता कहाँ लुका (छुप) गए? मंदिर, मस्जिद से लेकर गुरुद्वारों में ताला लग चुका है। जहाँ खुला है, वहाँ के देवता को भी कोरोना बीमारी ने अपनी चपेट में ले लिया है। जो खुद अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं, वो हम मनुष्यों की रक्षा कैसे कर पाएंगे।

बेशक दलितों की तुलना में पिछड़ा समुदाय मनुवादी संस्कारों में ज्यादा जकड़ा हुआ है। निम्नलिखित गीत में दलित-पिछड़ा में एका नहीं होने का दर्द छलक रहा है—‘ओबीसी त बतिया बुझत नहखे/नजरी से देखला सूझत नहखे/रोजे जियते नीलाम होइहें/घरे में पंडा बोलाव ताटे/कर्मकांड करवा ताटे/देले गठरी में पइसा बाँधी के हो/इहे करे मजबूत मनुवादी के हो।’ इस ऑटो ट्यून वीडियो गीत में खड़ी कार प्राइड के रूप में उभरती है और कार के आगे डांस करता जोड़ा कर्मकांडी संस्कार पर कटाक्ष करते हुए ओबीसी समुदाय को जागरूक करने के लिए एहसास कराता है कि घर में बिना पंडा बुलाये, बिना कर्मकांड के, बिना दान-दक्षिणा दिए भी हम खुद को समृद्ध कर सकते हैं। इस तरह भोजपुरी लोकवृत्त में भीमगीत न केवल बहुजन चेतना को जागरूक करने में बल्कि गैर बराबरी पर आधारित वर्णवादी समाज को हर मोर्चे पर चुनौती देने में बहुआयामी है, जो उत्पीड़न की आह से लेकर विद्रोह के स्वर के ऐतिहासिक छवियों को दृश्यांकित करता है।

—धनंजय सिंह
सहायक प्रोफेसर
डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन गवर्नरमेंट आर्ट्स कॉलेज,
यानम, पुडुचेरी-533464

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' की कहानियों में चित्रित पहाड़ी जीवन (‘बस एक ही इच्छा’ कहानी संग्रह के सन्दर्भ में)

—डॉ. पठान रहीम खान

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' एक साथ साहित्यकार एवं राजनीतिज्ञ हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनका जन्म उत्तराखण्ड के प्राकृतिक वातावरण में होने के कारण उनकी रचनाओं में प्रकृति चित्रण, प्रकृति के गोद में रहे पहाड़ी लोगों की दिनचर्या का बखूबी चित्रण हुआ है। उन्होंने पहाड़ी लोगों की समस्याओं को अति निकट से देखा और परखा है। पहाड़ियों की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर होती है। कोई भी व्यवसाय करना वहाँ बहुत कठिन होता है। पहाड़ी इलाका होने के कारण वहाँ समतल भूमि नहीं है, बारिश होने पर वहाँ सभी जगह पानी भर जाता है और बाढ़ आने लगती है। सीढ़िनुमा खेतों के कारण वहाँ खेती अधिक नहीं हो पाती है। उनके लिए जीवन मात्र कठिन परिश्रम रह जाता है। उनके जीवन में नौकरी, चिकित्सा एवं शिक्षा का अभाव होता है। पहाड़ी क्षेत्रों में जीवन अभावग्रस्त रहता है, जिसके कारण आज लोग पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़ कर पलायन भी कर रहे हैं। गरीबी के कारण वहाँ शिक्षा का आभाव होता है। शिक्षा न होने के कारण बेरोजगारी भी बढ़ती जा रही है। सरकार की कोई भी सुविधा और योजनाएँ उन लोगों तक पहुँच नहीं पा रही हैं। विशेषतः भाषा एवं शैली के प्रयोग से रचनाओं में साहित्य आकर्षक बनता है। 'निशंक' जी अपनी रचनाओं में कथ्य के साथ-साथ विविध शैलियों का भी अति मनोरम ढंग से चित्रण किया है। यदि कोई भी विधा आकर्षक नहीं बनती है, तो पाठक उस रचनाओं के साथ जुड़ नहीं पाते हैं। इसलिए रचनाओं में कथ्य के साथ-साथ शैली पक्ष का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

पहाड़ी क्षेत्रों के अर्थव्यवस्था में उत्पादन का एक ही माध्यम है—कृषि क्षेत्र। परन्तु इसमें भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहाड़ी क्षेत्रों में भूमि ऊबड़-खाबड़ होने के कारण, वहाँ पर खेती करना भी बहुत मुश्किल होता है। पहाड़ी लोगों का पूरा भरोसा प्रकृति पर रहता है। परन्तु प्रकृति का कुछ ठिकाना नहीं कब कैसे वह अपना तांडव दिखाए,

यह किसी को नहीं पता है। यदि किसी साल हट से ज्यादा बारिश हो गयी तो, खेती पूरा नष्ट हो जाती है और किसी साल धूप ज्यादा हो गयी, तो भी फसल उत्पादन कष्टप्रद हो जाता है। चारों तरफ से देखा जाये तो, पहाड़ी इलाकों में रहना अत्यंत मुश्किल का कार्य ही है, जिसके कारण कई लोग वहां से पलायन करके शहरी अभिमुख हो रहे हैं। डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ अपनी कहानी ‘बस एक ही इच्छा’ में पहाड़ी लोगों की आर्थिक स्थिति का चित्रण किया है। इस कहानी में विक्रम का परिवार बड़ा है और उसके साथ गरीबी भी है। वह अपने परिवार की परवरिश के लिए किसी होटल में काम करने लगता है। अपने परिवार के लिए पैसे भेजता रहता है। फिर भी घर के लोग हर बार खत में लिखते हैं कि और भी पैसा भेजो, वे नहीं जानते कि विक्रम किस हालत में हैं। वह सोचता है, ‘नौकरी में लग जाऊं और कुछ पैसा कमाकर बहन की शादी करवा दूँ। उन्हें क्या पता है कि मैं यहाँ किस स्थिति में हूँ। वे तो हर बार खत में यहाँ लिखते हैं कि तुमने इस महीने इतना कम मनीआर्डर क्यों भेजा?’ इस प्रकार विक्रम अपने परिवार की आर्थिक मजबूरी को व्यक्त करता है। वह भी अपनी स्थिति को छिपाते हुए हर महीने में अपने परिवार के लिए पैसे भेजता रहता है।

इस कहानी में आर्थिक मजबूरी के कारण विक्रम के पिता उसे सही तरीके से शिक्षा दे नहीं पाते हैं, जिसके कारण उसे एक होटल में कमर तोड़ महेनत करना पड़ता है। ‘निशंक’ की ‘बस एक ही इच्छा’ कहानी में पहाड़ी लोगों की आर्थिक स्थिति का चित्रण विक्रम के जरिए हुआ है। जैसे कि—“बाबू जी मेरे पिता जी खेती-बाड़ी का काम करते हैं, मुझे आगे पढ़ाने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। एक साल घर में खाली रहा। हम चार भाई-बहन हैं, एक बहिन बड़ी है। उसकी अभी तक शादी नहीं हुई। कितनी कोशिश करते हैं, परन्तु गरीब लोग हैं न, कौन पसंद करता है, गरीब की बेटी को? दो भाई मुझसे छोटे हैं, स्कूल पढ़ने जाते हैं।” इस प्रकार इस कहानी में गरीबी सबसे बड़ी समस्या है। गरीब होने के कारण लड़की की शादी नहीं हो पाती है, क्योंकि आजकल लोगों को बहु नहीं चाहिए, पैसा चाहिए जिसमें वह समाज को अपनी हैसियत दिखा पाएं। ऐसी हीन मानसिकता रखने वाले लोगों को बदलना होगा। इस कहानी में कहानीकार निम्न वर्ग के गरीबों के प्रति उच्च वर्ग के लोगों की मानसिकता को बदलने का इशारा किया है।

इस कहानी में विक्रम अपने घरवालों को तीन साल से देख नहीं पाता है। वह किसी सुदूर प्रांत के होटल में काम

करता रहता है। अगर घर भी गया तो उसे महीने के पैसे काट लिये जाते हैं। इस कारण से वह अपने घर भी जाना नहीं चाहता है। जैसे कि “खूब याद करते हैं। चिट्ठी लिखते हैं कि घर आओ। मैं भी लिख देता हूँ कि अगले महीने तक आऊंगा, परन्तु तीन साल से वह दिन नहीं आया कि जब मैं अपने गाँव जाकर अपने भाई-बहनों को गले लगा सकूँ। बहुत मन होता है बाबू जी, भाई, बहिनों को देखने का, किन्तु अपना ही देश मेरे लिए परदेस हो गया है।”

वह बाबू जी के पूछने पर कहता है—“बाबू जी बस एक ही इच्छा है कि चाहे मैं जिस हाल में भी रहूँ, किन्तु अपने भाईयों को खूब पढ़ाऊंगा। इतना पढ़ाऊंगा कि वे एक दिन बहुत बड़े साहब बन जाएँ। चाहे मुझे कुछ न दें। मेरा क्या है? आधी जिंदगी भाईयों की लिखाई-पढ़ाई में गुजर जाएगी। उसके बाद कोई चिंता नहीं।” इस प्रकार गरीबी के कारण विक्रम अपने परिवार से ही मिल नहीं पाता है। परिवार के जिम्मेदारी के लिए संघर्ष करता रहता है। वह भाई-बहन को पढ़ाना चाहता है। इस कहानी में कहानीकार विक्रम के माध्यम से व्यक्ति का परिवार के प्रति जिम्मेदारी का चित्रण किया है। पहाड़ी लोग अपने पेट भरने के लिए कृषि करते हैं या तो जंगल से लकड़ी लाकर उसे बेच कर अपना पेट भरते हैं। यहाँ के लोगों की मुख्य जीविका पालतू पशुओं को पालना है। परन्तु पहाड़ में रहने के कारण हमेंशा यह भी डर रहता है कि कहीं खूंखार जानवर आकर उन्हें खा न लें।

डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ ने अपनी कहानी ‘याद रखूँगा’ में पहाड़ी क्षेत्र के आर्थिक जीवन, जो पालतू पशुओं पर निर्भर रहता है, का चित्रण किया है। यदि उन पशुओं को खूंखार जानवर खा लेते हैं, तो उनका परिवार आर्थिक रूप से दब जाता है। उस कहानी में ‘मैं’ के पूछने पर वह जवाब देता है—“हाँ साहब! तभी तो पाल रहा हूँ। खेती बाड़ी करके किसी तरह गुजारा कर पाते हैं। अभी कुछ दिन पहले बड़ा नुकसान हो गया था साहब मेरा। एक बैल बाघ ने मार दिया, खूब भागा-दौड़ा पर अभी तक बैल नहीं पाल सका और इधर घरवाली भी भाग गई, काम की ढेर लगी पड़ी है।” इस प्रकार लेखक ने पहाड़ी लोगों की कई समस्याओं को सूक्ष्म ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

अधिकतर पहाड़ी लोग अशिक्षित एवं कम पढ़े-लिखे होते हैं। अर्थ के अभाव से वे बेरोजगार हो जाते हैं। ‘निशंक’ की ‘नई जिंदगी’ कहानी में पहाड़ी लोगों के निम्नवर्ग की बेरोजगारी का चित्रण हुआ है। इस कहानी में दुष्यंत के पूछने पर व्यक्ति कहता है—“मजदूरी तलाश

करता आया हूँ मालिक।” इसी छोटे से वाक्य से पता चल जाता है कि पहाड़ी लोगों का जीवन कितना कष्टसाध्य होता है। पहाड़ी क्षेत्र के लोग अत्यंत सरल एवं सहज होते हैं। वे हर किसी के साथ आराम से जुड़ जाते हैं और अपनी आत्मीयता प्रकट कर देते हैं। अपने दुखों को दूसरों के सामने कह कर अपने मन को हल्का कर देते हैं। ‘निशंक’ की ‘बस एक ही इच्छा’ कहानी में विक्रम के माध्यम से पहाड़ी लोगों की आत्मीय भावना का चित्रण व्यक्त किया गया है। इस कहानी में विक्रम एक पहाड़ी क्षेत्र का लड़का है। वह एक होटल में काम करता हुआ, होटल में ठहरे हुए ‘मैं’ के साथ आत्मीय भावना प्रकट करता हुआ कहता है—“बाबू जी आपने खाना खाया या नहीं? लगता है आज दिन भर आप व्यस्त रहे?” कहानी के अंत में विक्रम, ‘मैं’ अपनेपन एवं आत्मीय भावना व्यक्त करते हुए कहता है—“बाबू जी माफ करना, अपना समझकर आप से न जाने क्या-क्या कह बैठ। आप भी सोचेंगे कैसा पागल है। रजिस्टर में आप का नाम ‘पोखरियाल’ पढ़कर मुझे लगा, आप भी पहाड़ के हैं, नहीं तो...। कभी मेरे लायक कोई सेवा हो, तो याद अवश्य करना बाबू जी।” इस प्रकार इस कहानी में पहाड़ी लोगों की सरलता एवं सहजता को देख सकते हैं।

पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाले लोग प्रकृति को अपना सब कुछ मान लेते हैं। वे लोग नदी को अपना सहारा मान लेते हैं। ‘निशंक’ की ‘नई जिंदगी’ कहानी में प्रकृति में नदी की श्रेष्ठता का चित्रण किया गया है, क्योंकि इन्सान जो सहायता नहीं कर पाता है, तो नदी उनकी सहायता अवश्य करती है। वे इन्सान पर विश्वास छोड़कर, प्रकृति में, नदी पर विश्वास करते हैं। इस कहानी में व्यक्ति की मानवीय संवेदनाओं का चित्रण हुआ है—“साहब झेल रहा हूँ। जिस दिन बिलकुल ही हाथ-पाँव काम करने बंद कर देंगे, इन अभागों को लेकर इस नदी में कूद जाऊँगा। कोई सहायता नहीं करेगा मेरी, किन्तु यह नदी जरूर सहायता करेगी। इस पर मेरा पूरा विश्वास है।” इस कहानी में लोगों की निःसहायता का चित्रण हुआ है। वे लोग समस्याओं का सामना करते-करते थक गये हैं। इसलिए नदी का सहारा लेने की बात कहते हैं। इस कहानी में ‘निशंक’ जी ने पहाड़ी लोगों के जीवन का यथार्थ हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

इस कहानी में पहाड़ी क्षेत्रों के लिए और अन्य लोगों के लिए नदी की श्रेष्ठता और उसकी भव्यता का चित्रण हुआ है। नदी एवं नाले किसी प्रकार के भेद-भाव नहीं रखते हैं। वे बहते जाते हैं—“यह कहीं भटकते प्राणी को

शक्ति प्रदान करती है, तो कहीं प्यासों की प्यास बुझाती है। इसके लिए, अमीर, गरीब, छूत-अछूत में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं। इस जल को अमृत समझ, चाहे इसका पान करो अथवा इसमें कलुषादि के परिमार्जन का कार्य, इसके लिए ऊँच-नीच का कोई भाव है ही नहीं। यह तो सर्वथा परहित में निरत है। वास्तव में यह महान है। बहुत महान! श्रद्धा से उसका हृदय गदगद हो उठा वह अंतःकरण से सिर झुकाकर नदी को प्राणम करने लगा।” इस प्रकार ‘निशंक’ जी नदी की पवित्रता एवं वास्तविकता को इस कहानी में दर्शाए है।

डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ की ‘गंतव्य की ओर’ कहानी में आधी रात जंगल में चलता हुआ विनय उस साथ राजनेता को याद करता है जो उसका साथ नहीं देता। वह साथ देने वाली नदी, पर्वत, वृक्षों को देखता हुआ, अपने में आत्मबल भरता हुआ आगे बढ़ता है। इस कहानी में ‘निशंक’ जी ने प्रकृति के चित्रण के साथ-साथ एक नदी और वृक्ष की पवित्रता एवं वास्तविकता को दिखाया है।—“इस ओर जंगल में वृक्षों के पत्तों से टकरा-टकराकर सांय-सांय करती यह हवा भी उसे बहुत पीड़ा पहुँचा रही थी, किन्तु अपने लक्ष्य की ओर बढ़ चला। इस वक्त यदि उसके साथ कोई था तो वह था विपरीत परिस्थितियों में भी अहर्निश आगे बढ़ती रहनेवाली नदी का जल, जो सतत उसका धैर्य बनाए हुए था। वह एकाग्र होकर नदी के निनाद को सुनने लगा, उसे लगा जैसे उसमें कोई गीत गूंज रहा है।” इस प्रकार इस कहानी में यह दिखाया गया है कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जितनी भी परेशानियों का सामना करना पड़े, तो भी पीछे नहीं हटना चाहिए। इसलिए यहाँ नदी का सहारा लिया गया है।

पहाड़ी लोगों के आर्थिक समस्याओं के कारण उनके वैवाहिक संबंध भी कमज़ोर एवं शिथिल पड़ते रहते हैं। पहाड़ी लोग अशिक्षित एवं कम पढ़े-लिखे होते हैं। उनमें रोजगार की क्षमता नहीं रहती है। इसलिए लोग उन्हें अपने को काविल नहीं समझते हैं। जाति-भेद सिर्फ जाति को लेकर नहीं होता है। लोग यही सोचते हैं कि लोग पहाड़ के हैं, तो वे निम्न जाती के होते हैं। उसका सही चित्रण ‘निशंक’ की ‘मैं और तुम’ कहानी में दीप्ति और ‘मैं’ के माध्यम से प्रेम विवाह और नकारात्मक सोच का चित्रण किया है। उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के कारण उनका प्रेम विवाह सफल नहीं हो पाता है। ‘मैं’ की भाँती, मैं से कहती है—“अब सब कुछ भूल जाओ, हम यह रिश्ता कभी नहीं होने देंगे, हमें अपने खानदान की प्रतिष्ठा मिट्टी में थोड़े मिलानी है। तुझे पता है कि वे पूरब के हैं, देशी हैं और

कौन जाने किस जातपात के हैं? होते भी वे बिरला सेठ, देते भी तुम्हें खूब सारी धन-दौलत तो हम अपने समाज का विरोध भी सह लेते, परन्तु। और हाँ, फालतू का जोखिम न उठाना मैं तुम्हें अभी बता दूँ कि कोई तुम्हारा साथ नहीं देगा और परिवार से भी तुम्हें हाथ धोना पड़ेगा। सब कुछ भूल जाओगे तुम एक ही झटके में।’’ इस प्रकार वह प्रेम विवाह का विरोध करती हुई, नकारात्मक दृष्टि से अपना अभिप्राय व्यक्त करती है।

‘निशंक’ की ‘मैं और तुम’ कहानी में वर्गभेद का चित्रण हुआ है। इसमें ‘मैं’ पहाड़ी प्रान्त का होने के कारण उसके प्रेम को दीपि वाले परिवार के लोग नहीं मानते हैं, तो वह दीपि से कहता है—‘तुम्हारे परिवार के लोगों ने तुम्हारा जमकर विरोध किया है न, सिर्फ इसलिए कि ‘मैं’ पहाड़ी हूँ।’’ शायद मेरा पहाड़ी होना तुम्हारे परिवार की दृष्टि में गुनाह है, फिर ऊपर से गरीबी। वह आगे कहता है—“ओह ! तुमने पूछा नहीं क्या उसने कि पहाड़ी आदमी नहीं होते? क्या उनमें सहदयता की कमी होती है? या उनका अलग रंग-रूप और खून भी अलग प्रकार का होता है? क्या वे और किसी हाड़-मांस के बने होते हैं?” इस प्रकार पहाड़ी लोग वर्गगत भेद-भाव का भी सामना करते हैं।

डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ जी अपनी कहानियों में कथ्य के साथ-साथ विविध शैलियों का भी प्रयोग किया है। ‘निशंक’ की ‘नई जिंदगी’ कहानी में बहती नदी में मानवीकरण शैली का प्रयोग हुआ है। इस कहानी में दुष्यंत बहती नदी में अनेक तरह की श्रेष्ठतम गुणों को देखता है। जैसे कि—‘अहर्निश अनवरत गति से चट्ठानों और पहाड़ों से टकराती हुई चल रही थी। यह अपने लक्ष्य की ओर अवाध गति से बढ़ती रहती है। सर्वजन हिताय निरंतर बहती हुई यह पल-भर भी विश्राम नहीं करती। विजली के उत्पादन का लक्ष्य हो या सिंचाई का मनुष्य मात्र के जीवन का प्रश्न हो अथवा समस्त प्राणी-जगत के जीवन का, यह परोपकारी नदी सभी को जीवनदान दे रही है।’’ इस प्रकार यहाँ दुष्यंत के माध्यम से मानवीकरण शैली में प्रयोग किया गया है।

‘निशंक’ की ‘बस एक ही इच्छा’ कहानी में होटल में उतरे हुए ‘मैं’, होटल में काम करने वाले विक्रम से उसकी जानकारी लेने का चित्रण संवादात्मक शैली में हुआ है। जैसे कि—‘इस बार वह आया तो, लेकिन देर से, ‘मैं’ भी तब तक उसकी प्रतीक्षा में बैठा रहा। उसके आते ही मैंने उससे पूछा, ‘घर कहाँ है तुम्हारा?’’

‘बाबू जी ! पियोर गढ़।’

‘कब से हो यहाँ?’

“जी पूरे तीन साल हो गए।”

“कहाँ तक पढ़े हो?”

“आठे, पास किया है, बस, बाबू जी।”

“यहाँ किसे के साथ आए?”

“हमारे यहाँ का एक लड़का है, उसी के साथ आया बाबू जी।” कहता था कि कहीं अच्छी जगह नौकरी लगा दूँगा, किन्तु तब से बस यहाँ पड़ा हूँ।”

“कितना पैसा मिलता है?”

“जी तीन सौ रुपए।”

डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ ने ‘मैं और तुम’ कहानी में उच्च वर्ग की वैवाहिक व्यवस्था पर व्यंग किया है—‘तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिए लड़का खरीदने की दृष्टि से इधर-उधर हाथ-पाँव मार कर ढेर सारा पैसा इकट्ठा किया होगा, किन्तु उन गरीबों की भी तो सोचो, जिन्हें एक समय का भर पेट नसीब नहीं हो पाता। तुम्हीं सोचो, वे इन बिके हुए लड़कों का कितना मोल दे सकेंगे? दीपि! क्या ये पैसा और ये मानसिकता गरीब परिवार की लड़कियों की मांग में सिंदूर भरने देगा? काश! तुम भी किसी गरीब की लड़की होती तो क्या होता?’’

डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’ ने अपनी कहानियों में पहाड़ी लोगों के सभी प्रकार की समस्याओं को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं में हमें संवेदना का चित्रण देखने को मिलता है। ‘निशंक’ जी ने पहाड़ी लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का चित्रण किया। वे अपनी कहानियों के माध्यम से पहाड़ी लोगों के मूलभूत समस्याओं को समाज के सामने लाने की कोशिश की है। उन्होंने प्रकृति चित्रण को अपनी कहानियों में श्रेष्ठ स्थान दिया है। उनका यह मकसद है कि—पहाड़ी लोगों की समस्याएं दूर हो जाएं। उन्हें वह सब अधिकार मिले, जिनके बह हकदार है। ‘निशंक’ जी समस्याओं के चित्रण के साथ-साथ शैलियों का भी प्रयोग किया है। रचनाकार का यह उद्देश्य रहता है कि जब पाठक उनके द्वारा रचित रचनाओं को पढ़े, उन्हें उस रचना का उद्देश्य मातृपूम हो। यदि पाठक को रचना के पीछे का उद्देश्य ही समझ में न आए तो लेखन मूल्यहीन हो जाता है। इस लिए कथ्य के साथ भाषा एवं शैली का बहुत बड़ा महत्व होता है। इसका सही चित्रण ‘निशंक’ की अनेक कहानियों में हम देख सकते हैं।

—डा. पठान रहीम खान

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
मौलाना आजाद नेशनल उद्यू विश्वविद्यालय,
गच्छी बोली, हैदराबाद-500032

तुलसी के मानस काव्य में लोक दृष्टि

—डॉ. श्रवण कुमार

यह रचना पुराण, वेद, रामायण एवं शास्त्रों से श्रुत-बहुश्रुत कथाओं पर आधारित है। तुलसी ने राम को विष्णु रूप में प्रस्तुत किया है। पौराणिक काल में रामायण की कथा के अंशों का उल्लेख तीन स्थानों पर आया है। अरण्य पर्व, द्रोण पर्व और शांति पर्व। अरण्य पर्व में रामायण कथा का उल्लेख दो बार आया है। प्रथम भीम हनुमान संवाद के रूप में फिर द्रोपदी हरण में। शांति पर्व में कृष्ण युधिष्ठिर को राम कथा सुनाते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में राम कथा की रचना व्यास कुण्ड (हरियाणा) में हुई थी।¹ रोमपा तथा शृंगी ऋषि की कथानुसार शृंग धारण करने के कारण शृंगी ऋषि कहलाये। वे शिव रूप पशु पति थे। उनका सर्वत्र साम्राज्य था। रोमपा ने राज्य को दुर्भिक्ष अकाल से बचाने के लिए अपनी बहन शांता का विवाह शृंगी ऋषि से कर दिया। शृंगी ऋषि ने यज्ञ में ऋषियों के खून की आहुति देकर कई यज्ञ संपादित किये। रोमपा के पास शांता को राजा दशरथ ने छोड़ा था। हरियाणवी गीतों में सीता त्याग का कारण शांता ही थी। उनके मन में शांता के प्रति कुण्ठा थी। लोक में शांता और सीता को एक भी माना गया है।

गोस्वामी तुलसी दास आधुनिक काल के जन कवि, संस्कृत सरिताविद्, पुराण एवं शास्त्रीय परम्परा के संवाहक के रूप में धर्म दृष्टि से अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्होंने अपने मंगलाचरण में गुरु को छ: बार प्रणाम, पांच बार मालिक को प्रणाम दुश्मन को चार बार प्रणाम, दो बार किंकर को प्रणाम, एक बार पत्नी को प्रणाम तथा एक बार पुत्र-पुत्री को वंदन किया है। श्री लिखिये शट् गुरुन को पंचस्वामी रिपुचारि, दो-दो भृत्य को एक-एक सुत-नारि। यह महाकाव्य सात काण्डों में विभक्त है। बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका एवं उत्तरकाण्ड। डॉ. ग्राउस (रामायण अनुवादक) लिखते हैं—‘दरबार से लेकर झोंपड़ी तक यह ग्रंथ सबके हाथों में है और प्रत्येक वर्ग के हिन्दुओं द्वारा वे बड़े हो या छोटे, धनी हो या निर्धन, बालक हो या बूढ़े पद्मा जाता है, और भली-भाँति समझा जाता है।’²

तुलसी का साहित्य नैतिक आचरण की पवित्रता एवं धार्मिक शुचिता का काव्य है। डॉ. सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के बाद में भारतीय समाज के सर्वश्रेष्ठ उपदेष्टा और सर्वमहान् जातीय लोक नायक मानते हुए लिखते हैं—‘सदियों के तरुराजिवेष्टित आन्तर-पथ से पीछे दृश्यावलोकन करने पर हमें अपने उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी उनकी उदात्त प्रतिमा हिन्दुस्तान के रक्षक और पथ प्रदर्शक के रूप में दिखाई देती है। उनका काव्य-ग्रंथ करोड़ों जनों का धर्म ग्रंथ

बन गया है।”³ तुलसी बाबा का काव्य हृदय के उद्गारों, उत्कट प्रभाव क्षमता, आध्यात्मिक स्फूर्तिदायक एवं महान् धारणाओं से उद्भुद गरिमामय काव्यकृति है।

डॉ. हेम देवी गुप्ता के शब्दों में—“तुलसीदास समर्थ कवि हैं। उनकी भाव सरणि से युक्त होकर यह काव्यधारा हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है। इसलिए वे विद्वन्मण्डली में समान रूप से यह काव्य 400 वर्षों से आज तक नव सौन्दर्य बिन्दु के रूप में विकीर्ण करता रहता है। इस अध्ययन में सन् 1325 से लेकर 1850 की कसौटी पर कस कर राम भक्त कवियों ने उज्ज्वलता, निर्मलता एवं चामत्कारिक रूप में प्रस्तुत किया है, कुन्तक ने ‘वक्रोक्तिजीवितम्’ की तरह राम काव्य को ‘महान् आत्मा’ की प्रतिध्वनि के रूप में स्वीकार किया है।”⁴

उच्च भावनाओं और चरम उद्देश्यों के साथ जीवन की सार्थकता का वाचक विराट परमात्मा के अनेकों विशेषण में से एक विशेषण है श्री राम। राम काव्य की परम्परा का अनुशीलन हमारे वैदिक साहित्य से लेकर आज तक प्रवाहमान रहा है। संस्कृत काव्य में वाल्मीकि, कालिदास, भट्टनारायण, भवभूति ने अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया है। भास कवि ने प्रतिमा नाटक कालिदास ने खुवंश, कुमारदास ने जानकीहरण भवभूति ने अन्तर रामचरित, भोज ने चंपु-रामायण जयदेव ने प्रसन्न राघव, सोमदेव ने कथासरित्सागर, क्षेमेन्द्र ने वृहत् कथा मंजरी में रामकथा का लोकरंजन एवं लोक मंगल रूप विधान प्रस्तुत किया। जैन साहित्य में पउमचरित में विमलसूरि ने 12वीं सदी में प्रस्तुत किया। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष ने प्रथम सदी में ‘बुद्ध चरित’ के रूप में प्रस्तुत किया। विदेशों में रामकथा चीन, तिब्बत, श्याम, ब्रह्मा एवं पर्शिम में यवन प्रदेश में अनेकों प्रसंग राम कथा को लेकर मिलते हैं। जावा में राम कथा अर्जुन विजय के रूप में संपृक्त है। तिब्बत में मारीच से मरुत्से के रूप में विद्यमान है। मलयद्वीप में सेरतकाण्ड या सेरीराम के रूप में लोकप्रिय है। ब्रह्मदेश (म्यांमार) में रामायण नाम से प्रसिद्ध है।

साकेत में राम के बारे में सहज ही कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने यह उद्घोषणा की—राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है/कोई कवि बन जाये सहज सम्भाव्य है/तुलसीदास ने भावविह्वल होकर लिखा है—हम चाकर खुवीर के पतौ लिखौ दरबार/जब तुलसी का होहिंगे नर के मनसबदार?/तुलसी अपने राम को रीझ भजो के खीज/उलटो सूधो उगो है, खेत परे को बीज/राम से बड़ा राम का नाम है। नाम स्मरण करने से वाल्मीकि को ब्रह्म का बोध हुआ। राम की

कथा सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। राम शब्द खुवंशी राम, पोलुत्स्य राम, दशरथी राम, इश्वाकु राम आदि वंशावलियों में प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ राम द्वैत रूप में भाषित हो रहा है। “राम शब्द का अर्थ स्मणीय, सुहावना, आनन्दप्रद, हर्षदायक, सुन्दर एवं मनोहर आदि के अर्थ किये जाते हैं। राम चराचर जगत् में लोकमयी हो गया है—राम सेतु, राम झरो, राम टेकरी, राम गाय, राम दुहाई, रामतलायी, रामकेला, राम कांटा, राम दाना, राम बांस एवं राम भोग आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।”⁵

रामधुन, राम सुमरण, राम बुलावा, राम की सोंह खाये बिना सत्यता पर विश्वास नहीं होता है। राम नाम जपना, पराया माल अपना, मामा मारीचि ने राम का नाम जपकर सीता का हण किया। गुरु नानक ने भी कहा—राम जी की चिड़िया, राम जी का खेत/ खाओ चिड़िया भर-भर पेट। राम का महात्म्य अपर्कष एवं उत्कर्ष के रूप में किया जाता है—“राम नाम लड़आ गोपाल नाम धी/हर नाम मिसरी, तू धोल धोल पी।” जुलाहा कवीर ने अपनी झीनी झीनी चदरिया को दाग से बचाने के लिए राम का आश्रय लिया है—राम मेरे पीऊ में राम की बहुरिया। आज राम नाम से कई सम्प्रदाय भी बन गये रामावत, राम उदास, रामानंदी, राम दासी, रामस्तेही, राम गोपाल, राम बुद्ध एवं रामकृष्ण के रूप में नाना प्रकार के पंथ प्रचलित हो गये थे। रामचरितमानस का प्रभाव धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों ने सदियों से समष्टि जन मानस को प्रभावित किया है। उनके काव्य में नैतिक पक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर समावेश लोक जीवन में हुआ है। तुलसीदास ने समरसता के लिए बुद्ध के बाद लोकनायकत्व के रूप में एकता स्थापित की उनका बाल्य- जीवन दीनहीन की तरह था। दारिद्र्य कष्ट से उन्हें युवावस्था के पूर्व तक दर-दर भटकना पड़ा। उन्होंने ‘नाना पुराण निगमागम’ का अभ्यास किया।

लोक जीवन में समरसता लाने के लिए डॉ. भगीरथ मिश्र ने चार तत्त्वों को महत्त्व दिया जिससे वे विविध मुखी बताते हैं—1. दार्शनिक क्षेत्र में समन्वयवाद, 2. सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र में समन्वयवाद, 3. सामाजिक क्षेत्र में समन्वयवाद और 4. साहित्य के क्षेत्र में समन्वयवाद।⁶ उन्होंने भारतीय लोक की समस्त परम्पराओं को छविगृह बनाकर संजोया है। उन्होंने अपनी लेखनी से अनेकों रूपों एवं रंगों से भव्य चित्र उकेरा है। उनके बड़े ग्रंथ कवितावली, दोहावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनयपत्रिका और रामचरितमानस तथा लघुग्रंथ में रामललानहृष्ट वैराग्यसंदीपनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल तथा रामाज्ञा प्रश्न प्रमुख हैं। तुलसी का काव्य लोकपक्ष का अवलम्बन पाकर वेदमत-

समाज का अनुगामी बना। उनके काव्य के केन्द्र में मानव है। वह मानस को जनमानस के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वे वानर, नर को नारायण रूप में विराजमान करते हैं। वे अगुण एवं समुण रूप को एक ही रूप मानते हैं। राम को मर्यादित रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे मानस की प्रस्तावना में लिखते हैं—“सरयू नाम सुमंगल कूला। लोक वेदमत मंजूर कूला //” इसमें राम केन्द्रीय पात्र हैं। वे लोकादर्श हैं। वे समन्वित चरित्र के रूप में मनुष्य, समाज, पशुपक्षी, दैव, गन्धर्व आदि अनेकों पक्षों में चरितार्थ हुए हैं। राम सुबह अपने गुरु से पहले जगने का वर्णन अद्वितीय है—“उठे लखनु निसि विगत मुनि, अरुण शिखा धुनि कान/गुरुते पहिलेहि जगतपति, जागे राम सुजान//”⁸ राम अपने माता के वचनों की पालना करते हुए राजनैतिक षड्यन्त्र को समझते हुए भरत के लिए अपना राजपाट छोड़कर वन को प्रस्थान करते हैं—‘अब अति कीन्हेह भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु’⁹ भरद्वाज ने भरत को कहा यदि तुम राज्य करते हो तो इसमें कोई दोष नहीं है। वन गमन के समय ग्रामीण स्थियों सीता जी से प्रश्न पूछती हैं—पूछता ग्रामवधू सिय सौं कहाँ साँवरे से सखि रावरे को हैं? सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानी है जानकी जानी भली। तिरछे करि नैन दै, सैन तिन्हैं समुज्जाइ कछू मुसुकाइ चल।”¹⁰

एक संयमित ग्रामीण परिवार की भाँति राम का जीवन है। वे अपनी मर्यादा में माता-पिता, भाई-भाई, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, देवर-भावज, गुरु-शिष्य, अतिथि-अतिथेय के बीच में कर्तव्यगत विविध आदर्शों तथा आचारों का सुन्दरतम रूप का आगार हैं। वे त्याग, तपस्या एवं तपोबल के साक्षात् स्वरूप हैं। उनके जीवन में प्रेम, शान्ति एवं बंधुता त्रिकभाव सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है। ग्राम्यजन उपाख्यान में टोटेम कबीला में सुग्रीव-अंगद, नील-नल (वानल टोटेम) जाम्बन्त (रिक्ष टोटेम) जटायु-सम्पाती (पक्षी टोटेम) कागबुशुण्डी-गरुड़ (पक्षी या खग टोटेम) वाले कबीले ग्रामीण कबीलाइ समुदाय हैं। वे लोक जन कई विशेषताओं वाले हैं। कबीलाई नैतिकता एवं व्यवस्था का संकेत कुछ विश्वासों, आस्थाओं और क्रियाओं के माध्यम से हुआ है जैसे—पत्थर, लकड़ी के मुद्दार, वृक्ष के हथियार, मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध, शूर्पणखा को कुरुप बनाने पर खरदूषण द्वारा प्रतिशोध भावना के रूप में राम से स्त्री की माँग, खरदूषण वध कर दिया जाता है। यहाँ पर राम रघुवंशी परम्परा के पोषक तथा रावण पौलुत्यवंशीय परम्परा के संवाहक है।

कठिन कार्य करते समय पान का बीड़ा लेने का संकेत राम काव्य में हुआ। यह मानस का कथा विधान लोक संपृक्त है तथा उसके बारे में राम का असीम से ससीम

स्वरूप लोक जीवन का निमज्जन अवगाहन है—‘हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता’ ‘रामचरित सत कोटि अपारा। वरनऊ विसद् राम गुन गाथा’ के माध्यम से व्यष्टि रूप को समष्टि रूप में प्रदर्शित किया है।

तुलसी शास्त्रवादी पण्डित के साथ जनवादी कवि भी है उन्हें न शास्त्र का तिरस्कार करना था नहीं कृष्ण भक्तों के विष्णु रूप का रागारूण रूप की रसिकता, वे न सामाजिक विरक्ति चाहते थे न ही आत्मविस्मृति, उनका उद्देश्य लोक जीवन के लिए मंगलमय आदर्श एवं मर्यादा की प्रतिष्ठा करना था। तुलसीदास ने लोक तत्त्वों के सहारे लोकप्रियता, जीवन्तता और उपयोगिता देशकाल के बंधनों को तोड़कर तित्व को अमरत्व की ओर मार्ग प्रशस्त करने में समर्थ है। यह काव्य जीवन की संजीवनी है।

संदर्भ

1. राम कथा और लोक साहित्य, जयनारायण कौशिक, हिन्दी बुक सेलर, 415वीं आसफ अली रोड नई दिल्ली, सं. 1996, पृ. 26, 27
2. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, किशोरी लाल गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ. 54
3. द मॉर्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान—जार्ज ग्रियर्सन एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगल की पत्रिका विशेषांक, प्रथम संस्करण-1912, पृ. 42
4. राम भक्ति में उदात्त तत्त्व, डॉ. हेम देवी गुप्ता, साइण्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, संस्करण-1995, भूमिका में विषय प्रवेश में संकलित अंश
5. रामकथा और लोक साहित्य, जयनारायण कौशिक, हिन्दी बुकसेन्टर, 4/5 वी आसफ अली रोड नई दिल्ली, संस्करण-1996, पृ. 1
6. तुलसीदल, डॉ. भगीरथ मिश्र (पत्रिका) सितम्बर, 1964, पृ. 71
7. रामचरितमानस, तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1/38/12
8. वही, 5/42/43
9. वही, 3/207
10. तुलसीग्रंथावली—सं. माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी अकादमी प्रयाग, सं. 1964, पृ. 167

डॉ. श्रवण कुमार

सह-आचार्य, हिन्दी विभाग, भाषा प्रकोष्ठ,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
मो.: 9352671936

हैदराबाद का आदि हिन्दू आंदोलन और स्वामी अछूतानन्द ‘हरिहर’ (1906-1931)

—अभिलाष वेन्ना

प्रसिद्ध दार्शनिक डा. धर्मवीर ने स्वामी अछूतानन्द ‘हरिहर’ को पूर्णिमा का चाँद कहा है। स्वामी अछूतानन्द केवल उत्तर भारत में ही, 1905 से 1933 तक का इतिहास खँगालने पर पूर्णिमा का चाँद नहीं दिखते बल्कि यदि उन्हें हम इसी कालखंड में हैदराबाद के क्षेत्र से भी देखें तो वे वहाँ से भी ‘पूर्णिमा का चाँद’ ही दिखते हैं। हैदराबाद में उस समय भाग्य रेही और आंशिक रूप से कुछ अन्य दलित नेता दलित आंदोलन चला रहे थे। लेकिन स्वामीजी के प्रभाव की वजह से भाग्य रेही ने अपने आंदोलन को ‘आदि हिन्दू’ के बैनर से जोड़ा। इसी आधार पर कहा जा रहा है कि हैदराबाद का दलित आंदोलन आदि हिन्दू आंदोलन स्वामी अछूतानन्द हरिहर के आदि हिन्दू आंदोलन से प्रभावित था। स्वामी जी डा. अंबेडकर से भी पहले अखिल भारतीय स्तर पर आदिनिवासी अस्मिता का ‘आदि हिन्दू’ आंदोलन चला रहे थे। इस नाते वे उस दौर में दलितों के सबसे बड़े नेता थे। 1920 के दशक में समूचे ब्रिटिश भारत में चल रहे दलित आंदोलन में ‘आदि आंदोलन’ प्रमुख भूमिका में था।

हैदराबाद में भाग्य रेही सन 1925 तक विभिन्न सामाजिक संगठनों के माध्यम से सामाजिक सुधार में लगे हुए थे। सन 1906 में भाग्य रेही और कुछ दलित समाज के सुधी व्यक्तियों ने ‘जगन मित्र मंडली (लोक मित्र संघ)’ की स्थापना की थी। इन संस्थाओं ने सामाजिक परिवर्तन के संदेश के प्रचार-प्रसार के लिए पारंपरिक तरीकों का ही इस्तेमाल किया था जिनमें लोक प्रस्तुतियां और भजन आदि प्रमुख थे। मंडली द्वारा पम्फलेट और ट्रैक्ट प्रकाशित किए जाते थे जो भाग्य रेही द्वारा लिखे होते थे। इनका अध्ययन करने पर पता चलता है कि 1 जनवरी, 1911 को इसका नाम बदलकर ‘मान्या संगम’ अर्थात् आत्मसम्मान के लिए आंदोलन, कर दिया गया था। पी. के. वेंकेटास्वामी के अनुसार इस संस्था के प्रमुख लक्ष्य थे—‘संयम, जीव हिंसा का विरोध और धार्मिक वेश्यावृति यानी देवदासी प्रथा का विरोध। इसके अतिरिक्त यह संस्था शिक्षा के प्रसार के लिए, बाल विवाह के निषेध के लिए, सामाजिक समारोहों में नशा मुक्ति और फिजूल खर्चों के विरुद्ध भी काम कर रही थी। इस संस्था ने आत्म सम्मान के आंदोलन को सबसे प्रमुखता से चलाया। संस्था का मानना था कि

आत्म सम्मान दलितों पर थोपी गई निर्यायताओं को मिटाने से ही संभव है। इसके लिए दलितों और सवर्णों के बीच समानता की भी जखरत रहेगी। संस्था द्वारा हैदराबाद के निजाम से जोरदार अपील की गई थी कि वह देवदासी प्रथा के विरुद्ध कानून बनाए। निजाम से दलितों के उत्थान के लिए स्टेट पालिसी भी बनाने को कहा गया था।

सन 1910 के दशक में भाग्य रेडी का संगठन 'स्वस्ति दल' ने खुद को हैदराबाद की सिविल सोसाईटी से जोड़ते हुए बहुत से जनहित के कार्य किए। इस संस्था ने रेड क्रास संस्था से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सन 1912 में एक वालाटियर कोर्पस भी खड़ी की थी। यह संगठन भाग्य रेडी के सामाजिक आंदोलन का बाहक बन गया। इसने सन 1915 में हैदराबाद शहर में प्लेग महामारी के दौरान अपनी मूल्यवान सेवाएँ दी थी। साथ ही प्रथम विश्व युद्ध के लिए भी अपने कार्यकर्ता भेजे थे। इस संगठन ने धोषणा की थी कि सामाजिक कार्य दलित संगठनों की प्राथमिकता में है। ठीक इसी तरह से अरिज्ञा स्वामी हैदराबाद के अन्य नेता थे जो भाग्य रेडी के समानांतर ही सामाजिक कार्य कर रहे थे। वे भाग्य रेडी के समकालीन भी थे। उन्होने 'सुनिधा बाला समाजमु' नाम से एक संगठन भी बनाया था। हालांकि उनकी गतिविधियाँ मुख्य रूप से कुम्मारुड़ा, सिकंदराबाद तक ही सीमित थीं। भाग्य रेडी की तरह वे कई संगठन नहीं बना पाये और पूरे हैदराबाद में और इसके बाहर कभी कार्य नहीं कर पाये। 1910 का दशक हैदराबाद में दलित आंदोलन के लिए महत्वपूर्ण है। भाग्य रेडी का दलित आंदोलन उस समय हैदराबाद ही नहीं बल्कि इसके साथ लगे तेलुगू भाषी आंध्रा रीजन में भी जो कि उस समय मद्रास प्रेसीडेंसी का हिस्सा हुआ करता था। चिन्ना राव लिखते हैं कि भाग्य रेडी ने अपनी आवाज को तेलंगाना रीजन तक बुलंद किया था और दलितों के मनों में आंदोलन के बीज बोये थे। उसने प्राथम प्रोविन्शियल पंचम कान्फ्रेंस की अध्यक्षता भी की थी। इन्हीं गतिविधियों ने उसको हैदराबाद के तेलुगू भाषी रीजन और मद्रास प्रेसीडेंसी के आंध्रा रीजन का प्रमुख दलित नेता बना दिया था।

हैदराबाद में दलितों के आदि अस्मिता आंदोलन के लिए साथ ही सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना के लिए 1922 की हैदराबाद में आयोजित आदि हिन्दू कान्फ्रेंस मील का पथर मानी जाती है। यह कान्फ्रेंस भाग्य रेडी की संस्था 'आदि हिन्दू लीग' द्वारा सिकंदरबाद शहर में बुलाई गई थी। इस कान्फ्रेंस का पहला ही प्रस्ताव आदि हिन्दू अस्मिता के बारे में था कि दलितों को अछूत कि बजाए 'आदि हिन्दू' कहा जाये जिसका अर्थ है भारत वर्ष का

आर्यों से पहले का आदिनिवासी। यही नहीं बल्कि इस कान्फ्रेंस में दलितों के लिए क्षेत्रीय स्तर पर 'आदि आंध्रा', 'आदि द्राविड़', 'आदि कर्नाटका' और आदि महाराष्ट्रा' की भी धोषणा की गई थी। इसी कान्फ्रेंस के अन्य प्रस्तावों में ब्रिटिश सरकार तथा प्रिंसली सरकारों से अपील की गई थी कि वे दलितों के उत्थान के लिए कार्य करें। इसमें दलित बच्चों की शिक्षा, बाल विवाह, देवदासी प्रथा का निषेध, सामाजिक समारोहों में नशा और फिजूल खर्च आदि के विरोध में प्रस्ताव पारित हुए थे। यही नहीं बल्कि दलितों को अपने आदि धर्म के कर्मकांडी 'शैवाईट पुरोहितों' को 'आदि हिन्दू जंगम' बनकर काम करने की अपील की गई थी। इनसे विशेष रूप से अन्धविश्वास मिटाने की अपील की गई थी। इस कान्फ्रेंस में ब्रिटिश भारत के कोने-कोने से सामाजिक कार्यकर्ता आए हुए थे। आदि हिन्दू आंदोलन के प्रवर्तक स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' की इसमें विशेष उपस्थिति थी। इसके अतिरिक्त पूना, कराची, नागपुर, यवतमाल, रामपुर, बैजवाड़ा आदि स्थानों से सामाजिक कार्यकर्ता पहुंचे हुये थे। यह सभा इस आधार पर अखिल भारतीय स्तर की थी। इस नाते से जो प्रस्ताव इसमें पारित हुए थे वे दलितों के लिए हैदराबाद के ही नहीं बल्कि अखिल भारतीय स्तर के थे। 1920 के दशक में दलित नेताओं में जो अखिल भारतीय स्तर पर एकरूपता आई थी वह इस कान्फ्रेंस में स्पष्ट रूप से दिखी थी। आगे चलकर यह एकरूपता परवान चढ़ी और भाग्य रेडी को इलाहाबाद की आदि हिन्दू कान्फ्रेंस स्वामी अछूतानन्द हरिहर 1927 और 1930 की कान्फ्रेंस दक्षिण के प्रतिनिधि के तौर पर पर बुला चुके थे। इसके अतिरिक्त ऐसे ही मंचों के माध्यम से भाग्य रेडी स्वामी अछूतानन्द हरिहर (उत्तर प्रदेश), डा. अंबेडकर (मुंबई), एस. सी. राजा (मद्रास), बाबू शिव प्रसाद रजक (मद्रास), बाबू वीर रत्न देवीदास (दिल्ली), मनिषी देव (पंजाब) से अपनी कान्फ्रेंसों में बुला चुके थे। स्वामी अछूतानन्द और भाग्य रेडी के प्रयासों से ही क्षेत्रीय आधार पर बटे हुए दलितों को आदि हिन्दू आंदोलन के बैनर तले अखिल भारतीय स्तर पर एक मंच पर लाने में सफल हुए थे। सन 1922 की उक्त आदि हिन्दू कान्फ्रेंस से समूचे भारत के दलितों को 'आदि हिन्दू' पहचान मिल गई थी।

स्वामी अछूतानन्द हरिहर की ही तरह से भाग्य रेडी भी पहले आर्यसमाज के ही प्रभाव में थे लेकिन जिस प्रकार से स्वामी जी ने आर्यसमाज के भ्रमजाल से निकल कर अपना स्वतंत्र आंदोलन स्थापित किया था ठीक उसी तरह से हैदराबाद में भाग्य रेडी ने भी किया। आर्यसमाज के प्रभाव में आकर पहले भाग्य रेडी भी 'वर्मा' टाईटल लगाया करते

थे। यह हिन्दू धर्म के अनुसार क्षत्रिय वर्ण का टाईटल है लेकिन जब लखनऊ में नौवीं अखिल भारतीय स्तर की आदि हिन्दू कान्फ्रेंस हुई थी तब वहाँ पर उपस्थित कार्यकर्ताओं द्वारा उनके वर्मा टाईटल पर आपत्ति जताई थी। उसी कान्फ्रेंस में इस आपत्ति का सम्मान करते हुए भाग्य रेडी ने अपने नाम के साथ लगा वर्मा टाईटल सदा के लिए हटाने का प्रण लिया था। इस प्रकार से देखा जा सकता है कि स्वामी अछूतानन्द की आदि हिन्दू कान्फ्रेंस में आकर ही भाग्य रेडी पूरी तरह से आदि हिन्दू फ्रेम में फिट हो पाये थे। भाग्य रेडी ने जिस आदि हिन्दू विचार को सन् 1922 से लेकर 1931 तब हैदराबाद में प्रचारित किया वह सन् 1931 को आदि हिन्दू आंदोलन की लखनऊ कान्फ्रेंस में आकार पूरी तरह से परिपक्व हुआ था। उन्होंने निजाम सरकार के आगे दलितों की आदि हिन्दू पहचान का मुद्दा जोर-शोर से उठाया था। निजाम सरकार द्वारा उनकी बात मानी भी गई थी। हैदराबाद में सन् 1931 में हुई जनगणना में दलितों को आदि हिन्दू के रूप में लिखा गया था। यह भाग्य रेडी के आंदोलन की बहुत बड़ी जीत थी। इस प्रकार से हम देखते हैं कि दलितों ने सन् 1920 के दशक से पूरे ब्रिटिश भारत और प्रिंसिली स्टेट्स में भी ब्राह्मण द्वारा दिये गए कलंकित संबोधनों जैसे-पंचम, माला, मादिगा आदि के स्थान पर आदि हिन्दू पहचान अपनाई।

ब्राह्मणवादी मान्यताओं ने दलितों को जातियों और उपजातियों में बांटा था। भाषा और क्षेत्र की वजह से दलित आपस में और भी कट-बंट गए थे लेकिन आदि आंदोलन ने इन खंडों-उपखंडों को तोड़ते हुए दलितों को एक साझा आंदोलन और साझी आदि हिन्दू पहचान दी। काकीनाड़ा की राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का संकेत करते हुए मार्क जुरग्न्समेयर ने लिखा है कि 1920 में अखिल भारतीय स्तर पर एक साझी आदि हिन्दू नामक राष्ट्रीय चेतना आ चुकी थी। इस आदि हिन्दू पहचान की वजह से दलितों को न केवल समानता के लिए उठाई गई अपनी मांगों को मनवाने में मदद मिली थी। बल्कि उनको अपने मानवीय हक भी मिले थे। आत्मसम्मान की दिशा में उनका आंदोलन बढ़ा। साथ ही उनका नैतिक उत्थान भी हुआ था। वे एक पृथक राजनीतिक शक्ति के रूप में आगे आए।

संदर्भ साहित्य

1. डा. धर्मवीर, प्रेमचंद की नीली आँखें, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ. 85
2. Chinnaiah Jangam, Dalits and the Making

of Modern India (New Delhi: Oxford University Press, 2017), p-145; S-Ramnarayan Rawat, Reconsidering Untouchability: Chamars and Dalit History in North India (Bloomington: Indiana University Press, 2011), pp.159-60

3. Philip Constable, Early Dalit Literature and Culture in late Nineteenth and Early Twentieth Century Western India, Modern Asian Studies 31, no. 2 (1997), pp 317-18
4. Venkataswamy, Our Struggle for Emancipation, p. 4
5. M-B-Gautam, Bhagyodhayam: Life Sketch and Mission of Madari Bhagya Reddy Varma (Hyderabad: Samaantara Publisher 2009), p- 63; Venkataswamy, Our Struggle for Emancipation, p-8
6. Ibid
7. Venkataswamy, Our Struggle for Emancipation, p.5
8. Rao, Dalits Struggle for Identity: Andhra and Hyderabad, 1900&1950, New Delhi, Kanishka Publishers 2003, p.152
9. Mark Juergensmeyer, Religion as Social Vision: The Movement Against Untouchability in 20th Century Punjab (Berkeley University of California Press, 1982), p. 35; C.S., Adcock, The Limits of Tolerance Indian Secularism and the Politics of Religious Freedom (New York: Oxford University Press, 2014), p.155
10. Jangam, Dalits and The Making of Modern India, pp. 144-45
11. Chinna Rao, Dalit Struggle for Identity: Andhra and Hyderabad, 1900-1950, p.173
12. ibid, p.173-174
13. Samabaiah Gudimenda, Dalit Activism in Telugu Country 1917-1930, South Asia Research 36, no. 3, (2016), 322-42
14. Mark Juergensmeyer, Religion as Social Vision: The Movement Against Untouchability in 20th Century Punjab (Berkeley: University of California Press, 1982, 1982, p. 24

—अभिलाष वेन्ना

शोधार्थी

सी.एच.एस., जे.एन.यू
नई दिल्ली-110067

मोहनदास नैमिशराय के उपन्यासों में दलित प्रश्न

—डॉ. राजेंद्र घोडे

प्राचीन काल से दलित उपेक्षित रहा है। दलित समाज को शिक्षा के अधिकार से भौतिक संपत्ति से दूर रखा गया है। गाँव के बाहर झुग्गी में जीवन जीनेवाला, मजदूरी करने वाला, हीन काम करने वाले दलित समाज के प्रति हीन भावना थी। इसी वजह से इस समाज को चांडाल, शुद्र भी कहा गया है। देश में अनेक संत और समाजसुधारकों ने भेदा-भेद को मिटाने के अनेक प्रयास किए हैं जिनमें कबीर, महात्मा फुले, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर और शाहू महाराज आदि हैं जिन्होंने सामाजिक न्याय की नींव डाली। लेकिन इसके बावजूद समाज में जिस परिवर्तन की अपेक्षा थी वह पूरी नहीं हो सकी। वर्तमान में दलित साहित्यकारों के लिखे उपन्यासों में दलित समाज की चेतना एवं उत्थान की बातें सामने आती हैं। मोहनदास नैमिशराय ने अपने उपन्यासों के माध्यम से दलित विमर्श के विविध अंगों को उजागर किया है। उनके साहित्य में दलित बस्ती का चित्रण, अस्पृश्यता, शोषण और अस्मिता की पहचान रखने वाला दलित आदि बातों का चित्रण हुआ है।

आर्थिक अभाव एवं शोषण के कारण दलित आदमी कड़ी मेहनत के बाद भी इसकी पूर्ति के लिए असमर्थ रहा है। गरीबी, अभाव और बेकारी आदि के कारण उसे हमेशा संघर्ष करना पड़ता है। कड़ी मेहनत करके व्यवस्थावादियों की झोली भरने वाला यह दलित समाज अपनी रोजमर्रा की जरूरतें भी पूरी नहीं कर पाते हैं। उनको अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए जर्मींदारों, साहूकारों की गुलामी करनी पड़ती थी। ‘मुक्तिपर्व’ उपन्यास का नायक ‘बंसी’ कुछ खास पढ़ा-लिखा नहीं था। वह नवाब अली खाँ की हवेली पर काम करता था जहाँ उसके माता पिता पहले काम करते थे। वहाँ का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—“मालिक लोग मजे से पहलवानी करते, मुर्गों की लड़ाई का मजा लेते, रात में रंडियों के कोठों पर जाते, जहाँ वे गीत-संगीत की महफिलों में देर रात तक मजा लेते नाचनेवालियों की एक-एक अदा पर सैकड़ों, हजारों रुपये उड़ा देते।”¹ इससे पता चलता है कि दलित मजदूरों को उनके मेहनत की मजदूरी देने के बजाय दूसरे ऐशो-आराम में उड़ा देते थे। ‘आज बाजार बंद है’ इस उपन्यास में भी उन्होंने गरीब और पीड़ित महिलाओं को वेश्या का व्यवसाय करने के लिए किस तरह मजबूर किया जाता है, उसका चित्रण किया है। ‘जख्म हमारे’ उपन्यास में भी गरीबी एवं आर्थिक अभाव का चित्रण मिलता है। इस उपन्यास का नायक जो ‘गुलाम’ है इसके बारे में लेखक कहते हैं—“वह प्रतिदिन पचास रुपये कमाता था। दोनों

वक्त वह चाय और भोजन नजदीक के दाबे पर लेता था। रोज वह चालीस रुपये बचाकर रखता था। गाँव में उसकी पत्ती और बच्चे थे। अगले सप्ताह वह घर मनीऑर्डर भेजना चाहता था। पर वह दिन कभी नहीं आया।² इस तरह आर्थिक स्थिति हर जगह दिखाई देती हैं।

अस्पृश्यता भारतीय समाज व्यवस्था को लगा हुआ कलंक है। भारतीय इतिहास में जिन्हें शूद, अस्पृश्य, दीन और दास समझा जाता था, जिन्हें मनुष्य होकर मनुवादी संस्कृति की भीषणता के कारण जानवरों से भी बदतर जीवन जीना पड़ता था। ‘मुक्तिपर्व’ उपन्यास में बंसी का बेटा सुमीत स्कूल जाता है और वहाँ जो पानी की नलकी है वहाँ निम्न जाति का होने के कारण सर्वर्ण पंडित पानी पीने नहीं देता है—‘नजदीक ही प्याऊ था। पंडित जी माथे पर लंबा-चौड़ा तिलक लगाए बैठे थे। उसके गले में जनेऊ पड़ा था। उनके पास में पानी से भरा गागर रखा था तथा उसके नीचे रबर की नलकी लटकी थी। नलकी से पानी इस तरह नीचे गिरता था कि प्यासा आदमी अपनी दोनों हथेलियाँ उसके नीचे कर पानी पीता था। ऊपर नलकी की चौड़ाई अधिक थी जिसमें स्वयं प्याऊ पर बैठा व्यक्ति पानी उड़ेलता था। एक बात और यह थी कि नलकी से पानी पीनेवाला जब पानी पीता था तो उसके छोटे प्याऊ की हृद से बाहर आते थे।’³ ऐसी व्यवस्था केवल अस्पृश्य एवं दलित लोगों के लिए थी। दलितों को निरंतर दलित होने के कारण समाज में हीनता, घृणा सहनी पड़ी है।

‘क्या मुझे खरीदोगे’ इस उपन्यास में जातीयता एवं अस्पृश्यता का चित्रण मिलता है। उपन्यास के पात्र सागर और सरिता की प्रेम कहानी से स्पष्ट होता है, सागर एक सर्वर्ण युवक है जो दलित वर्ग के सरिता से प्यार करता है लेकिन सरिता निम्न जाति की होने के कारण सागर के घरवाले और समाज उन्हें नहीं अपनाता नहीं। इस बात को लेकर सागर कहता है, “यह दुनिया, यह समाज हमें चैन से यहाँ रहने नहीं देगी। माना कि तुम्हारे घरवाले तैयार हो जायेंगे पर मेरा परिवार कभी भी तुम्हें अपने घर की बहू स्वीकार न कर सकेगा।”⁴ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज व्यवस्था में जातीयता का गहरा प्रभाव है।

दलित समाज की नारी भी युगों से पीड़ित है। जर्मांदार, अधिकारियों और धार्मिक आदि कारणों के चलते नारी पर हमेशा अन्याय होता है। इस समस्या को मोहनदास जी ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। “आज बाजार बंद है” वेश्याओं के जीवन यथार्थ को केंद्र में रखकर लिखी महत्वपूर्ण रचना है। पार्वती उपन्यास की नायिका है। पार्वती के अलावा शबनम, हसीना, मुमताज, पायल आदि

अनेक नारी चरित्र कोठों पर जहालत भरी जिंदगी बसर करते हैं। जितनी यहाँ औरते हैं उतनी ही उनकी शोषण की कथाएँ भी हैं। पार्वती के शोषण से रुबरु करवाते हुए मोहनदास नैमिशराय उपन्यास में मंदिर के पुजारी गाँव के पटेल, सामंत साहूकार आदि सर्वोर्णों की शोषण व्यवस्था को प्रकट करते हैं “यह पार्वती है बिना शिव की पार्वती, शिव ने पहले इसे मंदिर में बैठकर देवदासी बनाया। फिर मंदिर से चकले में भेज दिया। पहले मंदिर के पुजारी ने शरीर को भोगा। फिर गाँव के पटेल ने बाजी मारी। दोनों का मन भर गया तो गाँव के सामंत साहूकार की बारी आई। यानी हमारे समाज में जिसका जितना मान-सम्मान उतना ही देवदासी को भोगने के लिए उनके अधिकार सुरक्षित होते हैं। इस प्रकार दलित नारी का शोषण हमें दिखाई देता है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मोहनदास नैमिशराय जी ने दलित समाज की पीड़ा को उजागर करने का प्रयास किया है। उन्होंने दलित समाज को अपने अस्तित्व के प्रति सचेत करते हुए वर्णवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष का मार्ग दिखाया है। अस्पृश्यता समाज के लिए अभिशाप माना जाता है। आज भी दलितों को अस्पृश्यता के नाम पर प्रताड़ित अपमानित जीवन जीना पड़ रहा है। समाज व्यवस्था ने हमेशा दलित समाज को उपेक्षित दृष्टि से देखा है। इसको भी उन्होंने उजागर करने का सफल प्रयास किया है। नैमिशराय जी का उपन्यास साहित्य समाज में स्वतंत्रता, समता, बंधुता और न्याय आदि तत्वों को स्थापित करने की माँग है।

संदर्भ सूची

1. मुक्तिपर्व, मोहनदास नैमिशराय, अनुराग प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण-1999, पृ. 18
2. जख्म हमारे, मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृ. 11
3. मुक्तिपर्व, मोहनदास नैमिशराय, अनुराग प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण-1999, पृ. 53
4. क्या मुझे खरीदोगे, मोहनदास नैमिशराय, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2005, पृ. 44
5. आज बाजार बंद है, मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृ. 33

—डॉ. राजेंद्र घोडे

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-411007
मो. नं. 8975385041

ई-मेल : rajughode@gmail.com

बुन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में लोकसंस्कृति

—डॉ. शशिकला

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसके महत्व को इसी से समझा जा सकता है कि हजारों वर्षों बाद आज भी यह संस्कृति जीवित है। संस्कृति की बात की जाये तो संस्कृति और समाज का गहरा संबंध है, क्योंकि व्यक्तियों से समाज बनता है और समाज में संस्कार एवं नियम बने होते हैं। आधुनिकता के इस दौर में व्यक्ति जहाँ कुण्ठा, निराशा और तनाव का शिकार हो रहा है, ऐसे समय में परिवार ही एकमात्र ऐसी है शक्ति है जो भावनात्मक एवं नैतिक संबल प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति मनुष्य की छिपी हुई आन्तरिक दिव्यता को प्रकाशित करने का सामूहिक प्रयत्न है। इसकी पहचान देश के विविध धर्म, वर्ग, जाति, परम्परा, रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, व्यवहार इत्यादि में दिखता है। रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं—“संस्कृति मानव जीवन में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता युग-युगान्तर से संस्कृति निर्मित होती है। संस्कृति किसी भी राष्ट्र की उत्कृष्टतम् निधि होती है। राष्ट्र-विशेष का जीवन-स्मरण, उसकी उन्नति-अवनति, प्रतिष्ठा आदि तथ्य उसकी संस्कृति पर आधारित रहते हैं। जिस राष्ट्र की संस्कृति जितनी उदात्त होती है, वह राष्ट्र उतना ही गौरवशाली बनता है।”¹

बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति भारत एवं विश्व के अनेक लोक संस्कृतियों से भी प्राचीन है। लोक संस्कृति उतनी ही पुरानी है, जितना मनुष्य जीवन। इसलिए उसमें जनजीवन की प्रत्येक अवस्था, वर्ग, समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित रहता है। इसमें समरसता का भाव जुड़ा होता है जो लोगों को समता और सहिष्णुता प्रदान करती है। लोक संस्कृति की कलात्मक विशेषताओं एवं रूचियों को लोक कला और जन संस्कृति उजागर करती है। बुन्देलखण्ड में उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्र आंशिक रूप से समाहित हैं। इसके अलग-अलग भागों में भाषा, संस्कृति एवं इतिहास में विविधता होते हुए भी यह बुन्देलखण्ड की भूमि आल्हा-ऊदल और छत्रसाल जैसे महान शख्सियत से भरी पड़ी है। चूँकि, साहित्य समाज का दर्पण होता है, वह किसी भी व्यक्ति, स्थान, संस्कृति एवं भाषा का समग्र परिचय कराता है। वर्मा जी के साहित्य में बुन्देलखण्ड के पहाड़ियों, धामोनी के जंगल, बरुआ सागर की झील, बीहड़, टौरियों तथा बेतवा और धसान जैसी नदियों का उल्लेख मिलता है, साथ ही बुन्देलखण्ड की विभिन्न वनस्पतियों जैसे करधई, कठवर, तेंदु, अचार साज,

महुआ, कोहे आदि का वर्णन उनके उपन्यासों में किया गया है।

बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति एवं लोक कला की ऐतिहासिकता का चित्रण वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में समग्रता से मिलता है। इनके अधिकतर उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टि से परिपूर्ण थे। ऐतिहासिक मूल्यों से प्रभावित परिवार में जन्म लेने के कारण उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्ड के मध्यकालीन ऐतिहासिक शौर्य एवं वैभव की गाथा वर्णित है। वर्मा जी ने झाँसी की रानी उपन्यास में झाँसी के किले के साथ-साथ तालबेहट, ओरछा और बरुआ सागर इत्यादि शहरों एवं उसके किले का सौन्दर्य वर्णन किया है तो वहीं कवचनार उपन्यास में धामौनी के किले के विशाल रूप को चित्रित किया है। धामौनी के विषय में वर्मा जी लिखते हैं—“धामौनी एक उजाड़ बीहड़ है, परन्तु इतिहास और परम्परा का एक चमत्कार उसे धेरे हुए है।”¹² वृन्दावनलाल वर्मा ने बुन्देली भाषा में प्रयोग किये जाने वाले शब्दों को अपने ऐतिहासिक पात्रों के मुख से जीवन्त कर दिया है। बुन्देलखण्ड और उससे जुड़े इतिहास उनके अधिकांश उपन्यासों में प्राप्तानुसार अभिव्यक्त हुआ है। इन्होंने अपने अधिकांश उपन्यासों में बुन्देली लोकजीवन और बुन्देली लोक संस्कृति को उसके ऐतिहासिक प्रसंगों के अनुकूल भाषा अभिव्यक्त किया है। उनके अधिकांश पात्र बुन्देली भाषा एवं संस्कृति में रखे बसे हैं।

वर्मा जी के लगभग सभी उपन्यासों में प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण है। यहाँ की झीलें और प्राकृतिक वातावरण दर्शकों को आकर्षित और मंत्रमुग्ध कर लेता है। जिस प्रकार सुमित्रानंदन पन्त प्रकृति के सुरम्य वातावरण में बैठकर प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य को निहारा करते थे, उसी प्रकार वर्मा जी भी प्रकृति के प्रति गहरी आत्मीयता रखते थे। भुवन विक्रम उपन्यास में वे लिखते हैं—“अस्ताचलगामी सूर्य की कोमल किरणों पर आश्रमों के हवन के धुआं का पुंज ओढ़नी-सी उढ़ा रहा था। वृक्षों की लम्बी छाया हरी सुनहरी दूबा पर मंथर पवन के झोकों के साथ मन्द-मन्द धिरक रही थी। कहीं-कहीं से आने वाला ऋचाओं का गान चिड़ियों की चहक के साथ गुंथकर उस छाया को स्फूर्ति सी दे रहा था।”¹³ लोक गीत लोक संस्कृति का दर्पण है और मानव हृदय की अभिव्यक्ति भी है। संगीत वर्मा जी के जीवन का अभिन्न अंग रहा है। संगीत के प्रति प्रेम को अपनी आत्मकथा अपनी कहानी में वे लिखते हैं—“मुझे गाने व बजाने का शौक रहा है। अकस्मात् उस्ताद आदित खां से भेंट हो जाती है जिससे उनको संगीत के प्रति इच्छा को और भी बल मिला। दैनिक कार्यक्रम में संगीत भी एक

अनिवार्य अंग था। संध्या के समय घूमने ठहलने के बाद संगीत की बैठक होती थी जो रात के बारह बजे तक चलती थी।”¹⁴ लोकगीत तो बुन्देलखण्ड की आत्मा है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यत तक के संस्कारों में लोकगीतों की संगीतमय धुन मंत्रमुग्ध करती है। मृगनयनी उपन्यास में इनके संगीत प्रेम का सर्वोच्च रूप दिखाई देता है। उनके वास्तविक जीवन का साथी उस्ताद आदिल खां ही के मृगनयनी का बैजूबावरा है।¹⁵ वसन्त ऋतु में बुन्देलखण्ड की प्रकृति अपने रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियों एवं अनुपम छटा से सभी का मन आकर्षित करती है। होली के अवसर पर जाति-पाँति एवं भेद-भाव से रहित होकर सभी एक दूसरे पर रंगों की बौछार करते हैं और दोपहर बाद मंदिर में एकत्रित होकर स्त्री-पुरुष मिलकर यह गीत गाते हैं—‘जाग यरी मैं पिय के जगाये, भाग जगे पिय मोरे घर आये/उस नैन में नींद कहाँ है, जिन नैन में आप समाये।’¹⁶ साथ ही मन्दिर का पुजारी भी पूजा के पश्चात् प्रसाद के रूप में लाल रंग से सबके ऊपर छीटें मरता है और एक लोकगीत गाता है—‘उरझौ न श्याम कही मानों/ फट जैहें चुनरिया जिन तानों/कंस राजा को राज बुरो है/गोकुल की गुजरिया मत जानो/उरझौ न श्याम कही मानों।’¹⁷

बुन्देली संस्कृति में विभिन्न पर्व, उत्सव एवं ऋतुओं के आगमन का संकेत जनता लोक गीतों से करती है। विराटा की पद्मिनी उपन्यास में दुर्गा कही जाने वाली कुमुद को नरपति प्रणाम करता है और अपना अपराध स्वीकार करते हुए देवी स्वरूप कुमुद से वरदान की कामना करते हुए यह गीत गाता है—‘मलिनिया, फुलवा ल्याओ नंदन वन के/बीन-बीन फुलवा लगाई बड़ी रास/उड़ गये फुलवा रह गई बास/मलिनिया, फुलवा ल्याओ नंदन वन के।’¹⁸ लोक, जीवन का साक्षात् दर्पण होता है और लोकगीत मानव मन की अभिव्यक्ति का माध्यम। किसी भी समाज की स्थिति, नारी का स्थान, लोक की संस्कृति का माध्यम लोकगीत ही होता है। वर्मा जी के उपन्यास ‘झाँसी की रानी’, ‘कचनार’, ‘रामगढ़ की रानी’ इत्यादि उपन्यासों में भी लोकगीतों का प्रयोग प्रमुखता से हुआ है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, सूदखोरी, शोषण, अत्याचार और महाजनों के चंगुल में फंसा समाज लोकगीतों के माध्यम से गढ़कुंडार उपन्यास में अपनी व्यथा-कथा कहता है—‘भैया ऐसे ई डाके डारे गुनिया वैद्य सर्वाई जुरि आये, ओखत बूटी सवारे/पहले रूपया लेयं सगुन को/ पीछे नवज निहारे/देवे रूपया लिखे सवाय दूने।’¹⁹

भारतीय समाज और संस्कृति में अनेक अनुष्ठान एवं रीति-रिवाज घुले-मिले हैं, जिनका निर्वाह जन्म से लेकर

मृत्यु पर्यंत तक अनेक संस्कारों के माध्यम से दैनिक जीवन में किया जाता है। ये संस्कार पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं। इसलिए जनमानस इसकी अवहेलना नहीं कर पता है, क्योंकि इससे उनकी आस्था एवं भावनाएं जुड़ी रहती हैं। चूँकि, बुन्देली संस्कृति एवं रीति-रिवाज भारतीय सिद्धांतों पर आधारित हैं, इसलिए वर्मा जी भी अपने उपन्यासों में इसकी अवहेलना नहीं कर पाए हैं। बुन्देली जनता जीवन में उत्त्लास के लिए अनेक पर्व एवं उत्सवों का आयोजन करता है और इन उत्सवों के अवसर पर रीति-रिवाज एवं परम्पराओं का पालन भी किया जाता है। कचनार उपन्यास में अक्षय तृतीया का पर्व इस प्रकार मनाया जाता है—“अक्षय तृतीया के आने पर समृद्ध पुरुषों के यहाँ दाल, चावल, दही, पकौड़े, कट्ठी और समूदी रोटी बनाई जाति है, जबकि गरीब के यहाँ केवल चावल ही बनाया जाता है। देवी-देवताओं की पूजा की जाति है, महिदारों और नौकरों को हल्दी के टीके लगाकर खिलाया-पिलाया जाता है। खेत में हल से एक कूँड़ डाला गया। तीसरे पहर उपरान्त, जब थोड़ी-थोड़ी तु चल रही थी स्त्रियाँ चने के भीगे हुए दाल और बताशे लेकर निकल पड़ीं। एक दूसरे को गाते-गाते बाटे। लड़कियों और लड़कों ने आक के अधिखिले फल तोड़े और जिनका परस्पर नाता भाई बहिन का या इससे मिलता जुलता न था, एक दूसरे पर फेंके।”¹⁰

बुंदेलखण्ड में विवाह के समय अनेक परम्पराओं का निर्वाह किया जाता है। राजगोड़ों में विवाह के समय मछली बेघने की प्रथा है, जिसका निर्वाह वर पक्ष एवं वधू पक्ष दोनों के यहाँ होता है—“धातु की कुण्डी में पानी भरा गया, उसमें आटे की मछली बनाकर डाली गई। छोटे से तीर-कमान दलीपसिंह और उसकी दुलहिन के हाथ में दिए गए। मछली एक डोर से बंधी थी। डोर एक स्त्री के हाथ में थी। वह आटे की मछली इधर-उधर घुमा रही थी। वर-वधू बेघने के लिए अपने छोटे-छोटे तीर छोड़ने लगे। यह नेग लड़की वाले के घर पर भी किया गया था। बारात लौटने पर यहाँ भी किया गया।”¹¹ इसके साथ ही बुंदेलखण्ड में वैवाहिक रीति में टीके की प्रथा का भी निर्वाह किया जाता है, इसमें जब तक वर का पिता कन्या पक्ष के यहाँ भोजन नहीं कर लेता तब तक इस रस्म को पूरा नहीं माना जाता है। नव वधू का सुसुराल पहुँचने पर नाम परिवर्तित करने की भी प्रथा है इसलिए मनु को लक्ष्मीबाई और निन्नी को मृगनयनी नाम दिया गया।

वसन्त ऋतु का पर्व बुंदेलखण्ड में अत्यंत उत्साह के साथ मनाया जाता है। चैत्र नवरात्रि में गौर की प्रतिमा

स्थापित की जाती है, प्रतिमा को फूलों और आभूषणों से विभूषित कर दिया जाता है। यह उत्सव हरदी-कूँकूँ के नाम से जाना जाता है। यह यहाँ का लोकपर्व है। यह पर्व स्त्रियों का होता है जिसमें प्रत्येक वर्ग की स्त्री भाग लेती है, स्वयं झाँसी की रानी अत्यंत उत्साह से अपने प्रजा और दासियों के साथ इस उत्सव में सहभागिता करती हैं—“हरदी-कूँकूँ के उत्सव पर सधावा स्त्रियाँ एक-दूसरे को रोरी का टीका लगाती हैं और उनको किसी न किसी बहाने अपने पति का नाम लेना पड़ता है।”¹² इनके उपन्यासों में होती का पर्व भी अत्यंत उत्साह एवं धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। होती का उत्सव रंगपंचमी यानि पांच दिन तक मनाई जाति है—“धूँघट डाले हुए गाँव की नव बधुएं भीतर से अहसास करते हुए एक दूसरे पर मटीलापानी, गोबर और कीचड़ डालती हैं। नाते में देवर लगाने वाले पुरुषों को कीचड़ से सराबोर करने पर ही शान्त होती हैं, जिनकी गांठ में पैसा नहीं होता वे होती को रंग के स्थान पर कीचड़ और गंदे पानी से मनाते हैं। भाई-बहन के बीच यह रिवाज नहीं होता।”¹³

वर्मा जी के उपन्यासों में रीति-रिवाज एवं परम्पराओं का निर्वाह अनेक उपन्यासों में हुआ है। नव गृह प्रवेश का रिवाज बुंदेलखण्ड में आधुनिक रीति-नीति के साथ किया जाता था। गूजरी महल का निर्माण राजा मानसिंह ने अपनी प्रिय रानी मृगनयनी के प्रेम के प्रतीक के रूप में करवाया था, जिसे आज ग्वालियर का सबसे पुराना संग्रहालय भी माना जाता है। गूजरी महल एवं मान-मंदिर के निर्माण के पश्चात् उसके “गृह प्रवेश के लिए होती के उत्सव की रंग-पंचमी का मुहूर्त रक्खा गया। होती के उत्सव में जनता वैसे ही मस्त थी, रंग-पंचमी के दिन तो मस्ती में ढूबने-उतराने लगी। मान-मन्दिर और गूजरी महल के साथ जनता के मन का अपनापन स्थापित था। सैनिकों ने केसरिया साफे बांधे, नगर की अन्य स्त्रियाँ रंग-विरंगेपन में फूट पड़ीं, प्रसिद्ध गायक बैजू भी बीणा वादन कर सरस्वती की वंदना की।”¹⁴

हमारी भारतीय संस्कृति में युद्धों का विशेष महत्व रहा है और स्वाधीनता संग्राम में आल्हा गाथा का प्रभाव असाधारण था। डॉ. विद्या सिन्हा लिखती हैं—“आल्हा लोक की जीवनी शक्ति और ऊर्जा का महाकाव्य है, यद्यपि आल्हा की मूल गायकी बनाफरी बुन्देली में है, लेकिन बुन्देली में ही उसकी कई वर्णन शैलियाँ हैं। इतना ही नहीं बैसवाड़ी, कन्नौजी, अवधी इत्यादि लोक भाषाओं में भी अलग अलग वर्णन शैलियों की शृंखला है। इनकी विभिन्न शैलियों में हर जनपद की भाषाएं मुहावरे और मिजाज के साथ वहाँ की

लोक संस्कृति और लोक चेतना में इतनी घुलमिल गई है कि वह उस लोक की अपनी कथा बन गई है। यह परम्परा लोककवि जगन्निक के आल्हा गायन से प्रारम्भ हुई थी ।¹⁵ आल्हा की जीवनी शक्ति कहीं न कहीं वर्मा जी को भी प्रेरित करती है, उन्होंने युद्धों का सजीव चित्रण अपने कई उपन्यासों में प्रमुखता से किया है। ज्ञांसी की रानी लक्ष्मीबाई सभी महिलाओं की आदर्श हैं। उनकी वीरता का वर्णन वर्मा जी ने झाँसी की रानी उपन्यास में इस प्रकार किया है—“रानी ने घोड़े की लगाम अपने दातों में थामी और दोनों हाथों से तलवार चलाकर अपना मार्ग बनाना आरम्भ कर दिया और दुहत्थे तलवार से आगे का मार्ग साफ करती चली जा रही थी। अंततः युद्ध करते-करते रानी हर हर महादेव का उद्घोष करते हुए वीर गति को प्राप्त होती है।”¹⁶

निष्कर्षतः हम देख सकते हैं कि बुदेलखंड के जीवन एवं संस्कृति का प्रामाणिक अध्ययन वर्मा जी के उपन्यासों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उपन्यास साहित्य एक ऐसा माध्यम है जिसके माध्यम से किसी भी क्षेत्र के भाषा, साहित्य एवं लोक संस्कृति का परिचय समग्रता से मिलता है। इनके उपन्यासों में विवाह, पर्व, लोकगीत, लोकरीति, संस्कृति, लोकभाषा, युद्ध और पात्रानुकूल भाषा का निर्वाह गहराई से हुआ है। साथ ही उस क्षेत्र के जनजीवन, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक संरचना की विशिष्टता का भी ज्ञान होता है।

संदर्भ सूत्र

- भारतीय संस्कृति का उत्थान, डॉ. रामजी उपाध्याय, रामनारायण लाल प्रकाशक, इलाहाबाद, पृ. 7
- अपनी कहानी, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 7, पृ. 825
- भुवन विक्रम, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी भाग 5, पृ. 130
- अपनी कहानी, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ

- प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 7, पृ. 747
- वही, पृ. 759
 - मृगनयनी, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 3, पृ. 561
 - वही, पृ. 567
 - विराटा की पदिमनी, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 1, पृ. 806
 - गढ़कुंडार, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 1, पृ. 76
 - कचनार, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 3, पृ. 51
 - वही, पृ. 6
 - झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 2, पृ. 161
 - मृगनयनी, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 3 पृ. 566
 - वही, पृ. 765
 - विद्या सिन्धा, भारतीय साहित्य परंपरा और परिदृश्य, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, पृ. 82
 - झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, वृन्दावनलाल वर्मा समग्र, सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., पिशाच मोचन, वाराणसी, भाग 2, पृ. 347

—डॉ. शशिकला

एसो. प्रो., हिन्दी विभाग
वसन्त कन्या महाविद्यालय,
कमच्छा, वाराणसी

Email: shashi.bhu10@gmail.com

Mob. Number. 7376558390

निराला का काव्य और भारतीय संस्कृति

—प्रज्ञा मिश्रा

संस्कृति के व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध विद्वान् का मत है—‘संसार भर में जो सर्वोत्तम बातें जानी जाती या कहीं गयी हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है। संस्कृति को शारीरिक मानसिकता का दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था कहा है तो किसी ने इसे दृढ़ीकरण या विकास अथवा इसे सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना माना है।’¹ भगवत् शरण उपाध्याय संस्कृति को सामाजिक संदर्भ प्रदान करते हुए लिखते हैं—“संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से अधिक है। जब आदमियों का दल-समाज एक ही रीति से कुछ करता है, एक ही विश्वास रखता है, एक ही प्रकार के आदर्श सामने रखता है, अपने पुरुषों के कामों को सामान्य रूप से आदर, गर्व और गौरव की चीज समझता है, तब संस्कृति का जन्म होता है। संस्कृति आदमी के सामाजिक जीवन का प्राण है।”² संस्कृति के अन्तर्गत मानव के अविष्कार, निर्माण-कला, संस्थाएं, सामाजिक संगठन, कला-साहित्य, धर्म, विचार आदि विषय आते हैं। सामाजिक नेतृत्व का उद्देश्य अपनी विशिष्ट अध्ययन प्रणाली द्वारा मानव जाति के भिन्न शाखाओं और समूहों की इसी संस्कृति का अध्ययन है।

संस्कृति का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है और मनुष्य के अन्दर जन्म से ही ग्रहण करने की योग्यता होती है। संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह सीमित क्षेत्र या किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं है। संस्कृति मानव के उन कार्यों से सम्बन्धित है, जो कार्य व्यक्ति पूरे मानव सम्प्रदाय के लिए करता है। उससे उसको व्यक्तिगत हानि या लाभ से कोई विशेष सरोकार नहीं रहता है। सभ्यता समाज का बाह्य व्यवसाय है तो संस्कृति मनुष्य का आंतरिक विकास है। संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के उन कार्यों से है जिनका उसके व्यक्तिगत हानि-लाभ से कम से कम सम्बन्ध है। इसकी जगह उन कार्यों का सम्बन्ध व्यापक से व्यापकतर क्षेत्र के लोगों के साथ होता है। इसका आशय यह है कि जब आप अपने लिए कोई कार्य करते हैं तो वह सांस्कृतिक कार्य के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। सांस्कृतिक कार्य तो वह होगा जिसे आप अधिक लोगों के लिए करें।

निराला के अद्वैतवादी चिन्तन की परिणति उनकी उदात्त सांस्कृतिक दृष्टि में होती है। यही चिन्तन राष्ट्रीय व चेतना का मूलाधार है। अद्वैतवाद से प्रेरित होकर निराला प्राणिमात्र की एकता के सूत्र को पहचानते थे और इसी के आधार पर

नव-मानवता का निर्माण करना चाहते थे। वे एक ऐसी संस्कृति के पक्षधर थे जिसमें मनुष्य जाति, वर्ण तथा देश की सीमाओं से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र की एकता को पहचान सके। लोक सेवा और लोक कल्याण ही इस संस्कृति का आधार है। भारतीय सांस्कृतिक जागरण की दिशा में निराला विवेकानन्द से सर्वाधिक प्रभावित थे। उन्होंने अद्वैतवाद को व्यावहारिक रूप देकर लोक सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाया। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक रुद्धियों तथा अन्ध विश्वासों का खण्डन करके मानव-मात्र की रचना के सूत्र को पहचानने का आह्वान किया। भौतिकवाद के जर्जर युग के समक्ष उन्होंने भारतीय अध्यात्म का आदर्श उपस्थित किया। विवेकानन्द ने अपने शिकागो भाषण द्वारा उन्होंने पश्चिमी देशों में भारत की श्रेष्ठता सिद्ध की। निराला काव्य पंक्तियों में लिखते हैं—बहुत काल बाद /अमेरिका धर्ममहासभा का निनाद विश्व से सुना/ कौपी संतुति की थी दरी/गरजा भारत का वेदान्त केसरी ।⁴

अपनी ‘सेवा प्रारम्भ’ कविता में निराला जी ने एक और मानवता का संहार करने के लिए विज्ञान द्वारा अविष्कृत घातक अस्त्रों का, सभ्यता को डंसने वाले राजनीति जागीरी का उल्लेख किया है तो दूसरी ओर विवेकानन्द के आध्यात्मिक मानवतावाद का भी उल्लेख किया है। इसी कविता में उन्होंने रामकृष्ण मिशन के सिद्धान्तों में अपनी आत्मा व्यक्त की है। भारतीय अध्यात्म की ओर लौटने के लिए विश्व का आह्वान किया। भारतीय अध्याय में ही उदार मानवतावाद का तत्व निहित है। विवेकानन्द का यह आह्वान लोकमंगल और विश्व कल्याण की भावना का विकास इसी से सम्भव है। मानवतावादी द्वृष्टि और प्राणिमात्र की एकता के निरूपण के कारण निराला को भारतीय संस्कृति पर गर्व है। इस संस्कृति ने वस्तु से अधिक आत्मा को महत्व देकर जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित की। इसी संस्कृति ने ध्रुव पदार्थों में भी विराट ब्रह्म के दर्शन किये। जड़वाग्रस्त वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति की इन विशेषताओं को अनेक स्थलों पर निराला ने निरूपित किया है। एक ब्रह्म ही सृष्टि के जड़-चेतन में परिव्याप्त है। उसी के संकेत पर सृष्टि के जड़ चेतन परिव्याप्त की समस्त क्रियाएं संचालित होती है—‘मैं ही हूँ आदि कवि/मेरा ही शक्ति के रचना-कौशल में हूँ/जड़ और जीव सारे/मैं ही खेलता हूँ शक्ति रूपा निज माया से एक, होता अनेक में/देखने केलिए सब अपने स्वरूपों को।’⁴

भगवान बुद्ध के प्रति कविता में कवि ने जड़वाद जर्जरहित वर्तमान भौतिकवादी युग में भगवान बुद्ध की

करुणा की अवतरित होते देखा है। उनकी करुणा से ही विनाश के कगार पर खड़ी मानवता की रक्षा हो सकती है। सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर है। सभी मानवीय मूल्य नष्ट हो गये हैं। मनुष्य का लक्ष्य मात्र अर्थ रह गया है। पृथ्वी, जल और आकाश को रेल तार, बिजली जलयान तथा नययानों से भरकर राष्ट्र एक दूसरे से भिड़ रहे हैं। विश्वमन कालुष्यव से भर गया है। युद्ध के अवतरित होने पर विरोधी भाव तिरोहित हो गये और मानव करुणाप्लावित हो गया। भौतिकता के सभी कलुष बुद्ध की करुणा में धुल गये—“फूटे शत शत उत्स सहज मानवता जल के यहाँ/ वहाँ पृथ्वी पर सब लोकों में छलकें/छलके, बल के पंकिल भौतिक रूप अदर्शित/हुए तुम्हीं से, छुइ तुम्हीं से ज्योति प्रदर्शित।”⁵

निराला ने रामायण और महाभारत कालीन संस्कृति की नवीन व्याख्या की है। बाल्मीकि ने सर्वप्रथम वेदों की लोक छोड़कर छन्दों में काव्य रचना की, मन्त्रों को छोड़कर उन्होंने मानव को मान दिया। धरती पुत्री सीता की व्यथा कथा को पहली बार बाल्मीकि ने रखा। कृष्ण ने भी देवताओं की अपेक्षा पृथ्वी, मनुष्य और पशुओं को महत्व दिया। इन्द्र की जगह गोवर्धन की पूजा करायी। मानव को, गायों और बैलों को मान दिया। हल को हथियार बनाकर बलराम ने खेती को महत्व दिया।

वर्तमान युग में अपनी संस्कृति और महान परम्पराओं के विस्मरण से कवि क्षुब्ध है। हमारी जो विरासत है कवि खंडहर के रूप में देखता है। वह खंडहर आज अपनी सन्तति से निवेदन कर रहा है—किया, हे यशो राशि/कहते हो आँसू बहाते हुए/आर्त भारत! जनक हूँ मैं/जैमिनी-पतंजलि-व्यास ऋषियों का/ मेरी ही गोद पर शैशव विनोद पर /तेरा ही बढ़ाया है मान/रामकृष्ण भीमार्जुन-भीष्म नरदेवों ने/तुमने सुख फेर लिया/ सुख की तृष्णा से अपनाया है गरल/तो बसे लव छाया में/नव स्वत्व ले जगे/भूले वे मुक्त प्रान, ज्ञान गान सुधा-पान।⁶

निराला भारत के सांस्कृतिक पवन पर आंसू ही नहीं बहाते, इन महान परम्पराओं के प्रति जागरूक रहने का सन्देश भी देते हैं। भारत का पुनर्निर्माण यहाँ की संस्कृति के आधार पर ही होता है। इसीलिए निराला, संस्कृति को इतना महत्व देते हैं। सांस्कृतिक संकट के क्षणों में भारत ने इससे उबरने की चेष्टा की है। ‘जागो फिर एक बार’ कविता में निराला ने आध्यात्मिक जागरण की ओर संकेत किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यहाँ तृतीय क्षेत्र की ज्योति से काम ध्वस्त हो गया था। तीनों गुण-तीनों ताप भस्म हो गये थे। मनुष्य कभी सप्तावरण से मुक्त मरण लोक का

भेदन कर रहा था। भारत के लिए पुनः यह जागरण आवश्यक है। कवि ने मनुष्यों की कायरता, कामुकता त्यागकर उन्हें अपनी छिपी शक्तियों को पहचानने का अनुरोध किया है। वह बन्धनों में रहने वाला नहीं अपितु स्वभाव से मुक्त साक्षात् ब्रह्म है। उसे नश्वर मानना हीन भावना का घोतक है। वह सम्पूर्ण विश्व उसके पद रज के बराबर भी नहीं है। निराला की सांस्कृतिक चेतना राष्ट्रीयता के अंग के रूप में व्यक्त हुई है। संस्कृति राष्ट्र का आधार स्तम्भ है। निराला को भारतभूमि पर भी गर्व है। उन्होंने अपनी प्रथम मकविता में जन्मभूमि की वन्दना की है और इसे जगन्महरानी कहा है—बन्दू में अमल-कमल-चिर सेवित चरण-युगल-शोधामय शान्तिनिलय पाव तापदारी/मुक्त बन्ध, घनानन्द मुद मंगलकारी/अधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी/जन्म भूमि मेरी है जगन्महरानी।

संस्कार और संस्कृति से राष्ट्र समृद्ध होता है। जनसमुदाय का स्पन्दन ही राष्ट्र का स्पन्दन है। निराला का समस्त विन्तन इसी दिशा में केन्द्रित है। इसीलिए वे जन जागरण करते हैं। इसके लिए वे अतीत की सांस्कृतिक गरिमा और वर्तमान विपन्नता के चित्र अंकित करते हैं। देश के युवकों को देश के उत्थान के लिए जगाते हुए निराला कहते हैं—जागो है त्याग तरण/प्राची के, उगो, अरुरण/दृग-दृग से मिलो, खिलो पुष्प पुष्प वन्य प्राण।⁸

निराला की अभिलाषा है कि देश के कण्ठ में जो समाधान रूद्र हैं, वह फिर से जाग उठे। निराला देश के निष्क्रिय जीवन से खिन्न हैं। पारिस्थितियों के प्रति उदासीनता देशवासियों की दुरावस्था का कारण है। गलित परम्पराओं में संलग्न होने के कारण नवनिर्माण की चेष्टा ही समाप्त हो गयी है। कवि इन जीर्ण-शीर्ष परम्पराओं को भस्म कर देश का नवनिर्माण करना चाहता है—दुःख भार भारत तम केवल/वीर्य-सूर्य के ढके सकल दल/खोलो उषादल निज कर अयि/छियमयि दिन मणि के।⁹ निराला जनता को उसके प्राचीन गौरव से परिचित कराते हैं। वे जनता को अपनी शक्ति का परिचय कराते हैं। भारत वर्ष में ही गुरु गोविन्द सिंह ने प्रतिज्ञा की थी कि एक-एक व्यक्ति सवा लाख शत्रुओं के समान होगा। उन्हीं शेरों की मौदं में आज स्यार घुस आया था। सिंहनी की गोद से उसका शिशु छीना जा रहा है और मेष माता के समान भारत माता चुपचाप देख रही हैं। निराला यह अनुभव करते हैं कि भारत की पराधीनता का कारण अपनी छिपी शक्तियों को न पहचानना ही है। एक जागरूक देश जिसकी परम्पराएँ इतनी महान हों, गुलाम नहीं रह सकता। भारत ने बहुत पहले कहा था कि योग्य व्यक्ति ही जीवित रहता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन

को क्लीवता त्यागकर युद्ध करने का उपदेश दिया था—‘योग जन जीता है/पश्चिम की युक्ति नहीं/गीता है, गीता है स्मरण करो बार-बार/जागो फिर एक बार।’¹⁰

निराला भारतीय संस्कृति के पोषक कवि हैं। सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के लिए उन्होंने स्वराष्ट्र और स्वशासन की कल्पना की है। वे भारतीय संस्कृति और राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना चाहते थे। उनका यह स्वरूप विराट एवं व्यापक है। इसमें अतीत की गरिमा का गायन है, वर्तमान दुरावस्था का कारूणिक चित्र है तथा इसके पुनर्निर्माण की चिन्ता है। सांस्कृतिक आधार के कारण इसका स्वरूप मानवतावादी है। भारत को अपनी आध्यात्मिक संस्कृति पर गर्व है। आध्यात्मिकता के कारण इसका आदर्श विश्वबन्धु और विश्वकल्याण से अभिमंडित है। युद्ध-जर्जर वर्तमान युग में भारत की आध्यात्मिक संस्कृति विश्व का मार्ग आलोकित करने में समर्थ है। निराला वर्तमान दयनीय स्थिति से क्षुब्ध भी होता है। वह बार-बार यहाँ की जनता को अतीत की गरिमा का बोध कराते हुए स्वाधीनता के लिए संघर्ष का आवान करता है।

जन सामान्य के बीच प्रचलित रीति-रिवाजों और लोकाचार के अन्तर्गत व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय, पर्वोत्सव, धार्मिक-आचरण, नैतिक आचरण, भौगोलिक विशेषताएँ, वेशभूषा, रहन-सहन, समाज के चित्र आदि आते हैं। लोक मानस में अनेक प्रकार के परम्परागत रीति-रिवाज प्रचलित हैं। लोक-मानव अतीत से चले आ रहे रीति-रिवाजों को अपने कर्मों का अनिवार्य हिस्सा मानकर उसे यथावत क्रियान्वित करना चाहता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि अपनी पहचान और अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे लोकाचारों को मानना पड़ता है।

संस्कारगत रीति-रिवाज में निराला के यहाँ विवाह और अंतेष्टिगत रीति-रिवाजों का उल्लेख है। उनके यहाँ लौकिक प्रथाओं के अन्तर्गत विवाह, गौना, खेल, दंगल आदि का वर्णन हुआ है और व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित लोक रीति में पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी भाई-बहन आदि के सम्बन्ध भी। निराला की रचना ‘तुलसीदास’ और सरोज स्मृति में लोकरीति के बृहद स्वरूप का पता चलता है। लोक में विवाह के बाद गौना का प्रचलन उत्तर भारत में था। गौना कराने के बाद लड़की कुछ दिन ससुराल रहकर मायके वापस जाती है किन्तु तुलसी की पत्नी रलावली कई वर्ष तक मायके नहीं जा सकी अथवा तुलसीदास ने उन्हें जाने नहीं दिया। उनका भाई रलावली की विदाई कराने आया है, किन्तु विदाई का कोई लक्षण नहीं दिखता, वे कहते हैं—तुझसे पीछे भेजी जाकर/आई वे कई बार

नैहर/पर तुझे भेजते क्यों श्रीवर जी डरते/हम कई बार
आ-आकर घर/लौटे पाकर झूठे उत्तर/ क्यों बहन नहीं तू
सम, उन पर बल करते? ¹²

निराला की कविताओं में लोक-विधान का वर्णन अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से हुआ है। इससे कवि की गहरी लोक संपृक्तता का पता चलता है। लोक की धड़कन और पहचान को अभिव्यक्त करना कवि की शक्ति और उसकी जनता के बीच गहरी पैठ का प्रमाण है। निराला ने प्रगतिशीलता के झोंके में बहकर अपने को लोक जीवन से अलग नहीं रखा, न ही भारतीयता का त्याग ही किया। उनके लिए प्रगतिशीलता की स्वीकृत भारतीयता की शर्तों पर ही सम्भव थी। इसी कारण वे भारतीय अध्यात्म दर्शन, धर्म साधना आदि को निरंतर साथ लेकर गतिशील होते हैं। अपनी एक रचना में वे कहते हैं—बड़ा गामियाना तना,
तोरण बनाये गये/द्वारा पर दोनों ओर कलस रखे गये/जलपूर्ण
से दूर स्वास्तिक खींचकर/आप्र पल्लव धान भरी परई/कच्चा
छोटा नारियल रखकर ¹³

लोक-जीवन की छठा कालान्तर में हमारी संस्कृति का एक अंग बन जाती है। भारतीय संस्कृति में तरह-तरह के मेले, उत्सव, खेल, तमाशे होते आये हैं। इन नाच, तमाशों, मेलों, त्योहारों में जनता अपने विषाद को भुलाकर, जीवन में उत्साह का संचार करती है, नवजीवन प्राप्त करती है। जिस समाज में इसका अभाव होता है, वह समाज जीवित लाश का पुंज है। बहुत दिनों की लगातार मूसलाधार बरसात के बाद जब धूप निकलती है तो ग्रामवासी प्रसन्न होकर किस तरह क्रियाशील हो उठते हैं। उनके भीतर जोश, उमंग और हर्षातिरेक की चरम परिणति का चित्र देखिए—लोक गाँव-गाँव को चले/कोई बाजार, कोई बरगद के पड़े तले/जांधिया, लंगोटा से संभले/ तगड़े सीधे नौजवान/

इसी के साथ ही ग्राम की किशोरियों के भीतर हर्ष और उल्लास की स्थिति भी कोई कम नहीं है—पनघट में बड़ी भीड़ तो रही/नहीं ख्याल आज कि भीगेगी चुनरी/बाने करती हैं वे सब खड़ी/चलते हैं नयनों के सीधे बान/” ¹³ किसी भी समाज या व्यक्ति के आचरण की झलक तत्कालीन लोक-साहित्य में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, क्योंकि इसमें उसकी यथार्थ झाँकी प्रस्तुत होती है, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उस काल के लोक मानव से होता है। लोकमानव का धर्म से आदिम सम्बन्ध जुड़ता है, जैसे सृष्टि के निर्माण

की प्रथम बेला से आरम्भ करके आज तक वह सूर्य के प्रकाश एवं प्रखरता का, चाँद की शीतलता का अनुभव करता आ रहा है, तभी से इन अद्भुत शक्तियों के प्रति पूज्यभाव उसके भीतर भर उठा होगा। भारतीय समाज में धार्मिक आचरण के लैकिक रीति-रिवाज आज के जन साधारण के बीच भी प्रचलित है, जिसका धर्म शास्त्रों में उल्लेख नहीं है। वे निष्ठापूर्वक जनता की धड़कन बने हैं।

प्रत्येक समाज में सेवा, त्याग, मर्यादा, विनय, शिष्टाचार, आचार-विचार, विधि-विधान कुछ ऐसे विशिष्ट तत्वों का प्रचलन होता है, जिसे समाज के लिए कल्याणकारी होने के कारण हम इस प्रकार के आचार-व्यवहार को आदर्श स्वरूप स्वीकार करते आये हैं। हर एक समाज अथवा राष्ट्र के रीति-रिवाज तथा आचार-विचार से उस समाज अथवा राष्ट्र की सांस्कृतिक गरिमा का बोध होता है। निराला के साहित्य में आदर्श एवं शिष्टाचार के अनेक रूप दिखाई देते हैं।

संदर्भ सूची

- ए साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल सायनसेज, भाग- 3-4, पन्द्रहवाँ (मैक मिलन कम्पनी 1963, पृ. 11
- भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति की कहानी, प्रथमा वृत्ति, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, 1955, पृ. 56
- निराला-रचनावली, सेवा प्ररम्भ, भूमिका, पृ. 355
- निराला-रचनावली, भाग-1, गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने की, पृ. 338
- निराला-रचनावली, भाग-1, बुद्ध के प्रति, पृ. 312
- वही, (खंडहर के प्रति) पृ. 81
- वही, जन्मभूमि, पृ. 39
- वही, (फूटो फिर) पृ. 267
- वही, (फूटो फिर), पृ. 267
- वही, पृ. 306
- वही, पृ. 10
- वही, पृ. 296
- वही, पृ. 378
- पद्मावत में लोकतत्व, डॉ रवीन्द्र भ्रमर, पृ. 151

—प्रज्ञा मिश्रा

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर
E-mail: dpragyamishra@gmail.com

पद्मा शर्मा की कहानियों में नारी पात्रों की मनःस्थिति का विश्लेषण

—कृष्ण कुमार थापक
—डॉ संगीता पाठक

पद्मा शर्मा के कथा साहित्य में नारी के विविध रूपों का चित्रण है। कहीं पुरुष द्वारा प्रताड़ित है, तो कहीं पुरुष की प्रेरणा है, कहीं अस्तित्व की तलाश में भटकती मुक्ति की आकांक्षीय, कहीं सरल प्राणी गृहिणी है, कहीं मानवता की प्रतिमूर्ति है और कहीं विद्रोह व्यक्तित्व की स्वामिनी, इन सब के केंद्र में नारी है। पद्मा शर्मा का नारी के प्रति दृष्टिकोण और उनका अपना विमर्श है। पद्मा शर्मा की रचनाएँ अपनी अनुभूति पर आधारित हैं इसलिए उनकी रचनाओं में जीवन की वास्तविकता का चित्रण देखने को मिलता है। घटनाओं की सत्यता एवं पात्रों की सच्ची बातें यह उनके साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। पद्मा शर्मा ने अपनी विभिन्न कहानियों में विभिन्न नारी पात्रों का चारित्रिक उद्घाटन किया है। यह पात्र आज भी हमें समाज के किसी ना किसी संप्रदाय, वर्ग और अमीर-गरीब में देखने को मिल जाते हैं। साहित्यकार युग सृष्टा व युग द्रष्टा होता है। उसके स्मरण की शक्ति इतनी होती है कि समाज में घटित होने वाली घटनाएँ, उनकी कलम से कागज के कोरे पन्नों में उकेर दी जाती हैं। वे पात्र उनका चरित्र चित्रण स्वभाव चिंतन व विचार के साथ मन में उठने वाले भावों की अभिव्यक्ति भी हमें साहित्यकार के साहित्य में पढ़ने को मिलती है।

पद्मा शर्मा की कहानी ‘कस्तूरी मृग नाहि’ में एक माँ के ममत्व को प्रस्तुत किया गया है। जो माँ अपनी संतान के पालन पोषण में अपनी सम्पूर्ण जिदगी न्योछावर करती है। वही संतान बाद में भोतिकता की दौड़ में इस तरह अंधे हो जाते हैं कि अपनी कैंसर पीड़ित माँ के उपचार के लिए चंदा संग्रहण करते हैं। यह बात सिर्फ इस कहानी में ही नहीं बल्कि वर्तमान के पारिवारिक जीवन की सत्यता है जिसे हम कहानी की नारी पात्र लाजवंती के इस कथन से बखूबी समझ सकते हैं। ‘वह कमरे में आकर रोने लगी। आँसू थे कि थमने का नाम नहीं ले रहे थे। वह सोच रही थी कि जिन लड़कों को मैंने अपना दूध पिला कर बड़ा किया है आज उसकी कीमत लग रही है। जिस स्तन ने उसकी भूख मिटाई है, आज उसी के

ऑपरेशन के लिए चढ़े हो रहे हैं। क्या एक भी बेटा ऐसा नहीं जो कह सकता है कि मैं अपनी माँ का बोझ उठाऊँगा।”¹

पद्मा शर्मा की कहानियों में कोमल मनोभावों से पूर्ण स्त्री पात्र भी हैं। उनकी कहानियों में नारी के कई रूप देखने को मिलते हैं। उसमें से एक रूप सौतेली माँ का भी मिलता है जिसमें अनुराग के मस्तिष्क में यह भर दिया जाता है कि सौतेली माँ कभी अच्छी नहीं होती हैं। इसलिए अनुराग अपनी सौतेली माँ से नफरत करता है। जब वे विद्यालय में अनुराग और उसके मित्र दीपू की वार्तालाप सुनती है, तब वह अनुराग के मन मस्तिष्क में नफरत का भाव मिटाने का संकल्प लेती है। शाम को जब अनुराग आया—“मम्मी ने चाय तैयार कर रखी थी। चाय पीने के लिए उसने ना-नुकुर की तो उन्होंने उसे मनाया और उसकी मनपसंद कॉपियाँ उसे गिफ्ट में दी। चाय पी कर उन्होंने कहा—एक घंटे आराम करो उसके बाद मैं तुम्हें पढ़ाऊँगी। उन्होंने बहुत अच्छी तरह से उसे पढ़ाया और गलतियाँ सुधारने के लिए कहा। उसके बाद आधे-एक घंटे तक उसके साथ सौंप-सीढ़ी, लुका-छिपि आदि खेलती रहीं। रात में जब उसे फिर से खाने के लिए बुलाया गया तो अनुराग आनाकानी करने लगा, तब मम्मी ने प्यार से धमकी देते हुए कहा—यदि तुम नहीं खाओगे तो हम भी नहीं खाएँगे। लो हमारी तुम्हारी आज से कुट्टी। अनुराग जल्दी ही आग्रह को स्वीकार करके खाना खाने के लिए तैयार हो गया। फिर मम्मी ने एक कहानी सुनाई और एक प्यारा-सा गाना कर उसे सुला दिया।”²

पद्मा शर्मा की कहानी ‘दधि, अक्षत और दूर्वा’ में माँ का एक उम्दा स्वरूप देखने को मिलता है। विभिन्न परिवारों का समुच्चय समाज कहलाता है। वह समाज संस्कारित होता है तभी वह मानवीय समाज की भूमिका का निर्वह करता है। हर परिवार में माँ की भूमिका महत्वपूर्ण होती है कि वह अपने बच्चों को कितने अधिक संस्कार प्रदान कर सकते हैं क्योंकि शिशु जब आँखें खोलता है तो उसको सबसे पहले माँ का अस्तित्व दिखाई देता है। और जहाँ तक पद्मा शर्मा की कहानियों में माँ के संबंधों का सवाल है, उनकी कहानियों में संस्कारित माँ के दर्शन होते हैं। जैसा की सर्वविदित संघर्ष के कई थपेड़े सह कर भी वह अपने शिशु का ममतामई दुलार प्रदान करती है। बच्चे भले ही उसे इतना सम्मान ना दे फिर भी वह अपनी ममता से उसे वंचित नहीं रखती है। रामरतन राधिका को समझाते हुए बोले—“राधिका हरेक माँ के लिए पहली संतान बहुत प्यारी होती है, तू अपनी

माँ से कुछ मत कहा कर तू नहीं समझ सकती माँ की।” मगर वह बीच में ही खींचते हुए बोली, “और सबसे छोटी संतान प्यारी नहीं होती?” नहीं ऐसी बात नहीं है “रामरतन हकला गए” छोटी तो प्राणों से भी प्यारी! वैसे तो माँ को सब बच्चे प्यारे होते हैं। जैसे हम अपने शरीर के सभी अंगों को प्यार करते हैं। एक हिस्से में भी तकलीफ होती है तो बेचैन हो जाते हैं।”³

एक माँ का हृदय कभी नहीं चाहता है कि उसकी संतान कभी कष्ट सहन करे। क्योंकि जब बच्चे हंसते हैं तो माँ का भी दिल हंसता है और जब भी बच्चे के चेहरे पर सिकन या आँखों में आँसू आते हैं तो माँ का दिल भी चीत्कार उठता है। रामप्यारी की माँ घबराई हुई थी—“मेरे पैर पकड़कर बोली, बहनजी रामप्यारी को बचाय लो नई तो वो कसाई वाकी जिदगी बर्बाद कर देयगौ। मेरी फूल-सी बच्ची को बचाय लो, कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू बहने तगे।”⁴

पद्मा शर्मा की कहानी ‘हक की जमीन’ में भाई-बहन के रिश्तों का मार्मिक चित्रण किया गया है। आजकल के समय में भाई-बहन की रिश्तों में संपत्ति के कारण होने वाली टकराव से मानसिक कलेश पैदा हो रहा है। उनकी कहानी में बताया गया है कि संपत्ति के लालच में रंजन बहन सुखदा को मृत घोषित कर संपत्ति अपने नाम करा लेना चाहा। समय रहते सुखदा को पता लगने पर वह हक की आवाज उठाती है। संवैधानिक तरीके से पैतृक संपत्ति पर पुत्री का अधिकार होने के कारण उसे जमीन का हिस्सा मिल जाता है और जिससे वह अपनी बहन से रिश्तों का बंधन तोड़ देता है। कुछ समय बाद रंजन की पुत्री जमीन में से अपना हिस्सा माँगती है तब उसकी आँखें खुलती हैं और वह अपनी बहन के यहाँ राखी बनवाने जाता है। सुखदा से राखी बंधवाने के बाद रंजन शगुन अपनी जेब से निकाला तो सुखदा दृढ़ता से मना कर उसे एक नारियल और बॉक्स दिया। स्तब्ध और व्यग्र रंजन बॉक्स खोल देखता है कि उसमें कुछ कागजात और राखियाँ रखी थी। वह कुछ पूछता उससे पहले सुखदा बोल पड़ी, “इसमें वो राखियाँ हैं जो इतने वर्षों से मैंने अपने गुड़े को बांधी थी तेरी कलाई समझकर। और यह कागजात उस जमीन के हैं जिसने बहन को भाई से अलग कर दिया था। कागज लौटाते हुए रंजन बोला, ‘नहीं दीदी इन पर तुम्हारा हक है। मेरा हक तो मुझे मिल गया पगले! ये सौगात मेरी तरफ से अपनी बेटी को दे देना। कहते-कहते सुखदा रंजन के गले लिपटकर रो पड़ी।”⁵ आज के समय में बालिकाओं की संख्या

दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। इसका कारण यह है कि जैसे ही माँ गर्भवती होती है, वैसे ही आयुनिक तकनीक के द्वारा यह पता कर लिया जाता है कि गर्भ में पलने वाली संतान पुत्र या पुत्री। पुत्री का पता लगने पर उसकी गर्भ में ही भ्रूण हत्या कर दी जाती है क्योंकि अधिकतर लोग पुत्र की लालसा रखते हैं। इसी समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए पद्मा शर्मा ने ‘कोख’ कहानी लिखी है। कहानी की पात्र समता की जेठानी कुमुद की दो लड़कियाँ हो चुकी थीं इसीलिए समता पर अनुचित दबाव डाला जा रहा था कि वह पुत्र को जन्म दे। उसको भ्रम में रखकर आधुनिक तकनीक द्वारा जाँच करा लिया गया था। जाँच उपरांत पता लगने पर कि कोख में पुत्री है तो उसको गर्भ में भ्रूण हत्या के लिए तैयार किया जाने लगा। लेकिन कहानी की पात्र समता ने दृढ़ शब्दों में मना कर दिया कि मैं अपनी बेटी की भ्रूण हत्या नहीं होने दूँगी और मैं अपनी बेटी को जन्म अवश्य दूँगी। समता भ्रूण हत्या के विरुद्ध खड़ी हो जाती है इसमें उसकी जेठानी कुमुद भी साथ देती है और समता हकलते हुए वह बोलती है, “मैंने पापा को फोन कर दिया है। मैं उसके साथ चली जाऊँगी क्योंकि अब तुम्हारे देवर मुझे साथ नहीं रखेंगे। कुमुद अरावली पर्वत की तरह अटल खड़ी होकर बोली, ‘देखो तुम्हें कौन नहीं रखता।’”⁶

पद्मा शर्मा की कहानियों में नारी पात्र सशक्त भी हैं जो अरावली की तरह अटल होकर अपने परिवार के हित के लिए सामाजिक नियमों को तोड़कर नया विधान प्रस्तुत करते हैं। ‘अंतिम विदाई’ की नारी पात्र के रूप में सास भी है जो वैधव्य झेल रही अपनी युवा वधू रश्मि का कन्यादान करती है। चाची ऊँची आवाज में बोली, “फेरे तो पढ़ेंगे। फेरे से ही तो पति-पत्नी बनेंगे। वचन हारेंगे तभी तो शादी का महत्व समझेंगे। जब लड़के के फेरे हो सकते हैं तो लड़की के फेरे क्यों नहीं हो सकते? उन्होंने कुछ देर तक पल्ले की ओट से सबके चेहरे तके फिर बोली, ‘मैं ज्यादा तो नहीं पढ़ी लेकिन शास्त्र रचे किसने हैं हम तुमने ही ना। फिर उसमें फेरबदल भी तो कर सकते हैं। चाची का तर्क काटने की हिम्मत वहाँ किसी में नहीं थी।’’⁷ पद्मा शर्मा की कहानी ‘मन की साध’ में सास की बहुत अभिलाषा थी कि वह अपनी बहू की रस्म-भराई (गोद-भराई) का कार्यक्रम आयोजित करे। लेकिन उसी उत्सव की तैयारी के दौरान बहू को प्रसव पीड़ा होने लगी और उसको अस्पताल ले जाया गया जहाँ पर बहू को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। पुत्र प्राप्त होने के बाद भी सास पुत्र को गोद में नहीं खिलाती है क्योंकि

उनके मन में आशंका पैदा हो जाती है कि पुत्र सात माह में कैसे पैदा हो गया और उन्हें बहू के चरित्र पर भी शक पैदा हो जाता है। यह दंद सास और बहू के बीच दिखाया गया है और मीनू मन ही मन सोचती है, “मैं अम्मा को कैसे विश्वास दिलाऊं कि ये बच्चा उन्हीं का पोता है। उसकी पहली रात की सौगात है। वह ऊपर से नीचे तक सिहर गई थी उसके मन में भय व्याप्त होने लगा था कि कहीं अम्मा जी ने यही बात संदीप से कहीं और उसके मन में भी शक पैदा हो गया तो क्या होगा? मैं अपनी पवित्रता का सबूत कहाँ से लाऊँगी? कैसे उन्हें विश्वास दिलाऊँगी कि ये उन्हीं का बेटा है। कहा भी जाता है कि माँ सत्य है और पिता विश्वास।’’⁸

पद्मा शर्मा की कहानी ‘मॉल’ में देश की अर्थव्यवस्था में संलिप्त पुरुष के साथ-साथ महिलाओं के योगदान का बखूबी चित्रण किया गया है। महिलाएँ जॉब करने के लिए घर की चारदीवारी से बाहर निकलती हैं तो उन्हें घर के साथ-साथ बाहर की कई तरह की समस्याओं और चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। मॉल कहानी में कामकाजी स्त्रियों की इन्हीं समस्याओं और चुनौतियों का चित्रण किया गया है। वर्तमान समय में हम कितने भी दिखावे कर ले कि स्वाभिमान के लिए सब कुछ छोड़ देना चाहिए लेकिन जब बात परिवार के लिए खाद्य सामग्री, पुत्र के इलाज और घर की परिस्थितियों की आती है तो स्त्री अपने स्वाभिमान को भूल कर नौकरी पर फिर से लौट जाती है क्योंकि स्त्री को सहनशीलता की मूर्ति कहा जाता है। संध्या ने धीरे से मोबाइल निकाला और अपने बॉस को लगाया कि मैं वापस आ रही हूँ सर मेरा मूड खराब हो गया था माफ कीजिए। थोड़ी देर बाद वह फिर काउंटर पर खड़ी थी सबसे निसंग सबसे उदास सबसे समझदार अपने काम में उलझी हुई।⁹ भूमंडलीकरण के दौर में जब विश्व के बाजार के द्वार समस्त राष्ट्र के लिए खोल दिए गए हैं तब से ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उद्योग धंधों में तीव्र विस्तार हुआ है। जब से भारत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रवेश हुआ है तभी से भारतीय महिलाओं को कामकाजी बना दिया है। पद्मा शर्मा की कहानी ‘विषकन्या’ में बताया है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने संस्थान चलाने के लिए ऐसी लड़कियाँ चाहिए जो डिग्री धारी होने के साथ-साथ सुरुप और अंग्रेजी बोल सकें। क्योंकि इन कम्पनियों के मालिकों का सोचना है कि इन सुंदर लड़कियों को देखकर ग्राहक आकर्षित होकर आएँगे और बाद में उनकी वस्तुओं को अधिक से अधिक खरीदेंगे। पद्मा शर्मा की कहानी ‘विषकन्या’ में देह के बाजारीकरण

को प्रस्तुत किया गया है। ‘स्त्री के मानवीय सौंदर्य की सहज अनदेखी हो रही है। उसे सिर्फ देह तक सीमित कर दिया गया है। स्त्री की देह का बाजार द्वारा यह उपनिवेशीकरण है। इस उपनिवेश में बाजार कुछ और नहीं मानता। मीडिया से हर एक बात प्रक्षेपित किए जा रहे संदेश का मूल है कि देह ही सर्वोपरि है। विज्ञापनों में भी यही बात साफ़तौर पर देखी जा सकती है कि उनमें मानवीय संबंधों का खुलेआम बाजारीकरण हो रहा है।’¹⁰

पद्मा शर्मा की कहानियों में समर्पित, कर्तव्यनिष्ठ, त्यागमयी, सहनशील पत्नी का रूप देखने को मिलता है तथा ऐसी पत्नी का आदर्श प्रस्तुत किया है जो हर तरह से अपने विखरते हुए परिवार को बचाना चाहती है। ‘चाँद पर दाग लग गया’ कहानी की सौदामिनी पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित परिधान पहनना चाहती है। स्वतंत्रता से जीवन जीना चाहती है और अपने पुरुष मित्रों के साथ उसे पिक्कर देखने तथा धूमने-फिरने में कोई परहेज नहीं है। वह स्वतंत्र है लेकिन स्वच्छंद नहीं है यानी कि उसके दैहिक संबंध किसी से नहीं है। यह बात उसके प्रेमी को प्रभावित की और उससे विवाह किया लेकिन हर प्रेमी जब विवाह के बंधन में बंध जाता है तब वह केवल अपने हिसाब से अपनी धर्मपत्नी को रखना चाहता है और क्योंकि वह स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर रही थी तो उसका पति उस पर शक भी करता है और इतना अधिक की कोई पुरुष यदि उसकी स्वच्छंदता की तारीफ कर दे, तो उसे यह शक लगता है कि उसके सौदामिनी से संबंध हैं। सौदामिनी का यह कहना है कि सारी व्यवस्थाएँ सारे नियम स्त्री के लिए ही क्यों? उसने भी तो यही जानकर ही शादी की थी कि उस पति से जिसका एक लड़की से घनिष्ठ संबंध था किंतु समाज में जब बात स्त्री की आती है तो उसकी शुद्धता पर सदैव प्रश्न खड़े होते रहे हैं। यह प्रारंभ से ही हमारे समाज की व्यवस्था ऐसी ही बना दी गई है कि पति अपनी पत्नी को कैद में रखना चाहता है और फिर चाहे नजर की परतंत्रता की, चारदीवारी की आदि किसी भी तरह की कैद हो वह उसे स्वतंत्र होते नहीं देखना चाहता है। सौदामिनी मन ही मन विचार करती है—‘नारी के विवाह के पूर्व की सच्चाइयाँ पुरुष कभी अंगीकार नहीं कर पाता जबकि पति के पूर्व जीवन की सच्चाइयाँ और यहाँ तक की बुराइयाँ भी पत्नी शिरोधार्य कर लेती हैं। सब कमियों के बावजूद वह पति को परमेश्वर मानती है। यहाँ तो पुरुष अर्थांगीनी मानने को तैयार नहीं है।’¹¹

पद्मा शर्मा की कहानी ‘उसकी आजादी’ में ऐसी

पत्नी का रूप भी देखने को मिलता है जिसका अपने पति से कितना भी तकरार हो, फिर भी उस पर जब भी विपदा आती है तो वह उसके साथ खड़ी नजर आती है। उसकी आजादी की बादामी अपने पति की बुराइयों के समक्ष नतमस्तक नहीं होती है। उसका संवाद नारी को सशक्त बनाने की प्रेरणा देता है। उसकी आजादी की बादामी कहती है, “का कह रई हो बैन जी, कोई लुगाई ना चाहे तो मर्द की का हिम्मत! कै बो उंगरिया भी छू सकें और आज के जमाने में हम सब जनी इतना तो हक राखत है कै जब अपनीऊ मर्जी होय, तब ही मर्द को पास आन देय। ऐसा भी ना कर सकें तो काहे की पढ़ाई-लिखाई और काहे की तरकी।”¹²

सन्दर्भ

1. पद्मा शर्मा, रेत का घरौंदा, नवचेतन प्रकाशन (2004) पृ. 15
2. पद्मा शर्मा, जीवन की नई सुबह, शब्द सृष्टि (2002) पृ. 26
3. पद्मा शर्मा, जलसमाधि एवं अन्य कहानियां, शिल्पायन प्रकाशन (2012) पृ. 41-42
4. पद्मा शर्मा, रेत का घरौंदा, नवचेतन प्रकाशन (2004) पृ. 106
5. पद्मा शर्मा, जलसमाधि एवं अन्य कहानियां, शिल्पायन प्रकाशन (2012) पृ. 58
6. वही, पृ. 114, 7. वही, पृ. 86-87, 8. वही, पृ. 80
9. पद्मा शर्मा, इज़्ज़त के रहवार, बोधि प्रकाशन (2022) पृ. 44-45
10. वही, पृ. 15
11. पद्मा शर्मा, रेत का घरौंदा, नवचेतन प्रकाशन (2004) पृ. 48
12. पद्मा शर्मा, जलसमाधि एवं अन्य कहानियां, शिल्पायन प्रकाशन (2012) पृ. 143

-कृष्ण कुमार थापक

शोधार्थी

रविंद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय

भोपाल म.प्र.

मो. 8517024249

-प्रो संगीता पाठक

शोध निर्देशक

मानविकी एवं उदार कला संकाय

रविंद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय

भोपाल, म.प्र.

भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य सांस्कृतिक संश्लेषण फैलाने में महान सम्राट अशोक का योगदान

—ललित सिंह

व्यापार एवं धर्म की सम्पदा ने भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाया। परिणामस्वरूप, वहाँ अनेक भारतीय सांस्कृतिक उपनिवेश अस्तित्व में आये। जिनकी भाषा, संस्कृति, शासनविधि, धर्म तथा कला सभी का कलेवर भारतीय है। इस क्षेत्र में प्रायः सभी राज्यों में हिन्दू मन्दिरों, मठों, बौद्ध विहारों, स्तूपों तथा चैत्यों के अवशेष बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं जिनमें से अंकोरावाट का मन्दिर, बोराबुदूर का स्तूप, आनन्द पैगोड़ा, प्रम्बन्न मन्दिर, नाथ्लौंग क्योंग मन्दिर, नानपाया मन्दिर, जावा का चण्डी कलसन का प्राचीन मन्दिर, दिएंग का चण्डी भीम मन्दिर, चण्डी सरी, चण्डी सेबू, लरजोग्रंग के मन्दिर, माइसोन घाटी के मन्दिर, दोंग-दुओंग के मन्दिर, बायोन का मन्दिर इत्यादि प्रमुख उदाहरण हैं। दक्षिण पूर्व एशिया की स्थापत्य कला तथा मूर्तिकला की न सिर्फ विषय वस्तु के बल भारतीय है बल्कि निर्माण शैली तथा निर्माण सामग्री के अवयव भी भारतीय अनुकरण ही प्रतीत होते हैं। विशेषतया कम्बोडिया, जावा, चम्पा एवं बाली के कलावशेष भारतीय गुप्त, पल्लव एवं चालुक्य कला के विविध आयामों (स्थापत्य कला, मूर्तिकला, लेखन कला आदि) के माध्यम से प्राचीन भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। साथ ही भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य सांस्कृतिक संश्लेषण फैलाने में महान सम्राट अशोक का योगदान का अध्ययन किया जायेगा।

प्राचीन भारत के शक्तिशाली महान सम्राटों ने मात्र शास्त्रों के माध्यम से साम्राज्य विस्तार की नीति को महत्ता प्रदान नहीं की। महान अशोक ने विशाल भूखण्ड, शक्तिशाली सेना एवं संसाधनों का स्वामी होते हुए भी युद्ध विजय की नीति का परित्याग कर धर्म विजय की नीति को अपनाया। वास्तव में भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के विस्तार का पहला युग पग महान सम्राट अशोक ने ही बढ़ाया, जब उन्होंने विभिन्न संस्कृति वाहकों को दक्षिण एशिया, चीन, मध्य एशिया, पूर्वी एशिया इत्यादि सभी भागों में भेजा। भारत से पूर्व की ओर के प्रदेशों में बौद्ध स्थविर और भिक्षु धर्म प्रचार के लिये गये थे। तीसरी सदी ईस्टीं पूर्व तक इन देशों में किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। भारत के धर्म-प्रचारकों ने जहाँ इन देशों में अपने धर्म का प्रचार किया, वहाँ साथ ही सभ्यता के मार्ग पर उन्हें अग्रसर किया। इस परम्परा का निर्वहन महान

गुप्त शासकों ने भी किया तथा भारतीय सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की पराकाष्ठा चोल शासन में प्राप्त होती है। जब पराक्रमी चोल राजाओं ने दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न देशों एवं द्वीपों को अपने आधिपत्य में लिया और भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं कला का वहाँ पर व्यापक प्रचार किया। भारत के पूर्व में बर्मा, मलेशिया, इण्डोनेशिया, श्यामदेश, कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम और फिलीपींस आदि देशों में न केवल भारतीय धर्म एवं संस्कृति का प्रचार करने लोग गये थे, अपितु महान् भारतीय सम्प्राटों ने इन स्थानों पर कितने ही उपनिवेशों की स्थापना की थी। इस कारण ये स्थान भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतः रंग गये और वर्तमान समय में भी इनमें भारतीय संस्कृति की छाप देखी जा सकती हैं।

इन्डोनेशिया क्षेत्र में जावा ही एक ऐसा द्वीप है जहाँ प्राचीन मन्दिर और चैत्य इस समय भी विद्यमान हैं। शैलेन्द्र साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय सुमात्रा में थी और कलाया द्वीप में अनेक समृद्ध भारतीय राज्य प्राचीन समय में विद्यमान थे। संभवतः इनमें भी अनेक विशाल मन्दिरों और चैत्यों का निर्माण किया गया होगा जिनके अवशेष मात्र ही वर्तमान समय में प्राप्त होते हैं। जबकि जावा के प्राचीन मंदिर एवं चैत्य अभी भी सुरक्षित हैं। मध्य जावा में स्थित दिएंग के पठार पर यहाँ के सर्वप्राचीन मंदिर पाये जाते हैं जिनका निर्माण काल 7-8वीं सदी है। इन मन्दिरों को पाण्डव मन्दिरों के नाम से जाना जाता है जिनकी कुल संख्या आठ हैं। इन मन्दिरों में तथा इनके समीप विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश एवं दुर्गा आदि हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाएं मिलती हैं। अनेकों प्रतिमाओं में देवों के साथ उनके वाहनों को भी प्रदर्शित किया गया है। स्थापत्य की दृष्टि से दिएंग के मन्दिरों की सम्पत्ता गुप्त कालीन भारतीय मंदिर आकार में छोटे, समतल छत वाले हैं जिनमें कालांतर में विकसित होकर शिखर का प्रयोग भी मिलता है। इनके गर्भगृह में प्रतिष्ठित प्रतिमा के केवल पूजन निर्मित आकार-प्रकार निर्मित थे। उस स्थान पर उपासक जनता के सभास्थल का सर्वथा अभाव था। दिएंग के मन्दिरों के गर्भगृह में भी केवल एक-एक प्रवेश द्वार है और मन्दिरों के ऊपर की छत चौरस है जो ऊपर की ओर छोटी होती जाती है। मन्दिरों के अलंकरण हेतु अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक प्रतिमाओं का प्रयोग किया गया है।

इसके साथ ही 250 मन्दिरों का एक मन्दिर समूह भी जावा में प्राप्त होता है जिसे चण्डी सेवू के मन्दिर के नाम से जाना जाता है। इन सभी मन्दिरों का निर्माण किसी एक

ही व्यक्ति द्वारा नहीं करवाया गया था। ऐसी परम्परा भारतीय गुप्त कालीन एवं प्रतिहार कालीन मन्दिरों में देखने को मिलती है जहाँ मन्दिर समूहों का निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा न करवा कर अनेक व्यक्तियों के दान दिये जाने से हुआ हो। चण्डी कालसन, चण्डी सरी और चण्डी सेवू के मन्दिर मध्य जावा की प्रम्बन्न घाटी में स्थित हैं।

काम्बुज देश के प्राचीन मन्दिरों एवं भवनों की तुलना में वहाँ की प्राचीन मूर्तियों पर भारतीय प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आठवीं सदी से पूर्व की जो मूर्तियां कम्बोडिया क्षेत्र से मिलती हैं, वे गुप्त युग की भारतीय मूर्तियों से साम्यता रखती हैं। इसी काल की मूर्तियों में आंखे पूरी तरह से खुली हुई हैं, ओठों पर हल्की सी मुस्कान है और वस्त्र ऐसे कलात्मक ढंग से बनाए गए हैं कि उनकी चुन्नटे सुन्दर रूप से उभरी हुई हैं। गुप्तकाल की मूर्तियों में भी ये बातें पाई जाती हैं। कम्बोडिया की इन प्राचीन मूर्तियों में सम्बोर के समीप प्रसद अन्देत से उपलब्ध हरिहर की एक मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो इस युग की मूर्तिकला का उत्तम उदाहरण है। वेशभूषा, अलंकरण तथा कथानक के चित्रण में इन भित्तियों को विभूषित करने के लिए जो चित्र अंकित किये गये, उनके लिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथाओं का आश्रय लिया गया, क्योंकि ये कथानक काम्बुज देश की संस्कृति के भी उसी प्रकार से अंग थे, जैसे कि भारत की संस्कृति के थे। यहाँ से पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियां बहुत अधिक संख्या में मिलती हैं।

मजूमदार महोदय के अनुसार, काम्बुज देश में विकसित हुई मूर्तिकला की मूलात्मा गुप्तकालीन भारतीय कला ही थी, जो कि तत्कालीन दोनों ही देशों के मध्य की घनिष्ठता का परिचायक भी है। वर्तमान समय में जो प्रदेश दक्षिणी वियतमान में स्थित है प्रायः वे ही प्राचीन काल में चम्पा के हिन्दू या भारतीय राजा के अन्तर्गत थे। चम्पा पर धर्म, संस्कृत एवं कला में भारतीय प्रभाव को यहाँ पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यद्यपि यहाँ पर काम्बुज तथा जावा के समान विशाल कलावशीषों का अभाव है, तथापि इन्होंने निर्मित अनेक स्थापत्यावशेष यहाँ के माइसोन, पोनगर और दोंग दुओंग स्थानों से मिले हैं। माइसोन के मन्दिर मुख्यता शैव सम्प्रदाय के हैं और उनमें शिव के साथ-साथ गणेश, उमा तथा स्कन्द की भी मूर्तियां हैं। पोनगर में प्राप्त मन्दिरों की संख्या 6 हैं जिनका सम्बन्ध पौराणिक हिन्दू धर्म से है। पल्लव राजाओं द्वारा अपने राम पर स्वनिर्मित मंदिरों के नाम रखने की प्रथा का चम्पा में भी

अनुकरण किया गया है। भारत के जो उपनिवेशक चम्पा में जाकर बसे थे वे भारत की भाषा, शासन व्यवस्था और धर्म के समान भारत को भी अपने नये देश में ले गये थे।

जावा, काम्बुज, चम्पा आदि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के पुराने भग्नावशेषों में सेंकड़ों, हजारों, मूर्तियाँ और उनके खण्ड विद्यमान हैं, जो वहाँ पौराणिक हिन्दू धर्म के व्यापक प्रचार के स्पष्ट प्रमाण हैं। जिस प्रकार भारत में राजा, राजकुल के व्यक्ति तथा संभ्रान्त लोग मन्दिरों के निर्माण तथा उनका व्यय चलाने के लिए दान दिया करते थे। ऐसी ही परम्परा काम्बुज में भी विद्यमान थी। वहाँ के बहुसंख्यक अभिलेखों में उच्च वर्ग के व्यक्तियों द्वारा देव मूर्तियों के प्रतिष्ठापित किये जाने तथा उनके लिए किये गये दान का ही उल्लेख है। हिन्दू धर्म के प्रचार के कारण यहाँ वेद, वेदांग, इतिहास-पुराण, दर्शन आदि प्राचीन भारतीय साहित्य का भी भली-भाँति अध्ययन-अध्यापन होता था। जावा के समान ही काम्बुज देश में भी राजवंशावली को जानने के लिए कोई साहित्यिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। यहाँ से प्राप्त बहुसंख्यक अभिलेखों के माध्यम से ही यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति के अतीत की जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ से प्राप्त अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग मिलता है। यह भाषा शुद्ध है और उसमें पाणिनी की अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य में प्रतिपादित व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पालन किया गया है। इसका कारण यह है कि भारत के समान काम्बुज में राजा यशो वर्मा के विषय में तो यह भी कहा गया है कि उसने महाभाष्य की व्याख्या भी की थी। भारत के विकास में बाधा उत्पन्न हो गयी थी, जिस कारण काम्बुज आदि देशों से प्राप्त इस समय के लेखों में प्राचीन भारतीय संस्कृत व्याकरण के नियमों का लोप होता चला गया, तथापि यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में उत्कीर्ण अभिलेखों में लेखन कला के तौर पर भारतीय परम्परा को अनुसरण किया गया था एवं यह क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप से भारतीय प्रभाव में था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दक्षिण पूर्व एशिया में विकसित हुई संस्कृति एवं सभ्यता के विकास से भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों का प्रचुर योगदान रहा। कला के विविध आयामों में भी हम भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों का समावेश दक्षिण-पूर्व एशिया में देख सकते हैं। भारत में चैत्य-विहारों के निर्माण से लेकर मन्दिर निर्माण एवं भव्य मर्तिकला का अनुकरण करते हुए पूर्व के इन देशों में भी मूर्तिकला का विकास हुआ। प्रमुख भारतीय देवता ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश आदि की मूर्तियों का अंकन भी यहाँ पर किया गया। जिस प्रकार भारत में चोल

कालीन कलाकारों ने शिव की नृत्य मुद्रा में मूर्तियों का निर्माण किया ठीक उसी प्रकार से चम्पा राज्य में भी शिव की नृत्यरत मूर्तियों की प्राप्ति हुई है। मूर्तियों के सौन्दर्य पक्ष में भारतीयता की झलक स्पष्ट देखने को मिलती है। भारत में धारण किये जाने वाले विभिन्न आभूषण कुण्डल, भुजबन्ध, कंगन, मालाएँ एवं नुपुर आदि अंकन यहाँ की दिएंग में बनाये ये मंदिर भारत में निर्मित गुप्तकालीन मन्दिरों से विशेष साम्यता प्रदर्शित करते हैं। अभिलेखों की लेखन परम्परा में भी पूर्वी देशों ने भारतीय परम्परा का ही अनुसरण किया।

अभिलेखों में प्रयुक्त भाषा प्राचीन भारतीय व्याकरणों द्वारा प्रतिपादित व्याकरण के सिद्धान्तों से आबद्ध मिलती है जिसका श्रेय मुख्य रूप से भारतीय इतिहास के महान सम्राट अशोक को जाता है। उनके द्वारा किये गये प्रयासों व कार्यों का अनुसरण कर ही भारतीय इतिहास के अन्य शासकों व वंशजों के द्वारा भारतीय इतिहास सभ्यता व संस्कृति को प्रचलित वह प्रसारित किया गया।

दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों से मिले साहित्यिक स्रोतों से यहाँ की भाषा, धर्म, राजनीति तथा सामाजिक संस्थानों पर भारत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इन देशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का कारण अनेक भारतीय राजाओं जिनमें सम्राट अशोक महान प्रमुख था, द्वारा दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में भारतीय संस्कृति तथा धर्म का जितना प्रभाव पड़ा उतना शायद ही संसार के किसी अन्य देश पर पड़ा हो।

मौर्योत्तर काल से दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में भारतीय संस्कृति ने प्रवेश किया और अपनी सभ्यता, संस्कृति व धर्म से यहाँ के लोगों को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक प्रभाव जावा, सुमात्रा, बाली, चंपा, फुनान और मलाया आदि क्षेत्रों में अधिक रहा। मलयद्वीप तथा इंडोनेशियाई द्वीपों पर सर्वप्रथम पूर्वी तटों के व्यापारियों का संपर्क स्थापित हुआ। इसी दौर में महायान और हीनयान से जुड़े कुछ धर्म प्रचाकर भी यहाँ आए। कुछ इतिहासकारों का यह भी मानना है कि गुप्तकाल में इन क्षेत्रों को उपनिवेश की तरह भी इस्तेमाल किया गया। इसी समय भारत के पूर्वी तटों से दक्षिण-पूर्वी एशियाई क्षेत्रों में राजनीतिक और प्रशासनिक रूप से प्रभावी होने की भारतीय प्रयास की शुरुआत भी होती है। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारक मंडल को बर्मा भेजा तथा बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के निर्देश दिये। 11 से 13वीं शताब्दी के मध्य आते-आते बर्मा बौद्ध संस्कृति का महान केन्द्र बन गया। इसी तरह मलेशिया के डाह प्रांत से शैव धर्म के प्रचार-प्रसार तथा कालांतर में

इसके प्रचलन के संकेत मिलना, वियतनाम में हिंदू एवं बौद्ध मंदिरों के निर्माण के साथ ही शिव, गणेश, लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती, बुद्ध तथा लोकेश्वर आदि देवताओं की पूजा किये जाने, थाईलैंड से अमरावती शैली, गुप्तकालीन कला और पल्लव लिपि में अंकित बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के अवशेषों का मिलना, कंबोडिया में अंकोरवाट का मंदिर तथा इंडोनेशिया के जावा द्वीप पर प्रावानन में हिंदू मंदिर, और बोरोबुदूर में विश्व विख्यात विशाल बौद्ध स्तूप का मिलना भारतीय संस्कृति के गहन प्रभाव का परिचायक हैं।

पूजापाठ की पद्धतियों, जीवन के विभिन्न संस्कारों, त्योहारों का मनाने के तरीकों, रहन-सहन की पद्धतियों तथा संस्कारों में भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में आश्चर्यजनक रूप से समानता दिखाई देती हैं।

भारतीय संस्कृति ने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की कला और साहित्य ही नहीं बल्कि उनके आचार-विचार, संस्कार-व्यवहार और तौर-तरीकों को भी प्रभावित किया है जिसे हम आज भी भारत-आसियान संबंधों के संदर्भ समझ सकते हैं।

संदर्भ सूची

- स्मिथ, विन्सेट (1920), द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया : फ्रॉम द अर्लीएस्ट टाइम्स टू द एंड आफ 1911, क्लेरेन्डर प्रेस, पी. पी. 104-06
 ट्राउटमैन, टामस आर. (1971), कौटिल्य एंड दि अर्थशास्त्र, लाइडेन
 थापर, रोमिला (1961), अशोक एंड दि डिक्लाइन आफ दि मौर्यज, प्रथम प्रकाशन आक्सफोर्ड, पृ. 200
 मेगास्थनीज की इंडिका का अनुवाद, मैककिंडल, जे.

डब्ल्यू. (1877), एनशिएंट इंडिया एज डिस्क्राइब बाई मेगास्थनीज एंड एरियन, कलकत्ता

मजूमदार, आर. सी. (2003) (1952), प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसी दास

मुखर्जी, वी. एन. (1984), स्टडीज इन आरामाइक एडिक्ट्स आफ अशोक, कलकत्ता

सरकार, डी. सी. (1979), अशोकन स्टडीज, कलकत्ता बरुआ, वी. एम. (1948), अशोक एंड हिज इस्क्रिप्शंस', कलकत्ता

हवीब इरफान, झा, विवेकानंद (2004), 'मौर्य भारत', एपीपल्स हिस्ट्री आफ इंडिया, अलीगढ़, हिस्ट्रोरियंस सोसायटी, तूलिका बुक्स

विन्सेट, आर्थर स्मिथ (1920), भारत के बौद्ध सम्राट अशोक : ऑक्सफोर्ड : क्लेरेन्डन प्रेस, पी. पी. 18-19

मुखर्जी, राधाकुमुद (1962), अशोक, मोतीलाल बनारसीदास, पृ. 8

शास्त्री, के. ए. नीलकंठ (1952), दि एज आफ दि नंदाज एंड मौर्यज, वाराणसी

थापर, रोमिला (1980), अशोक और मौर्य का पतन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बरुआ, बेनी माधव, (1948), अशोक एंड हिज इस्क्रिप्शंस', कलकत्ता, पृ. 171

निरंजन, हरिओमशरण (2009), कौटिलीय अर्थशास्त्र (आधुनिक राजनीति में प्रासारिकता), प्रकाशन : इस्टन बुक लिंकर्स 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

-ललित सिंह

शोधार्थी (इतिहास), डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून पत्राचार पता : ग्राम- रड्डू, पो. मुन्धौल, तहसील त्यूनी, जिला- देहरादून-248199, उत्तराखण्ड

दलित जीवन-संघर्ष और मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास

—विद्यार्थी कुमार

एक विराट पुरुष की कल्पना भारतीय समाज की रूपरेखा कैसे बदल सकती है, इसका प्रमाण इतिहास में देखा जा सकता है। जब समाज का एक विशेष वर्ग अपनी प्रभुता बनाए रखने के लिए अन्य वर्गों को किसी नियम में बांध दे तो उस समाज के विकास की अवधारणा की प्रामाणिकता सिद्ध करना कठिन है। चूंकि, जनता की चित्तवृत्ति का संबंध साहित्य से दूर नहीं किया जा सकता अतः साहित्य से बीते समाज के प्रारूप को समझना आसान है। रचनायें किस स्तर तक समाज को प्रभावित करती हैं इसका प्रमाण हम प्राचीन ग्रंथों में देख सकते हैं। चाहे ऋग्वेद का ‘दसवां मंडल’ हो या ‘मनुस्मृति’ दोनों का सामाजिक स्तरीय करण में विशेष योगदान रहा है। जब समाज के विभाजन में विशेष वर्ग केंद्र में हो तो उसे अन्य वर्गों को पीछे धकेलने में जिम्मेदार माना जा सकता है। यह दबाव सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि रूपों में होता है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आदि रूपों में पिछड़े हुए समाज के केंद्र में ‘सामाजिक विच्छेदता’ कार्य करती है। किसी समुदाय को सामाजिक मान्यताओं तथा अधिकारों से दूर रखना उस समुदाय के विकास से जुड़े तत्वों को क्षीण करता है। अधिकार चूंकि अस्तित्व को बनाये रखने का प्रमाण होता है, इसलिए समाज में इसकी महत्ता बढ़ जाती है। यही कारण है कि भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को एक भाग के अंतर्गत रखा गया है। अस्तित्व में मौजूद सुरक्षात्मक प्रवृत्ति जब समाज के सामने आती है तो संघर्ष के प्रारूप में बदलाव होता है। यह संघर्ष व्यक्ति का न होकर समुदाय के रास्ते समाज का हो जाता है। उस समाज का जिसने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए तत्परता दिखाई है। संघर्ष विस्तार के माध्यम अलग-अलग होते हैं जिनमें से एक माध्यम साहित्य है। भारतीय साहित्य में समाज के निम्न वर्ग से जुड़े लेखकों के द्वारा बिष्णृत समुदाय के जीवन दर्शन को उजागर करना दलित साहित्य के अंतर्गत आता है। दलित साहित्य मानव कल्याण का साहित्य है। डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी पर खड़ा यह साहित्य जिसे मूल रूप से अम्बेडकरवादी साहित्य भी कहा जाता है। मोहनदास नैमिशराय दलित-साहित्य के बारे में कहते हैं—‘दलित साहित्य यानी बहुजन समाज के सभी मानवीय अधिकारों और मूल्यों की प्राप्ति के उद्देश्यों से लिखा गया साहित्य है, जो संघर्ष से उपजा है, जिसमें समता और बन्धुता का भाव है और वर्ण-व्यवस्था से उपजे जातिभेद का विरोध

है।”¹ दलित-साहित्य को परिभाषित करते हुए विद्वानों ने अलग अलग मत प्रस्तुत किए हैं। दलित-साहित्य का अर्थ डॉ. रामकृष्ण राजपूत की नजरों में—“दलित अर्थात् दला गया, कुचला गया, दबाया गया, दबोचा गया, अभावग्रस्त, पदमर्दितम अपवाचित- इस सबका प्रतिशोध जब वाणी और लेखनी से प्रस्फुटित हुआ तो उसी का नाम पड़ा दलित-साहित्य।”² बाबूराव बागुल की अवधारणा है—“दलित साहित्य” का केन्द्र मानव है, जो मनुष्य को देश, धर्म से भी उच्च स्तर पर रखता है।”³ डॉ. शरणकुमार लिम्बाले ने ‘दलित-साहित्य’ को व्याख्यायित करते हुए लिखा है—“दलित-साहित्य अपना केन्द्रबिन्दु मनुष्य को मानता है। बाबा साहब के विचारों से दलित को अपनी गुलामी का एहसास हुआ। उनकी वेदना को वाणी मिली, क्योंकि उस मूक समाज को बाबा साहेब के रूप में अपना नायक मिला। दलितों की यह वेदना ‘दलित-साहित्य’ की जन्मदात्री है। दलित-साहित्य की वेदना ‘मैं’ की वेदना नहीं, वह ‘बहिष्कृत समाज’ की वेदना है।”⁴ श्रीमती उर्मिला राजपूत ने वर्णव्यवस्था पर जोर दिया है—“वर्णव्यवस्था द्वारा नकारे गए लोगों के प्रति मानवीय संवेदना, करुणा से द्रवित होकर उनकी विषम स्थितियों का चित्रण करना; उपेक्षित, शोषित, दलित, पीड़ित और जंजीरों से जकड़ी स्थिति के प्रतिकार, प्रतिरोध और प्रतिशोध की भावना की आन्दोलनात्मक शक्ति ही ‘दलित-साहित्य’ है।”⁵

दलित साहित्य से सौन्दर्यशास्त्र की बात करें तो इसमें मनुष्य सर्वोपरि है। शोषण से निजात पाना इसका उद्देश्य है। यह समाज में शास्त्र की जगह शोषण और संघर्ष को मूल्य मानता है। मूल्य ही सौन्दर्य का आधार है। किसी भी राष्ट्र में लोकतन्त्र सर्वश्रेष्ठ मूल्य होता है। लोकतंत्र के स्तंभों में समानता, स्वतन्त्रता, न्याय, सद्भाव आदि तत्व आते हैं। अतः मानवीय मूल्य को दलित साहित्य का आधार माना जा सकता है। दलित-साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर अपने विचार प्रकट करते हुए दलित लेखक मोहनदास नैमिशराय कहते हैं—“यह बात पहले निश्चित हो चुकी है कि दलित लेखकों के लेखन में होनेवाली प्रेरणा बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की विचार प्रणाली, तब दलित-साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के बारे में भी कोई गफलत नहीं होनी चाहिए। सर्वण समीक्षकों को इस बात को अच्छी तरह से जान लेना चाहिए कि दलित साहित्य कलावादी अथवा रंजनावादी साहित्य नहीं है। इसलिए कलावादी, कल्पनावादी साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर दलित-साहित्य के साथ सौन्दर्यशास्त्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती। समता,

स्वतन्त्रता और बन्धुत्व इन तीनों जीवन मूल्यों को दलित साहित्य के सौन्दर्य तत्त्व माने जा सकते हैं।”⁶ उपन्यासों की बात करें तो कर्दम के ‘छप्पर’ ने दलित उपन्यास की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। चूंकि, संघर्ष इस सौन्दर्यशास्त्र की प्रवृत्ति रही है इसलिए यह प्रवृत्ति इस उपन्यास में बहुतायत है।

इस उपन्यास की प्रमुख विशेषताओं में एक चीज़ यह देखने को मिलती है कि इसमें दलितों के रोने-धोने के वर्णन की ओर कम ध्यान दिया गया है। दलित की सक्षमता में वृद्धि कैसे हो इसका निवारण यह उपन्यास ढूँढ़ता है। साथ ही पहले तबके के साथ जुड़कर समुदाय के विकास का रास्ता ढूँढ़ता है। दलितों में अब चेतना आ चुकी है। चन्दन ग्रामीण और शहरी दोनों जगह मौजूद दलित समुदायों को जागृत कर उनको हक प्राप्त करने के लिए तैयार करता है। ब्राह्मण समुदाय की चालाकी पर व्यंग्य करता हुआ लेखक लिखता है—‘किसी और मुल्क या गैर-जाति में पैदा हुआ होता तो भूखा मरता काणाराम, लेकिन धन्य हो भारत की समाज-व्यवस्था कि यहाँ पर ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी-न-किसी रूप में ब्राह्मण उससे टैक्स वसूल करता है। चाहे कितना भी अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों न हो लेकिन एक ब्राह्मण, पंडित पुरोहिताई करके सुख और सम्मान से जी सकता है।’⁷ ‘मुक्तिपर्व’ में मोहनदास नैमिशराय आजादी के बाद दलित-वर्ग की जागरूकता में वृद्धि का चित्रण करते हैं। अर्थात् जब भी इन्सान को यह एहसास होता है कि वह बहिष्कृत समाज का व्यक्ति है तो उसने अधिकार पाने की लड़ाई लड़ी है। उपन्यास में अन्याय, भेदभाव, अत्याचार के प्रति सन्तुलन बनाते हुए मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ने का प्रयास लेखक के द्वारा किया गया है। इसमें उनके भोगे हुए आख्यान के साथ-साथ वर्तमान के प्रति संघर्ष भी नजर आता है।

उपन्यास के पात्र वंशी के माध्यम से लेखक ने आम दलित-चेतना को मुखरित करते हुए उसे दलित समुदाय के प्रेरणास्रोत के रूप में उकेरा है। वैचारिक संघर्ष उसके जीवन का अभिन्न अंग है। जातीय भेद की प्रवृत्ति का विरोध वंशी के मन में एक तूफान की तरह आता है। दलित की स्थिति पर अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए वह रामलाल जी से कहता है—“स्कूल-कॉलेजों में इस तरह की छुआछूत होगी तो देश तरक्की कैसे कर पाएगा। अभी तो आजादी का प्रथम चरण ही है। आजादी जब वयस्क होगी तब भटक तो नहीं जाएगी।”⁸ मोहनदास

नैमिशराय ने ‘क्या मुझे खरीदोगे?’ को श्रेष्ठ दलित उपन्यास के रूप में गैर दलित लेखकों के सामने एक चुनौती के रूप में रखा। एक तो दलित और दूसरे महिलाओं की समस्या उनके लेखन का मुख्य विषय रहा है। ग्रामीण और शहरी जीवन के अनुभव ने उनके लेखन कौशल में चार चांद लगा दिया। करीब अस्सी के दशक के बाद उनका बम्बई आना-जाना अधिक रहता था परिणाम स्वरूप महानगरीय परिवेश उनके भीतर बस गया था। यह परिवेश उनको सुख भी देता था और दुखी भी करता रहा। मन में परम्परा के खिलाफ विद्रोह उठता था। इसी संवेदना को उन्होंने ‘क्या मुझे खरीदोगे?’ उपन्यास में ला खड़ा किया। लेखक ने सरिता और सागर के माध्यम से दलित महिलाओं के जीवन स्थितियों का चित्रण प्रस्तुत किया है—“वह समाज, यह दुनिया हमें चैन से यहाँ रहने न देगी। माना कि तुम्हारे घरवाले तैयार हो जाएँगे पर मेरा परिवार कभी भी तुम्हें अपने घर की बहू न स्वीकार कर सकेगा। पर ऐसा क्यूँ? इसलिए कि जिस जाति से तुम हो उस जाति की बहू को वे अपने घर में सहन नहीं कर पाएँगे।”⁹ ‘आज बाजार बंद है’ के माध्यम से नैमिशराय दलित महिलाओं में व्याप्त वेश्यावृत्ति का अंकन शबनम बाई के द्वारा किया है। उपन्यास में शबनम बाई को विरोधाभासों का सामना करना पड़ता है—‘मानव समाज के बीच यह कैसा विरोधाभास रहा है कि जब भी किसी अच्छे कार्य की शुरुआत की जाती है, पग-पग पर परेशानियाँ आती हैं, न सिर्फ परेशानियाँ बल्कि खलनायकों से भी जूझना पड़ता है। कोठा नम्बर आठ से शबनम बाई ने अच्छी शुरुआत की थी। देर से भले ही शुरुआत हुई, पर अच्छा ही हुआ। आदमी जब भी जाग जाए तभी संवेरा समझो। वे जाग चुके थे और उन्हें जागने की कीमत चुकानी थी।’¹⁰ इसके अलावा ‘जख्म हमारे’ उपन्यास में गुजरात के साम्प्रदायिक दंगों में दलित समुदाय की स्थिति को रेखांकित किया गया है। साथ ही दलित-मुस्लिम एकता की तरफ भी इशारा किया गया है। इस उपन्यास का प्रारंभ भूकम्प से होता है जो धर्मों और जातियों के बीच विभेद किए बिना विभिन्न समुदायों के सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि को प्रभावित करता है। मगर बचाव कार्य में वर्ग विभेद की स्थिति देखी जा सकती है। वर्ग विभेद की यही स्थिति भूकम्प राहत के कार्यक्रम में भी दिखाई पड़ती है। ‘नैमिशराय का जख्म हमारे उपन्यास एक अति संवेदनशील कथाकृति होने के साथ-साथ

समकालीन इतिहास का एक मार्मिक दस्तावेज भी है। इसके माध्यम से लेखक ने गुजरात की उस महाविभीषिका का प्रभावशाली चित्रण किया है जिसकी ज्याला में हजारों जन्दगियाँ झुलस गई।’¹¹

मोहनदास नैमिशराय ने उपन्यास ‘वीरांगना झलकारी बाई’ महिला ऐतिहासिक पात्र ‘झलकारीबाई’ को केंद्र में रखकर लिखा है। सन् 1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई की प्रिय सहेलियों में से एक झलकारी थी जिसने रानी के साथ पूर्ण समर्पित होकर मित्रता ही नहीं बल्कि झाँसी की रक्षा के लिए अंग्रेजों का सामना किया। गुमनाम रही झलकारी को नैमिशराय ने नाम दिया। इस गुमनामी का कारण बताते हुए नैमिशराय उपन्यास को विस्तृत आयाम दिया है। न रानी, न पटरानी और न सामंत की बेटी वह एक सामान्य महिला थी, को ऐतिहासिक महत्व दिया है। रानी लक्ष्मीबाई से प्रेरणा लेकर झलकारी बाई अपने पति के साथ सेना का गठन करने का प्रयास किया। इस प्रकार दलित उपन्यासकार नैमिशराय ने अपनी लेखनी के जरिए उपेक्षित समाज में साहित्य के माध्यम से ज्योति जगाने का कार्य किया।

संदर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी दलित कविता : नए संदर्भ, पृ. 14
2. प्रज्ञा, सं. रामकृष्ण राजपूत, मार्च-जून 1995 पृ. 90
3. दलित साहित्य उद्देश्य और वैचारिकता, बाबूराव बागुल, ‘सारिका’, मई 1975, पृ. 76
4. भारतीय दलित साहित्य : परिप्रेक्ष्य, सम्पादक, पुन्नीसिंह, कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा पृ. 325
5. प्रज्ञा पत्रिका, डॉ. रामकृष्ण राजपूत, मार्च-जून 1995, पृ. 91
6. दलित विमर्श के आलोक में, डॉ. रश्मि चतुर्वेदी, पृ. 40
7. जयप्रकाश कर्दम, ‘छप्पर’, पृ. 31
8. मुक्तिपर्व, मोहनदास नैमिशराय, पृ. 151
9. क्या मुझे खरीदोगे, मोहनदास नैमिशराय, पृ. 44
10. आज बाजार बंद है, मोहनदास नैमिशराय, पृ. 121
11. ‘जख्म हमारे’, मोहनदास नैमिशराय, पृ. 129

—विद्यार्थी कुमार
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

‘बेघर’ उपन्यास : प्रेम एवं पुरुष अहं का संघर्ष

—श्रीमती मेनुका श्रीवास्तव

‘बेघर’ उपन्यास हिंदी साहित्य की ख्यात लेखिका ममता कालिया द्वारा लिखा गया उनका प्रथम उपन्यास है, जो 1971 में रचना प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। यह एक ऐसा उपन्यास है, जो आज 50 वर्षों के बाद भी लोगों के दिलों दिमाग में मौजूद है। सन् 1971 में यौन शुचिता एवं कौमार्य मिथक जैसे गंभीर विषयों पर बेबाकी से लेखनी चलाकर ममता उच्चकोटि के उपन्यासकारों की श्रेणी में शामिल हो गई। इनका जन्म 2 नवंबर, 1940 को वृन्दावन में हुआ। ममता सदैव किताबों से जुड़ी रहीं, लेकिन अपने लेखन में इन्होंने किताबों को नहीं बल्कि अपने निजी समाज एवं आसपास से अर्जित अनुभवों को शामिल किया। बेघर एक निम्न मध्यमवर्गीय युवा परमजीत की कहानी है, जो दिल्ली के शक्ति नगर इलाके में रहता है, उसके पिता की लास्सी की दुकान है। उसकी माँ और बहन के पात्र द्वारा ममता ने 70 के दशक में समाज में स्त्रियों की दशा को व्यक्त किया है। समाज में स्त्रियां केवल रसोई घर में व्यस्त परिवार की सेविका की भूमिका में ही नजर आती हैं। उनकी शिक्षा, उनका स्वाभिमान, उनकी स्वतंत्रता तो जैसे पुरुषों के हाथ में ही कैद थी। “परमजीत की माँ बच्चे पैदा करते-करते निचुड़ गई थी, उसके पूरे बदन में सिर्फ उसका पेट तंदुरुस्त लगता था।”¹ परमजीत की बहन विमला भी घर के कामों में व्यस्त सारे बच्चों की जिम्मेदारी, उनका दूध, उनके कपड़े सिलना, उनका स्कूल आदि निभाते-निभाते अक्सर स्कूल नहीं जा पाती थी, पर उसकी पढ़ाई लिखाई की चिंता माता-पिता ने कभी नहीं की। “बहन का सिर जुओं से भरा था और हाथ मसाले की गंध से। माँ के बच्चे पालते-पालते वह बुजुर्ग हो चली थी।”² परमजीत कभी भी किसी कंपनी में नौकरी करना नहीं चाहता था, और ना ही वह पिता की लास्सी की दुकान में बैठना चाहता था। मैट्रिक पास करते-करते उसने निश्चय कर लिया था कि वह शृंगार की दुकान खोलेगा, ताकि सुंदर-सुंदर लड़कियां उसकी दुकान पर आती रहें, लेकिन पिता के एक ग्राहक ने मुंबई की कंपनी कंफर्ट रेफ्रिजरेशन में उसे एजेंट बनवा दिया। परमजीत के लिए मुंबई का अर्थ सिर्फ समुद्र, फिल्म और लड़कियां ही था, लेकिन जब ट्रेन में पीटर नामक सहयात्री से उसने मुंबई, वरली के बारे में पूछा तो पीटर ने कहा—“दिन में बंबई में पटरियों पर जापानी, अमरीकी और जर्मन चीजें बिकने के लिए पड़ी रहती है, रात में औरतें। वहां भूख के लिए शादी नहीं करनी पड़ती, चार आने में उसल पाव और चार रुपए में औरत मिल जाती है।”³

बेघर उपन्यास महानगरों की दिल दहला देने वाली जीवनशैली, वहां रोजगार की तलाश में आए युवाओं के संघर्ष, वहां के रुखेपन एवं आत्मीयता के अभाव पर भी प्रकाश डालता है। परमजीत जब ऑफिस पहुंचता है तो एक गैरेज को ऑफिस के रूप में देखकर वहां जमी धूल, कॉकरोच, गंदगी एवं बंद पड़े टाइपराइटर टेलीफोन को देख कर समझ जाता है, कि बरसों से यहां काम बंद पड़ा है। आसपास के लोगों से मिलता है तो उसे अहसास होता है कि शहर का मिजाज कितना रुखा है। लोग कितने व्यस्त हैं, उन्हें किसी से बात करने में कोई रुचि नहीं है। अंजाना शहर, नितांत अपरिचित। यहां लोग उसे पंजाबी कह कर बुलाते हैं। उसने कभी शहरों के ऐसे रुखे मिजाज की कल्पना नहीं की थी। “शहर का मिजाज इतना रुखा होगा, परमजीत ने नहीं सोचा था। उसके सामने यह समस्या कभी पहले आई ही नहीं कि अगर शहर उसे मंजूर न करे तो क्या होगा। अपने शहर में वह अपने को इस कदर घर पाता था कि उसे कभी कुछ अनजाना नहीं लगा। फिर वहां जो चीजें अनजानी थीं उनसे वह भिड़ता भी नहीं था। पर यह शहर उसके लिए नितांत अपरिचित था, उसके घरेलूपन व बेफिक्र आरामपसन्दी के लिए चुनौती।”⁴ समुद्र सड़कों और बड़ी-बड़ी ऊँची इमारतों के बीच बंबई महानगर जहां सड़क पर चलते-चलते कब समुद्र शुरू हो जाता, वह कभी जान नहीं पाया। सड़क और समुद्र के बीच सिर्फ एक मुँडेर का फासला होता, जिस पर शाम को लोग बैठकर सिंग दाना खाते, नारियल पानी पीते एवं अनेक प्रेमी युगल प्रेम करते। इस शहर की कोई भाषा नहीं थी, कोई व्याकरण नहीं था।

परमजीत की कार्यकृशलता से बिजनेस बढ़ता जाता है, वह एजेंट से चीफ एजेंट बन जाता है। उसका दफ्तर गैरेज से एक अच्छी इमारत में शिफ्ट हो जाता है। अब वह अकेला नहीं होता, उसके दफ्तर में एक सहयोगी, तीन कलाक, एक टाइपिस्ट व एक चपरासी होता है, लेकिन इसके बावजूद अपने एकाकीपन व उदासी को दूर करने के लिए उसे घर जैसी कोई जगह, कोई जिगरी दोस्त चाहिए था। विज्ञापन के प्रचार के सिलसिले में वह वालिया एडवरटाइजिंग एजेंसी के मालिक और मालिक की कुर्सी पर बैठने वाली विजया केलकर से मिलता है। मिस्टर वालिया के रूप में उसे एक दोस्त मिल जाता है। परमजीत जब पहली बार वालिया के घर जाता है, तब उसे पता चलता है कि वालिया और विजया विवाहित न होने के बावजूद एक ही घर में एक साथ रहते हैं, एक दूसरे से प्रेम करते हैं। इस बात से भिज्ञ उनके परिवार वालों को उनके

इस रिश्ते से कोई एतराज नहीं है। 70 के दशक में लिव-इन में रह रहे मिस्टर वालिया एवं विजया के पात्र द्वारा ममता ने महानगरों की आधुनिकता एवं खुलेपन को अभिव्यक्त किया है।

आज जब हम 21वीं सदी में है, हमारे समाज में लिव-इन रिलेशन अच्छा नहीं माना जाता, लेकिन महानगरों में यह परंपरा कई दशकों से चली आ रही है, और समय के साथ-साथ बढ़ती ही जा रही है। ममता जी ने वालिया और विजया की बातचीत में उनके खुलेपन, आधुनिक विचारों एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव की झलक दिखाई है। मिस्टर वालिया जब विजया से कहते हैं—“विजया मैंने तुम्हें बताया था न वह फ्रेंच लड़की जिसकी क्रॉस टंग किस लेते समय उसका डैन्चर हिल गया था और उसने बहाना बनाकर मुंह घुटनों में छिपा लिया था कि हाँठ कट गया है।”⁵ बेघर महानगरों में रहने वाले लोगों के एकाकीपन को भी प्रकट करता है। महानगरों में रहने वाले लोग पार्टियों में, भीड़ में रहकर भी अंदर से एकाकी एवं उदास रहते हैं वहां किसी के पास किसी के लिए समय नहीं है। जब परमजीत पेइंग गेस्ट के रूप में कैंडल रोड़ पर केकी अक्लेसरिया के यहां शिफ्ट हुआ, तो उसने देखा बड़े से अहाते में एक पुराना कॉटेज जिसका नाम था रुस्तम विला, इसमें कमरे ही कमरे थे, लेकिन दो कुत्ते ब्रेडी और विस्की, दो नौकर बेहराब और तैयबजी के साथ रह रही केकी अक्लेसरिया एक पारसी महिला है, जो बचपन से अपने परिवार में उपेक्षित रहती है और परिवार दोस्तों के बीच रहकर भी एकाकीपन का शिकार है। वह चिड़चिड़ी होने के साथ-साथ शिकायतों का पुलिदा भी है। माता-पिता, बहन उसके बच्चे केकी को कोई भी पसंद नहीं है। यहां तक कि किराएदार भी उसके यहां नहीं टिकते। वह मृत्यु से भयभीत रहने वाली महिला है। जब कभी परमजीत उससे अपनेपन का व्यवहार करता, उसकी सुविधा का ख्याल कर उसकी चिंता करता केकी कहती, “तुम होते कौन हो मेरी सुविधा का ख्याल करने वाले, कल को तुम्हारा तबादला हो जाएगा, तुम किसी और शहर में चले जाओगे और तुम्हें पता भी नहीं चलेगा कि मैं किस सन् में मरी।”⁶

केकी के पात्र द्वारा ममता ने महानगरों में रहने वाले लोगों के जीवन में एकाकीपन से उपजी समस्याओं से परिचित कराया है। वर्तमान समय में एकाकीपन एक विकट समस्या बन गई है, हर व्यक्ति भीड़ में, परिवार में, दोस्तों के बीच रहकर भी अंदर ही अंदर अकेलेपन का शिकार है और यह एकाकीपन धीरे-धीरे अवसाद का रूप ले लेता है। केकी को देखकर परमजीत को घर और घर के

लोगों की अहमियत समझ आती है।

अचानक परमजीत की जिंदगी में संजीवनी आती है। उसकी सादगी, शालीनता देखकर वो संजीवनी की ओर आकर्षित होता है, दोनों दोस्त बनते हैं, साथ में दफ्तर आना-जाना, शॉपिंग करना, फिल्में देखना, शाम को समुद्र किनारे हाथों में हाथ डालकर घंटों बैठना दोनों को ही अच्छा लगता है। दोस्ती कब प्रेम में बदल जाती है पता ही नहीं चलता। परमजीत ने सदैव ऐसी ही शिक्षित, सभ्य, आत्मनिर्भर, समझदार, जीवनसंर्गीनी की कल्पना की थी, उसका मन संजीवनी को पूरी तरह पा लेने के लिए आतुर हो जाता है और एक दिन दोनों का दैहिक मिलन हो जाता है और यही मिलन उनके अलगाव का कारण बनता है। ‘परमजीत को तकलीफ हुई, बे-तरह तकलीफ यह जानने की कि वह पहला नहीं था। बदहवासी मिटाते ही यह बात उसे पत्थर की तरह लगी। लड़कियों के कुंवारेपन की पहचान उसने चीख-पुकार और खून से संबद्ध की थी। आरंभिक विरोध के बाद संजीवनी उसे प्रस्तुत मिली और बाधाहीन।’⁷ संजीवनी जो पूरी तरह निर्दोष होते हुए भी दोषी की तरह रोती है और अपनी सफाई में कुछ नहीं कह पाती, उस रात नफरत से भरी हुई विपिन को याद करती है, जिसने जबरदस्ती हावी होकर उस पर आकस्मिक आक्रमण कर दुर्घटना किया था। संजीवनी को परमजीत पर भी बहुत गुस्सा आता है कि वह उस पर शक करने की हिम्मत कैसे कर सका। क्या मेरा अब तक का सारा प्यार दुलार सिर्फ इस अप्रिय और छोटी सी दुर्घटना से नजरअंदाज कर देगा। बेघर के माध्यम से लेखिका ने स्त्री-पुरुष संबंधों की खुलकर बात की है। वे यह बताना चाहती है कि दुनिया कितनी भी आगे बढ़ जाए, पुरुष कितना भी आधुनिक हो, पढ़ा लिखा हो किंतु स्त्री के प्रति उसकी मानसिकता आज भी वही है, जो सदियों पहले थी। वह चाहता है कि प्रेमिका या पत्नी का संबंध उससे पहले किसी से ना हो, लेकिन पुरुष के लिए यह बंधन कर्तव्य नहीं है। भारतीय समाज में लड़की के कुंवारेपन से संबंधित संकीर्ण मानसिकता का चित्रण भी ममता ने बड़ी बेबाकी से किया है।

क्या यौन शुचिता इतनी बड़ी चीज है कि पुरुष अपने

प्रेम को ठुकरा दे? लेकिन 21वीं सदी में भी पुरुषों की मानसिकता उनकी कुंठाएं, उनका अहं, अवैज्ञानिक सोच, रुढ़िधारणाएं महिलाओं के प्रति वही है, जो प्राचीन काल में थी। आज भी उनका पुरुष अहं प्रेम पर भारी पड़ जाता है। अपने पुरुष अहं की तुष्टि हेतु वे एक पवित्र लेकिन अपने पसंद के विपरीत लड़की से विवाह कर लेते हैं पर ताउप्र उनसे प्रेम नहीं कर पाते। जिससे प्रेम करते हैं उससे विवाह न कर पाना, जिससे विवाह करते हैं उससे प्रेम ना कर पाना, एक ऐसी विडंबना है जिसमें पड़कर पुरुष अपने परिवार के साथ रहते हुए भी एकाकी हो जाते हैं। मन का साथी न मिलने से नीरस हो शारीरिक व मानसिक यातनाएं झेलते हैं। ‘बेघर’ पुरुष अहं के इस पहलू को उजागर करने में पूर्णतः सफल रहा।

संदर्भ सूची

- कालिया ममता, बेघर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 09
- वही, पृ. 09
- वही, पृ. 13
- वही, पृ. 16
- वही, पृ. 22
- वही, पृ. 48
- वही, पृ. 66

—श्रीमती मेनुका श्रीवास्तव
शोधार्थी हिन्दी
शासकीय दानवीर तुलाराम स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
उत्तई

—डा. सियाराम शर्मा
शोध निर्देशक
शासकीय दानवीर तुलाराम स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
उत्तई
पत्राचार का पता : 10/2, मैत्री नगर, रिसाली, भिलाई,
जिला दुर्ग, छत्तीस गढ़
पिन कोड-490006
मो. 9827486965

दलित स्त्री मुक्ति का स्वकथन : अपनी जर्मीं अपना आसमां

—कुसुम सबलानिया

हिंदी में दलित स्त्री लेखन बहुत नवीन है किंतु अपने अल्पावधि में उसने ऊँचाइयों को छुआ है। कम समय में साहित्य की लगभग सभी विधाओं में सशक्त लेखन हो रहा है। दलित साहित्य को स्थापित करने में दलित आत्मकथाओं का विशिष्ट योगदान रहा है यह कहना गलत नहीं होगा कि दलित आत्मकथाओं से ही दलित साहित्य को पहचान मिली। दलित आत्मकथा केवल उस व्यक्ति का जीवन चरित्र नहीं है अपितु उस समाज का दर्पण भी है जिसे लेखक ने भोगा है। हिंदी में दलित स्त्री की ‘दोहरा अभिशाप’ और ‘शिकंजे का दर्द’ के बाद ‘अपनी जर्मीं अपना आसमा’ तीसरी आत्मकथा है। आत्मकथा लेखन जोखिम भरा कार्य है क्योंकि इसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। लेखक अपने जीवन का भोगा हुआ दुख, दर्द, संताप, पीड़ा आदि का यथार्थ परत दर परत खोलता है। एक बार पुनः उन यातनाओं से साक्षात्कार करने का अदमय साहस करता है। इस संदर्भ में लेखिका का स्वयं मत है, “अपने जीवन के बारे में लिखना जोखिम भरा काम है स्वकथन लिखने से परिवार की निजता भंग होती है। महिलाओं के मामलों में परिवार पितृसत्ता की परते उधड़ती हैं”¹। दलित आत्मकथाओं में ‘अपनी जर्मीं अपना आसमा’ का अलग महत्त्व है। इसमें लेखिका का जीवन अनुभव अन्य लेखकों के अपेक्षा मर्मांतक पीड़ा कुछ क्षीण हुआ है क्योंकि समाज के साथ-साथ पारिवारिक संघर्ष को झेलते हुए अपने अंदर उत्साह एकत्रित कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अग्रसर रहती हैं। दलित समाज में अशिक्षा बड़ी समस्या है जिससे निजात पाने के लिए दलित लगातार संघर्षशील है, किंतु तथा कथित सर्वण द्वारा अछूत जातियों को शिक्षा से वंचित रखने के लिए तरह-तरह के उपाय किए जाते रहे हैं। रजनी तिलक ने जाति और जेंडर दोनों आधार पर शोषण के दंश को झेला है। स्त्री होने कारण समाज के साथ-साथ परिवार में भी शिक्षा को लेकर पाबन्दियाँ कसी जाती है। दलित परिवार अशिक्षित होने के कारण शिक्षा के महत्त्व को नहीं समझता जिसके कारण भावी पीड़ी को शिक्षा से वंचित होने की संभावनाएं बनी रहती हैं।

लेखिका भी अन्य दलित परिवारों की तरह मूढ़ता की सदैव शिकार होती है जिसे भेदने के लिए लेखिका सदैव तत्पर रहती है। अपने लिए ही नहीं बल्कि इससे भावी पीड़ी की मुक्ति के रूप में देखना चाहती हैं। इसी संघर्ष को रेखांकित करते हुए शेखर पवार ने रजनी तिलक की शिक्षा के प्रति ललक को देखते हुए कहा है, ”यह तथ्य और सत्य यह जीवनी

प्रमुखता से और प्रखरता से रेखांकित कर स्त्रियों को अधिकार संपन्न बनाने का अपना लक्ष्य निर्धारित करती है। इसलिए यह जीवनी स्त्रियों को अधिकार वंचित, और अनपढ़ रखे जाने की पुरुष सत्तात्मक सोच एवं मानसिकता के विरोध की मुखर अभिव्यक्ति कही जा सकती है।² रजनी तिलक अपने छात्र जीवन से संघर्षशील रही हैं। महिलाओं की मुक्ति केवल शिक्षा के माध्यम से ही संभव है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी आत्मकथा है।

रजनी तिलक की आत्मकथा जिसे उन्होंने स्वकथन कहना बेहतर समझा वह दरअसल एक दलित महिला का स्वकथन मात्र न होकर उस समाज के सभी महिलाओं का दर्द, पीड़ा है जिसे जन्म के साथ ही जाति और जेंडर के आधार पर भोगना पड़ा है। रजनी तिलक की आत्मकथा कौशल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे दोनों की आत्मकथा से कई दृष्टियों से भिन्न है। रजनी तिलक का परिवेश शहरी है। शहरी जीवन शैली में अर्थ की महत्ता अधिक रहती है। गाँवों की अपेक्षा शहरों में जाति की जकड़न थोड़ी ढीली हुई है। किसी व्यक्ति का जीवन स्तर आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। दरअसल रजनी तिलक का परिवार शहरी और ग्रामीण दोनों के ढंद में है। ग्रामीण संस्कार माता-पिता त्याग नहीं कर पाएँ हैं। जिसके कारण लड़कियों की शिक्षा को महत्त्व नहीं देते हैं। वहीं भाई मनोहर जो की अंबेडकरी विचार से परिवर्तित हो चुका नव युवक है और महिला शिक्षा, महिला विकास, देश के विकास में महिलाओं की भागीदारी के महत्त्व को समझ लिया है। इस कारण अपनी बहन के साथ खड़ा होता है और आगे की शिक्षा के लिए दाखिला दिलवाता है। रजनी तिलक ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है, “अपने लिए मैं सोचने लगी बेशक उससे मैंने प्रेरणा ले ली। मैं अपनी पढ़ाई के लिए भाईजी (पिताजी) से लड़ कर रोने लगती। मनोहर ने इसमें पूरा साथ दिया।”³ मनोहर रजनी तिलक के बड़े भाई हैं जो आधुनिक विचार से परिपूर्ण हैं। महिलाओं के अधिकार के प्रति जागरूक हैं।

भारतीय समाज में जाति एक बहुत बड़ा घटक है। जिससे कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो पाया है और जाति आधारित परंपरा, संस्कृति, रीति-रिवाज भी है। जिसके कारण शोषण समाज और भी शोषण का शिकार होता जा रहा है। रजनी तिलक का परिवार भी रूढ़िगत पारंपरिक कुरीतियों के शिकंजे में कैद है। जिसका वर्णन अपनी आत्मकथा में बार-बार किया है। दलित परिवार भी जाति-पाती, उंच-नीच छुआ-छूत आदि ब्राह्मणवादी

मानसिकता से ग्रसित है। दलित भी स्त्री को मुक्त नहीं करना चाहता है। वह भी उस पर तरह-तरह के अंकुश लगाकर घर के अंदर कैद करना चाहता है। रजनी दिसोदिया दलित पुरुष की मानसिकता के बारें में लिखती है, ”ऐसे में दलित पुरुष स्त्री को और से और घर के भीतर उसे उसके शरीर के भीतर बांधना चाहता है वहीं दलित स्त्री घर और देह के सारे बंधन खोल देश और समाज के निर्माण में भी अपने व्यक्तित्व को साकार करना चाहती है।”⁴ रजनी तिलक जीवन पर्यंत लेखिका के रूप में, सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में या नौकरी पेशे में स्त्री अधिकारों के लिए संघर्ष करती रही हैं।

दलित परिवारों में पितृसत्ता के कारण दुहरी शोषण व्यवस्था दलित स्त्री को झेलनी पड़ती है। समाज में दलित होने के कारण हेय दृष्टि से देखा जाता है तो वही परिवार में स्त्री की उपेक्षा कम नहीं है। दलित परिवारों में लड़की और लड़के के परिवर्श में असमानता स्पष्ट देखने को मिलती है इसका प्रमुख कारण पुरुष को घर का मुखिया बनाना है। हालांकि दलित पुरुष भी सामाजिक समानता के लिए बराबर संघर्ष कर रहा है। ऐसे माहौल में दलित व्यक्ति के लिए शिक्षा दुसाध्य वस्तु से कम नहीं है। तब दलित स्त्री के सामाजिक समानता की कल्पना कैसे की जा सकती है। दलित स्त्री की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्थिति का मूल्यांकन करते हुए गोपा जोशी ने लिखा है, “दलित स्त्री अपनी जाति, वर्ण, और लिंग कि वजह से सर्वाधिक दमित और शोषित रही है। इस शोषण-दमन कि प्रकृति को समझने के लिए दलितों के शोषण-दमन का ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और पितृसत्तात्मक संदर्भ में देखना होगा।”⁵ रजनी तिलक आत्मकथा की शुरुआत अपने दादा जी के विस्थापन से करती हैं। विस्थापन का दर्द स्वयं लेखिका का भी भोग हुआ यथार्थ है। विस्थापन का दर्द उन्हें पीढ़ीगत मिला है। इसी सृति के सूत्र को लेकर दलित जीवन की जाति प्रताड़ना को रेखांकित किया है। इस आत्मकथा का सबसे मजबूत पक्ष स्त्री की आत्मविश्वास, मनोबल की दृढ़ता तथा अपने अधिकारों के प्रति सचेतता है। इस बात की पुष्टि करते हुए पुनिता जैन लिखती हैं, ‘लेखिका की मूल पीड़ा दलित की तुलना में स्त्री की अधिक है। उनकी संपूर्ण संघर्ष यात्रा में दलित होने की पीड़ा पर स्त्री मुक्ति का संघर्ष भारी है।’⁶ लेकिन यह भी ध्यान देना चाहिए कि रजनी तिलक स्त्री के साथ-साथ उस समाज की प्रतिनिधि हैं जिसका जाति के आधार पर शोषण की परंपरा सदियों

से चली आ रही है और आज भी इससे मुक्ति नहीं मिल पाई। आज भी दलित परिवार को सर्वर्ण भोज पर नहीं बुलाते और न ही दलित समुदाय के भोज में शामिल होते हैं। रजनी तिलक ने इसका जिक्र अपनी आत्मकथा में कई बार किया है। जाति किस प्रकार दलित स्त्री के विकास में बाधा बनती है। इसका उल्लेख सभी दलित लेखिकाओं के आत्मकथा में वर्णित है। दलित परिवार की लड़कियों का शोषण बचपन से ही होना शुरू हो जाता है। दलित समुदाय को धन संपदा से वंचित रखा गया है जिसके फलस्वरूप घर के सभी सदस्यों को रोजी-रोटी के लिए शारीरिक श्रम करना पड़ता है, छोटी बच्चियाँ को भी घर का काम करना पड़ता है। जिसका दर्द स्वयं रजनी तिलक ने अपने शब्दों में बया किया है, “एक दलित लड़की पैदा होते ही माँ-बाप के श्रम की भागीदार हो जाती है। घर का काम में माँ के साथ जुट जाती है और अपने छोटे-छोटे बहन-भाइयों का ख्याल रखती है।”⁷

दलित समाज लड़कियों की शिक्षा के प्रति पूर्वग्रह से ग्रसित है कि पढ़-लिख कर करेगी क्या? आखिर घर में खाना ही तो पकाना है। यही धारणाएँ अशिक्षित परिवार में लड़कियों के विकास में बाधा बन जाती है जिससे दलित समुदाय की स्त्रियों को अपनी अस्मिता, अस्तित्व, मानवीय गरिमा का एहसास भी नहीं हो पाता। वह मनुवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था में गुलामी का जीवन व्यतीत करने को मजबूर हैं। दलित स्त्री का संघर्ष सबसे पहले परिवार से ही शुरू होता है। माता-पिता स्त्रियों की शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं करना चाहते हैं बल्कि जो लड़की पढ़ने के लिए उत्सुक भी होती है उनका मनोबल परिवार नामक संस्था द्वारा तोड़ दिया जाता है। रजनी तिलक के साथ ऐसे ही होता है वे लिखती हैं, “एक बार की बात है परीक्षाएँ चल रही थीं। पढ़ते-पढ़ते मैं अपनी किताब आस-पास ही रखकर खाना बनाने के लिए अंगीठी सुलगाने चली गई। अंगीठी सुलगाकर खाना बनाया, बर्तन बैगरह करके मैंने अपनी किताब ढूँढ़ी तो नदारद थी। तीसरे दिन सामाजिक ज्ञान का पेपर था, केवल अगला दिन ही बाकी था भाभी से पूछा तो वह शोर मचाकर गाली देने लगी। रोना शुरू कर दिया। मैं डर कर सहम गई थी।”⁸ रजनी तिलक परिवार के सदस्य खासकर माँ-पिता के इस व्यवहार से हतप्रत तो होती है लेकिन इस बेड़ियों को तोड़ कर आगे निकालने की चेष्टा को कभी कम नहीं होने दिया। पढ़ाई के साथ-साथ रजनी तिलक देश की गतिविधियों का भी ध्यान रखती हैं।

सामाजिक मुद्दों में सक्रिय रूप से सहभागिता लेती हैं। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक महिलाएं घर से बाहर निकल दुनिया के पटल पर अपनी समस्याओं को एकत्रित होकर नहीं रखती है तब तक समाज उन समस्याओं को जस के तस बनाए रखने में सक्षम होगा। भारतीय समाज में पुरुषवादी मानसिकता के लोग महिलाओं को घर के चाहारदीवारी में कैद रखना चाहते हैं। महिलाओं के साथ छेड़छाड़, बलात्कार जैसी घटनाओं को प्रोत्साहन दे कर घर के पिजड़े में कैद करने के सिद्धान्त गढ़ लिए जाते हैं जिससे स्त्रियाँ घर की चहारदीवारी से बाहर न निकले और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन न कर सकें। ऐसी ही एक घटना रजनी तिलक की सहपाठी के साथ हुई। जींस पहनने के कारण अध्यापक उसे कक्षा से बाहर निकाल देते हैं। कपड़ों को लेकर भारतीय संस्कृति की दुहाई देते हैं और उसे बुरा-भला कहते हैं जिसका विरोध रजनी तिलक बड़े साहस के साथ करती है। उन्होंने एक अखबार में लिखित रूप में शिकायत भेज दी जिसके कारण अध्यापकगण रजनी तिलक को माफी मांगने के लिए दबाव बना रहे थे जिसका उत्तर रजनी तलाक कड़े शब्दों में दिया—“मैंने कोई गलती नहीं की मैं क्यों माफी मांगू। सर यदि मुझसे जबरदस्ती लिखाओगे तो मैं एक और चिढ़ी इस पर भी लिख दूँगी कि मुझे तंग किया जा रहा है।”⁹ रजनी तिलक स्त्री के सभी मुद्दों पर अपने स्पष्ट विचार रखती हैं।

रजनी तिलक कई सोशल मूवमेंट की सक्रिय सदस्य के रूप में भागीदारी करती रही हैं। जैसे अखिल भारतीय आंगनवाड़ी वर्कर एवं हेल्पर यूनियन की सदस्य रह कर आंगनवाड़ी में महिलाओं के कम वेतन का खुलकर विरोध करती हैं। परिवार, समाज तो अलग है। सरकारी नीतियों में भी महिलाओं का शोषण कम नहीं हुआ है। अक्सर महिलाओं का वेतन पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम होता है, जबकि महिलाओं से श्रम भी अधिक लिया जाता है। रजनी तिलक सामाजिक कार्यकर्ता के साथ-साथ राजनीतिक सक्रियता के साथ भाग लेती थीं, क्योंकि अपने अधिकरों की सुरक्षा के लिए राजनीतिक चेतना का होना भी आवश्यक है। सत्ता की भागीदारी में स्त्रियों की भूमिका आजादी पूर्व नगण्य थी। आधी आबादी कहीं जाने वाली स्त्री को सदियों से सत्ता से दूर रखा गया। किंतु भारत में आजादी के साथ पुरुष के समान बराबर मत का अधिकार महिलाओं को भी मिला है। रजनी तिलक काशीराम के बामसेफ में सक्रिय रूप से भाग लेती थी जिसका उल्लेख भी उन्होंने किया है। वे लिखती हैं, “आंगनवाड़ी यूनियन के साथ-साथ

में समानन्तर बामसेफ में भी सक्रिय रही थी। मा. काशीराम के कई केड़े कैंप भी अटेंड किए जहां वो दलित समाज को नई धारा में तबदील करने का प्रयोग कर रहे थे।”¹⁰ रजनी तिलक की आत्मकथा महिला सशक्तिकरण तथा स्त्री मुक्ति के द्वार खोलती है। आत्मकथा में विविध आयाम मौजूद हैं जो स्त्री मुक्ति की अवधारणा को संपूर्ण रूप प्रदान कर सकते हैं। विशेषकर, उन वर्ग की महिलाओं के लिए प्रेरणादायी है जिस वर्ग की महिलाएं स्त्री होने के कारण इंसानी गरिमा से नदारद थी। यह आत्मकथा उन तमाम महिलाओं को प्रेरणा प्रदान करती है जो जाति, लिंगगत भेद-भाव का शिकार होते हुए तमाम यातनाओं को झेलती है और अपने मानवीय गरिमा को खो देती है। सामंती प्रवृत्तियों के आगे नतमस्तक हो कर गुलामी की बेड़ियों में जकड़ जाती है। यह आत्मकथा किसी एक विशेष व्यक्ति की न हो कर उन तमाम स्त्रियों का प्रतिनिधि करती है जो पितृसत्तात्मक ढाँचे को तोड़ कर अपनी अस्मिता के लिए खड़ी होने को तत्पर है। इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था को तोड़ने का सबसे बड़ा हथियार शिक्षा है। यही कारण है कि रजनी तिलक लाख बाधाओं के बावजूद अपने इरादे नहीं बदली। उनकी आत्मकथा की समीक्षा करते हुए पुनिता जैन कहती हैं, “यह आत्मकथा शिक्षा को स्त्री मुक्ति यात्रा के प्रथम कदम के रूप में देखने की बात करती है। यही इसका वैशिष्ट्य है।”¹¹ रजनी तिलक की आत्मकथा का पहला खंड है जिसमें अपने को स्थापित करने के लिए लेखिका संघर्ष करती है। यह आत्मकथा उन तमाम महिलाओं को बल प्रदान करती है जो इस

सामाजिक रूढ़िगत अंधकार में खोई है, उन्हें प्रकाश की ओर ते चलाने में सक्षम है। रजनी तिलक की यह आत्मकथा स्त्री मुक्ति का राह तलाशती है।

संदर्भ सूची

1. तिलक, रजनी, अपनी जर्मी अपना आसमां, ईशा ज्ञानदीप प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2017, पृ. 7
2. वही, कवर पेज
3. वही, पृ. 63
4. रजनी, तिलक, समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन, खंड-3, स्वराज प्रकाशन दिल्ली, सं. 2018. पृ. 77
5. जोशी, गोपा, भारत में स्त्री असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली यि., दिल्ली संस्करण 2011, पृ. 149
6. जैन, पुनिता, हिंदी दलित आत्मकथाएं : एक मूल्यांकन, दिल्ली सामयिक पेपरबैक्स, 2018, पृ. 347
7. तिलक, रजनी, अपनी जर्मी अपना आसमां, ईशा ज्ञानदीप प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2017, पृ. 11
8. वही, पृ. 48
9. तिलक, रजनी, अपनी जर्मी अपना आसमां, ईशा ज्ञानदीप प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2017, पृ.70
10. वही, पृ. 100
11. जैन, पुनिता, हिंदी दलित आत्मकथाएं : एक मूल्यांकन, दिल्ली सामयिक पेपरबैक्स, 2018, पृ. 352

—कुसुम सबलानिया
शोधार्थी (पीएच.डी.)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : kusumsabal9@gmail.com
मो. - 8802324084

फिल्म ‘कशमकश’ और रवींद्रनाथ टैगोर कृत उपन्यास ‘नाव दुर्घटना’ का तुलनात्मक अध्ययन

—श्रेयसी सिंह

फिल्म कशमकश एक प्रेम कहानी है। मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत एक ऐसी प्रेम कहानी जिसमें मूल्यों का, विचारों का, मानवीयता का द्वन्द्व है। यह कहानी संबंधों की जटिलता की कहानी है। उपन्यास ‘नाव दुर्घटना’ में भी यही बातें देखने को मिलती हैं। फिल्म और उपन्यास की मूल कथा वस्तु एक है परन्तु माध्यम बदलने से कहानी कहने के तरीके में परिवर्तन साफ-साफ देखा जा सकता है। फिल्म में नायक की दुविधा मुख्य है, जबकि उपन्यास में उसके साथ हुई दुर्घटना मुख्य है। फिल्म जहाँ आदर्श की तरफ झुकती है, वहीं उपन्यास यथार्थपरक है। सिनेमा और उपन्यास दोनों में ही चार मुख्य पात्र हैं—रमेश, हेमनलिनी, कमला और नलिनाक्ष। कहानी इन्हीं के आसपास घूमती रहती है। फिल्म की शुरुआत में ही इस बात की घोषणा कर दी गयी है कि यह फिल्म रविन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यास¹ पर आधारित है। फिल्म सन् 1921 की पृष्ठभूमि पर आधारित है। फिल्म की शुरुआत एक पत्र के माध्यम से होती है। वह पत्र जो नायक रमेश नायिका हेम के नाम लिखता है। यही पत्र फिल्म का पहला संवाद है। नायक नायिका को संबोधित करते हुए लिखता है, ‘माइ होम लोटस हेम नलिनी’ तुम जितना भी कहो कि तुम्हें भगवान पर विश्वास नहीं है, लेकिन ये एक ठाकुर है जिन्होंने तुम्हें सर से लेकर पाँव तक भक्तिमयी बना कर छोड़ा है और ये बात सभी जानते हैं।² नायक को मालूम है कि नायिका रविन्द्र साहित्य के प्रति विशेष रूप से आकर्षित है। उपर्युक्त पत्र में वह उसके इसी साहित्य प्रेम की चर्चा करता है। यह एक सुंदर-संवादात्मक पत्र है, जो एक प्रेमी ने अपने प्रिय के नाम लिखा है। प्रेम की कितनी उदात्त धारणा है, जहाँ प्रेमी प्रिय के बाह्य आवरण को ही नहीं देख रहा बल्कि उसकी आत्मा के सौन्दर्य को भी देखने का प्रयास करता नजर आता है। इस फिल्म में प्रेम के छोटे-छोटे छीटे हैं, समस्त को मिलाकर एक विराट दृश्य निर्मित होता है। फिल्म में हेम की माता का स्वर्गवास हो चुका है। हेम के पिता एकान्त में, अपनी पत्नी की तस्वीर से बातें किया करते हैं। एक उम्र के बाद कितनी जरूरत होती है साथी की, जिसके साथ स्वयं को पूरी तरह से बांटा जा सके, बिना किसी द्विज्ञक के, उससे अपनी तकलीफों को, अपने सुखों को शेयर किया जा सके। हेम के पिता अपनी बेटी का विवाह करना चाहते हैं, मगर वे बेटी

की मर्जी के अनुसार उसका विवाह करना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि हेम के लिए विवाह केवल संबंधों का समझौता हो। जबकि नायक रमेश के पिता उसे एकाएक गाँव बुलाते हैं और जोर देकर एक गरीब विधवा की बेटी सुशीला से उसकी मर्जी के खिलाफ उसका विवाह करवा देते हैं। यहाँ नायक और नायिक के सामाजिक अंतर को समझा जा सकता है। नायिका संभ्रांत परिवार से है, यहाँ व्यक्ति को समाज की निजी संपत्ति नहीं समझा जाता। नायक एक साधारण गृहस्थ परिवार से ताल्लुक रखता है। जहाँ शादी दो लोगों का व्यक्तिगत रिश्ता नहीं, बल्कि दो परिवारों का सम्बन्ध है। समाज और परिवार के हित में व्यक्तिगत इच्छा को त्याग देना ही आदर्श समझा जाता है।

विवाह के पश्चात रमेश अपनी दुल्हन लेकर नदी के रास्ते जा रहा होता है कि तूफान आ जाता है। नाव टूट जाती है। होश आने पर रमेश देखता है कि वह तट पर है तथा उसके पास एक नवविवाहिता स्त्री भी बेहोश पड़ी हुई है। रमेश सोचता है—“नाव जो आकर किनारे पर रुकती है, वह किस भयंकर तूफान से गुजरी होगी, वह तुम्हारे कवि को ही मालूम होगा।”³ विवाहिता स्त्री को वह अपनी पत्नी समझ बैठता है तथा सोचता है—“समुन्दर के बारे में कहा जाता है कि वह कोई भी चीज छीनता नहीं है वापस लौटा देता है, नदी के लिए भी यह बात सच है यह मुझे पहली बार पता चला।”⁴ रमेश जिसे सुशीला समझता था, वह कमला थी। यह बात उसे शीघ्र ही पता चल गयी। एक तूफान ने उसे कमला से मिलाया था, एक दूसरे तूफान ने उसे कमला के असलियत से परिचित करवा दिया। वह कमला को सुशीला कहकर पुकारता है, कमला दुखी होकर कहती है—“आप मुझे सुशीला कहकर क्यों बुलाते हैं, नाम बदलने से क्या मेरी किस्मत बदल जायेगी, मैं भाग्यशाली बन जाऊंगी। मेरा नाम कमला है।”⁵ रमेश अचरज में पड़ जाता है, वह कमला से कहता है—अच्छा तुम मेरा नाम बताओ, मैं तुम्हारे बारे में तो सब जानता हूँ। कमला शर्मित हुए कहती है, मैं आपका नाम ले नहीं सकती लिख के दिखाती हूँ और उसने अपने पति का नाम लिखा—नलिनाक्ष चटर्जी।

रमेश भाग्य की इस विडम्बना पर हैरान रह जाता है। वह कमला को सुरक्षित उसके पतिगृह में पहुंचाने का प्रण लेता है। वह नहीं चाहता कि कमला को कोई सदमा लगे, वह नलिनाक्ष के मिलने तक इस राज को किसी से प्रकट नहीं करना चाहता कि कमला उसकी पत्नी नहीं है। दुविधा के उन्हीं क्षण में उसकी मुलाकात हेम और उसके पिता से होती है। वह एक दिन आधी रात में हेम से विवाह

का प्रस्ताव रखते हुए कहता है, हेम मेरे बारे में कोई कुछ भी कहे, बिना मेरे मुंह से सुने उसे सत्य मत मानना। फिल्म में स्त्री संवेदना को बहुत बारीकी से उकेरा गया है। एक वक्त था जब विवाह के लिए केवल लड़के की पसंद मायने रखती थी, पसंद करना या नापसंद करना, दोनों ही पुरुष के हाथ में होता था, लड़की को केवल बेशर्ट विवाह के लिए मंजूरी देनी होती थी। उसकी भी अपनी पसंद हो सकती है, यह कोई सोचता भी न था। आज भले ही यह बात पूरी तरह से सत्य साबित न होती हो, मगर आज भी लड़की देखने का रिवाज, उसे स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार केवल पुरुषों के हाथ में ही है। फिल्म के एक दृश्य में कमला, रमेश से कहती है—“लड़कियों को पसंद नापसंद करने का कोई हक नहीं, आप लेकिन मुझे बहुत पसंद हो।”⁶ रमेश और हेम का विवाह तय हो जाता है, मगर विवाह से पहले हेम का भाई योगीन्द्र रमेश की पत्नी के बारे में अफवाह सुनता है। वह अपने मित्र अक्षय के साथ रमेश के घर इसकी पड़ताल करने जाता है, जहाँ उसे कमला दिखाई देती है। वे कमला को रमेश की पत्नी समझ, हेम का रिश्ता उससे तोड़ देते हैं। रमेश सोचने लगता है क्या कमला जीवन भर उसकी पत्नी बन कर रह सकेगी? वह स्वयं को अपवाद से बचाने के लिए कमला को लेकर पश्चिम की यात्रा पर निकल जाता है, तथा गोरखपुर में आश्रय लेता है। रमेश की पत्नी के बारे में योगीन्द्र के मुख से हेम सब कुछ सुनती है। वह सदमे में चली जाती है, रमेश उसके जीवन का, उसके प्रेम का आधार था, आधार के यूँ छूट जाने पर वह निराधार हो जाती है। उसकी नाव बीच नदी में अपनी राह से भटक जाती है, वह सोचने लगती है क्या मेरी नाव कभी किनारे पर लगेगी? उसके पिता जब हेम की इस चिंतनीय अवस्था को देखते हैं तो उससे कहते हैं—“मन में जो बसा हुआ है, उसे जबरदस्ती मिटाने की कोशिश मत करना, तुमने जानबूझकर दिल नहीं लगाया था, उसे दिल से निकालना आसान कहाँ? हेम अपने पिता से पूछती है—“क्या मेरी पूरी जिन्दगी ऐसे ही बीतेगी?” उस पर उसके पिता कहते हैं—“जिन्दगी इतनी छोटी नहीं है बेटी। जिन्दगी, समय ये सब बहुत लम्बे होते हैं। क्योंकि केवल तीन अक्षर का शब्द है न, इसी से हम उसे छोटा समझ बैठते हैं। जिन्दगी को अपने रप्तार में बहने दो, देखना! जिंदगी तुम्हें खुद बताएगी कि तुम्हारे दिल में कौन होगा?”⁷ हेम के पिता उसे लेकर काशी जाते हैं, ताकि स्थान परिवर्तन से उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ ठीक हो सके। काशी में हेम की मुलाकात डाक्टर नलिनाक्ष से होती है। इधर एक दिन

कमला के हाथ वह इश्तिहार लग जाता है जो रमेश ने कमला के पति नलिनाक्ष के नाम पर निकलवाया था जिसमें उससे अनुरोध था कि वह जहाँ भी हो अपनी वागदत्ता कमला को आकर ग्रहण करे। उस खबर को पढ़ते ही कमला का संसार खत्म हो जाता है, उसे मालूम होता है कि जिसपर वह अपना पति समझ के हक जमाती थी वह कोई परपुरुष है। वह इस आधात को सह नहीं पाती है, रमेश के नाम एक पत्र छोड़ वह नदी में डूब जाती है। हेम और नलिनाक्ष का विवाह तय हो जाता है। इसी बीच रमेश हेम के पास वापस आ जाता है। रमेश को वापस पाकर, हेम नलिनाक्ष से विवाह सम्बन्ध का विच्छेद कर लेती है। नलिन की विधवा मां से भोलानाथ नामक एक व्यक्ति कमला की पहचान छिपा कर ये आग्रह करता है कि इस अनाथ को आप अपने गृह में आश्रय दे दें। कमला, छिप छिप के नलिन की तस्वीर देखा करती है मगर नलिन की निगाहों से बच नहीं पाती। एक दिन उसकी साड़ी के पल्लू से बंधे उस अखबार के टुकड़े का सच सब पर उजागर हो जाता है जिसमें रमेश ने कमला के पति नलिन के नाम से सन्देश भिजवाया था।

इस तरह कमला की लम्बी साधना सफल होती है वह पति को पा लेती है। अंतिम दृश्य में रमेश भी हेम से मिलने उसके घर जाता है। फिल्म का झुकाव देखकर समझ में आता है कि फिल्म सुखान्त है। दोनों खोये हुए जोड़े अंत में मिल जाते हैं। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है फिल्म की कथा में कुछ बदलाव किये गए हैं। मूल उपन्यास में रमेश पहली बार सुशीला को देखकर मुग्ध हो जाता है, उस वक्त उसे हेम का ख्याल नहीं आता, रमेश सोचता है—‘रमेश उच्च शिक्षित है उसका मन एक अपरुप रस से परिपूर्ण हो इस लड़की के आगे झुका था। उसने मन ही मन इस बालिका को अपनी गृह-लक्ष्मी के रूप में सुशोभित कर लिया। इससे उसकी स्त्री एक होकर भी उसके मानस पटल पर अनेक रूपों में स्पष्ट होने लगी। रमेश ने हेम के प्रेम स्थान पर इस बहू को सहज ही प्रतिष्ठित करके अपने मन के मंदिर की देवी को सजा लिया था। वह बालिका, बहू, युवती, प्रेमिका और भावी संतानों की प्रतिभाशालिनी माता के रूप में उसके अंतर-नेत्रों के सामने विकसित हो उठी थी।’⁸ उपन्यास की कथा में रमेश को जब पता चलता है कि कमला उसकी पत्नी नहीं तब उसका कमला से मोहर्भंग होता है, वह हेम के पिता से हेम के लिए विवाह का प्रस्ताव रखता है, वह सोचता है विवाह तक हेम को वह कमला के बारे में कुछ नहीं

बतायेगा, विवाह के बाद वह उसे सब कुछ समझा देगा। “रमेश ने मन ही मन विचार कर लिया था कि वह विवाह के बाद कमला के विषय में हेम से सब बातें कह देगा उसके बाद कमला से भी सब बातों को कहने का अवसर मिलेगा इस तरह समझकर कमला सहेती की तरह हेम के साथ रहने लगेगी।”⁹ फिल्म में रमेश कमला को लेकर पश्चिम की ओर जाता है, मूल कथा में भी दोनों पश्चिम की ओर प्रस्थान करते हैं फिल्म में रमेश के मन में कमला की तरफ से कोई दुन्द नहीं है जबकि उपन्यास में वह कमला को लेकर संशय में है। वह सोचता है—‘कमला को परित्याग करने का कोई रास्ता नहीं है। इसलिए हेम को विदा करूँ। अब दुविधा में रहना ठीक नहीं। रमेश सोचने लगा कि हेम को विदा करने में बहुत सी बातों को विदा करना पड़ेगा।’¹⁰ स्टीमर पर रमेश की मुलाकात त्रैलोक्य चक्रवर्ती नामक व्यक्ति से होती है, वे स्वयं को चाचा कहकर अपना परिचय देते हैं। संशय की अवस्था में रमेश, कमला के साथ उन्हीं के घर पर शरण लेता है। जहाँ फिल्म में कमला रमेश की किसी बात का विरोध नहीं करती वहीं उपन्यास में वह कई निर्णय स्वयं लेती है। रमेश सोचता है परिचय में रहने पर लोगों पर उसका भेद खुल सकता है कि कमला उसकी पत्नी नहीं है, वह गाजीपुर रुकने का विचार छोड़ काशी जाने की सोचता है। पर कमला निश्चय एवं दृढ़ता से गाजीपुर में रहने का फैसला लेती है। उसकी दृढ़ता के सामने रमेश को भी झुकना पड़ता है।

धीरे-धीरे रमेश सोचने लगता है—‘दुविधा में न पड़ कमला को स्त्री बना लेने में ही भलाई है। यह सोच रमेश ने एक ठंडी सांस लेकर अपना मन इस अंतिम फैसले पर ही दृढ़ कर लिया।’¹¹

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. संवाद, फिल्म कशमकश, निर्देशक रितुपर्णो घोष, सन 2011
2. वही, 3. वही, 4. वही, 5. वही, 6. वही, 7. वही
8. नाव दुर्घटना, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मेपल प्रेस, प्राइवेट लिमिटेड, पृ. संख्या 9
9. वही, पृ. 25
10. वही, पृ. 60
11. वही, पृ. 10

—श्रेयसी सिंह
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005
मोबाइल नं. 9506402933

‘सूरजमुखी अँधेरे के’ में अभिव्यक्त स्त्री मन की पीड़ा

—सुमन साहू

‘सूरजमुखी अँधेरे के’ कृष्णा सोबती का एक चर्चित उपन्यास है। यह 1972 में प्रकाशित किया गया। सोबती का यह उपन्यास तीन खंडों पुल, सुरंग, आकाश में विभक्त है। तीनों खंड फ्लैशबैक शैली पर आधारित हैं, जिसमें कभी नायिका के वर्तमान को दिखाया है; कभी अतीत को। कृष्णा सोबती ने ‘सूरजमुखी अँधेरे के’ उपन्यास के अंतर्गत स्त्री मन की कई गांठों को खोलने का प्रयास किया है तथा स्त्री के अंतर्मन की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। यह उपन्यास एक ऐसी लड़की की कहानी प्रस्तुत करता है जिसका बचपन में बलात्कार हुआ है और वह इस ‘बलात्कार’ शब्द से अनभिज्ञ है, क्योंकि उस छोटी सी बच्ची को यह नहीं पता कि बलात्कार सामाजिक दृष्टि से एक जघन्य अपराध माना जाता है और इसमें गुनाहगार को तो बछा दिया जाता है, पर जिसके साथ गुनाह हुआ है उसे अपराधी मान कर यह समाज बार-बार उसको मानसिक चोट पहुंचाने की कोशिश करता है। समाज द्वारा एक लड़की के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है जैसे बलात्कार उसकी सहमति से हुआ है और उसने खुद सामने वाले को उकसाया होगा। हमारे समाज की यही सोच एक मासूम सी बच्ची को मानसिक पीड़ा से जूझने के लिए छोड़ जाती है। रत्ती भी इस मानसिक अंतर्दृद से गुजरती नजर आती है। उसे समाज तथा परिवार द्वारा एक दोषी के नजरिए से देखा जाता है। बलात्कार की एक घटना की वजह से रत्ती का जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। सोबती के इस उपन्यास के माध्यम से हमें यह भी देखने को मिलता है कि किस प्रकार समाज अपने सड़े-गले पुराने नियमों और विधानों द्वारा एक स्त्री की स्वतंत्रता को छीनने की साजिश करता है जिसमें पुरुषों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यहां रत्ती शिमला के हवा-घर में हुए इस हादसे को कभी भूल नहीं पाती क्योंकि उसे यह बात बार-बार स्मरण कराई जाती है। स्कूल में उसके सहपाठियों द्वारा उसके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है जिससे वह अत्यंत दुखी होती है पर वह कभी हार नहीं मानती। वह अपनी परिस्थितियों से निरंतर लड़ती है; कभी दुबक कर चुपचाप बैठना उसको मंजूर नहीं। जब उसके साथियों द्वारा उसे अपमानित किया जाता है तब वह अपने बल का प्रयोग कर अपने आत्मसम्मान की रक्षा करती है।

“अज्जू के कान के पास मुंह ला कर धीमे से कहा—किसी ने बुरा काम किया था न तुम्हारे साथ? खून निकला था न?” रत्ती ने आगे कुछ सुना नहीं। फटाक से सूरजमुखी का ढेर अज्जू के मुँह पर दे मारा—“मारूंगी, मैं तुम्हें और

मारूंगी।” नुचे हुए पंखों-सी सूरजमुखी की पंखुड़ियां सड़क पर बिखरी रहीं। रत्ती के मानस पटल पर वही पुरानी स्मृतियां घूमने लगीं। वह हवा-घर वह भद्रा चेहरा वह नीचे पटकता हाथ।¹ रत्ती का आक्रोश इसलिए भी बढ़ता जाता है कि उसकी पीड़ा कोई नहीं समझता, खुद उसके ममा-पापा भी नहीं। जब रत्ती द्वारा अज्ञू को पीटने पर बिना कोई कारण जाने पापा रत्ती को चपत जड़ देते हैं, तब रत्ती फूटती रुलाई को बरबस रोक भराए गले से कहती है—“आप दोनों गरे हो! गरे!”² रत्ती को लगता है कि उसके आत्मसम्मान की सुरक्षा की जिम्मेदारी अब उसके खुद की है इसलिए जब डिम्पी, अज्ञू, पिछू, श्यामली के द्वारा उसे बुरी और गंदी लड़की कहा जाता है तब—“जी कड़ा कर के रत्ती ने आँसुओं को गले से नीचे उतार लिया और अपने को समझा कर कहा—चुप! एक-एक को पकड़कर पीट देना।”³ अब अपने समवयस्कों के प्रति उसके हृदय में नफरत और आक्रोश भर गया है। तोषी, पाशी, त्रिलोकी आदि लड़के भी उसे चिढ़ाते हैं, तब वह बहादुरी और निररता से उन्हें चुनौती देती है—“फिर कभी ऐसा हुआ तो फाड़ डालूंगी किसी से कुछ कहती नहीं, पर याद रखना अब छेड़छाड़ की तो छोड़ूंगी नहीं समझे।”⁴ वह बच्ची यह नहीं समझ पाती है कि उसने आखिर ऐसा क्या कर दिया है कि सब उसे हिकारत की दृष्टि से देखने लगे हैं। क्यों? उसको हर बार तिरस्कार और उपेक्षा का समाना करना पड़ता है। दुष्कर्म की यह एक घटना रत्ती के जीवन को क्षत-विक्षत कर देती है।

रत्ती की आत्मावहेलना का कारण स्वयं रत्ती नहीं है वरन् हमारे समाज की संकीर्ण सोच और सामाजिक कुव्यवस्था है जो एक स्त्री को मानसिक रूप से अपने गिरफ्त में ले लेती है और उसे अंधेरे में ले जाकर पटक देती है, जिससे वह बाहर निकलने को छठपटाती है और स्वयं से ही निरंतर संघर्ष करती है। हमारा समाज स्त्री को देवी कह कर उसे पूजा की वस्तु मानकर बड़ी चालाकी से उसके दायरे को सीमित करने की कोशिश में लग जाता है। यह समाज कभी एक स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति नहीं देता। एक समाज में स्त्री को तब तक पूजा जाता है जब तक वह पाक व पवित्र है क्योंकि उसकी शारीरिक पवित्रता को परिवार की मान-सम्मान का परिचायक माना जाता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह मर्यादाओं का पालन करे, अगर उसकी छवि इसके विपरीत नज़र आती है तो उसे तमाम प्रकार की अवहेलनाओं का समान करना पड़ता है। ‘जब से समाज वर्गों में बंटा है, औरत का यौन-उत्पीड़न होता रहा है। यह एक ऐतिहासिक सच है। नारी के शोषण के रूप बदलने के साथ यौन-शोषण व यौन-उत्पीड़न का

स्वरूप भी बदलता रहा है। सामंती समाज में वह विलासिता और उपभोग की सामग्री मात्र थी। आज वह इसके साथ ही ‘कमोडिटी’ और निकृष्टतम कोटि की गुजरती गुलाम भी बना दी गई है। पूंजी के पूरे तंत्र में उसके लिए विशेष पेशे ईजाद किए गए हैं जो जनता के पुरुष हिस्से के मुकाबले उसे अतिरिक्त आर्थिक शोषण और अतिरिक्त उत्पीड़न यानी यौन-उत्पीड़न एवं यौन-शोषण का शिकार बनाते हैं।”⁵ रत्ती के साथ बाल्यकाल में हुए बलात्कार के कटु अनुभव को उसके समक्ष बार-बार दोहराया जाता है जिस वजह से रत्ती स्वयं को पूरी औरत नहीं मानती। वयस्क होने पर यही आक्रोश उसके व्यक्तित्व में उभरकर सामने आता है। रतिका कुण्ठाग्रस्त जीवन जीने को मजबूर है, जहां वह अपने ही सवालों में और अपने ही ख्यालों में कैद होकर रह गई है। “भविष्य वह अंधी आंखों वाला वक्त बना रहा जिससे रत्ती ने कभी साक्षात्कार नहीं किया। वक्त के पंजों-तले जितनी बार छटपटाई, उतनी बार तिलमिलाई। उतनी बार हाथ-पाँव पटके।”⁶ वह अपने अतीत की घटना को विस्मृत करने के लिए प्रायः बियर, जिन, शैम्पेन का आश्रय लेती है, परंतु मदोन्मत्त अवस्था के समाप्ति होने पर पुनः हवा-घर वाली घटना स्मृति लोक में प्रवेश कर उसे आक्रान्त करती है।

रतिका के जीवन में अनेक पुरुष पात्र जैसे- रोहित, राजन, जगतधर, रंजन, बाली, सुमेर, मुकुल, भानुराव, सुब्रामनियम, बिनु, जगन्नाथ, श्रीपत आदि रतिका के साथ प्रेम का पाखंड, सहानुभूति तथा मित्रता का झूठा संबंध बनाकर देह भोग की लालसा में उसकी ओर उन्मुख होते हैं पर जब रतिका द्वारा कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती तब उसे एक ठंडी मनहूस लड़की कह दिया जाता है। पुरुष अपने झूठे अहंकार की संतुष्टि के लिए उसके औरत होने तक पर सवाल उठाते हैं। पुरुषों द्वारा अक्सर एक स्त्री की देह को ही उसकी पहचान का प्रतीक माना जाता है, यदि यह नहीं तो मानों वह स्त्री नहीं। सोबती ने कुछ पुरुष पत्रों के माध्यम से समाज में व्याप्त सामंतवादी सोच को भी व्यक्त किया है। जगतधर और मीता के प्रसंग में यह देखा जा सकता है जहां जगतधर रतिका से कहते हैं—“मीता है पर मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुम्हें रत्ती।”⁷ यहां पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि जगतधर किस प्रकार रतिका और मीता दोनों स्त्रियों को पा लेना चाहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह दोनों ही स्त्रियों की देह से खिलवाड़ कर उन्हें किसी बेकार चीज़ की तरह दरकिनार कर देगा। रतिका को जब इस बात का अहसास होता है कि जगतधर की लुध्द दृष्टि उसकी देह पर है तब वह उसे मना करने का

बोल्ड निर्णय लेती है।

यहां पर स्त्रियों की देह को लेकर भारतीय समाज व्यवस्था की धिनौनी परम्परा भी हमें देखने को मिलती है। स्त्रियों की देह पर स्वयं स्त्रियों का नियंत्रण न होकर पुरुषों का होता है। अगर एक स्त्री अपनी वासना-तुष्टि के लिए पति के अलावा अन्य पुरुषों से संबंध बनाती है तो यह समाज बौखला उठता है। “शरीर चूंकि स्त्री का दुखता हुआ घाव होता है, उसके शोषण की प्राइम साइट, वह इसे लेकर हमेशा संशक्त रहती है। सर्वेक्षण बताते हैं कि दस लाख में से एक संबंध ही ऐसा होता है, जहां किसी मजबूरी में शरीर चारे की तरह बिछाने की या प्रयोजनसिद्धिमूलक कोई संबंध बनाने की या ‘आ बैल मुझे मार’ कहने की पहल कोई स्त्री करती है। देह का इस्तेमाल रिश्वत के रूप में वह करें जिसमें प्रतिभा कम हो या जो मेहनत से डरे, क्योंकि स्त्रियां मेहनत से नहीं डरतीं, दस हाथों से दस दिशाओं में फैले दस काम लगातार ही साधती चलती हैं। वह भी सेवा भाव से, इन्हें आंकी-बांकी राह चल के विकास के मामूली अवसर ‘वरदान’ रूप में किसी से वसूलने की जरूरत ही क्या?”⁸

सोबती पुरुषों को न केवल सामंती मानसिक सोच के रूप में चिन्हित करती हैं वरन् उन्होंने पुरुषों के उदार चरित्र को भी बतलाया है। उनके यहां पुरुष, स्त्री के प्रति स्नेहित मानवीय संबंध भी रखता है, उसे उसके दुःख और पीड़ा से निजात दिलाने की कोशिश करता है। रत्ती के जीवन में असद और दिवाकर ऐसे ही पुरुष पात्र हैं जिन्होंने रतिका के सच को जानते हुए भी उससे घृणा नहीं की, उससे साहचर्य और प्रेम का संबंध स्थापित किया। असद के सानिध्य में रत्ती को अपने होने का अहसास होता है। वह कुछ वक्त के लिए अपनी मानसिक पीड़ा से मुक्ति पा लेती है, पर असद भाई के गुजर जाने पर वह स्वयं को अकेला महसूस करती है, दुःखी होती है। वह असद द्वारा कहे गए कथन को हमेशा याद रखती है—“रतिका तुमने सिर उठा कर अपने लिए लड़ाई लड़ी है। कड़वाहट के जहर से अपने को दुश्मन नहीं बनाया, दोस्त नहीं मिला तो दोस्ती को दुश्मनी नहीं समझा। तुम एक अच्छी लड़की। प्यारी बहादुर।”⁹

जब दिवाकर रतिका के जीवन में आता है तब रतिका के प्रेम को विस्तार मिलता है। दिवाकर रतिका के अंदर चल रहे अंतरिक दुन्दू और मनोग्रथि का पता लगाना चाहता है तथा रतिका के अंदर व्याप्त हीनभाव को समाप्त कर देना चाहता है। अक्सर जब भी रतिका को कोई पढ़ने की कोशिश करता है तो वह झुँझला उठती है। प्रथम खंड

‘पुल’ के अंतर्गत उसके मित्र रीमा और केशी द्वारा उसके अंतर्मन को पढ़ लिया जाता है तब वह उत्तेजित स्वर में केशी से कहती है—“किसलिए-किसलिए तुम ऐसी सर्द बेरहमी से मेरे ही लिए मुझे ‘डिफाइन’ किया करते हो! मुझे ही टाइप कर मेरी टाइप कॉपी मेरे सामने डाले जाते हो।”¹⁰ दिवाकर रतिका के एकांत व उसके अंदर चल रहे उसकी खुद की लड़ाई को विराम देना चाहता है। वह रतिका से कहता है—“रतिका तुमने अपने इद-गिर्द कँटीली तारे लगा रखी हैं। अंदर खड़े-खड़े बाहर वालों से कहा करती हो सँभलकर इधर मत आना कौटे हैं कौटे!” रत्ती कई देर तक हँसती रही—“जानते हो दिवाकर, तुमने रत्ती के अंतर्गत टेलीफोन का नंबर ढूँढ़ निकाला है।”¹¹

इस औपन्यासिक कृति में सोबती ने स्त्री मन में चल रहे अंतर्दृन्दृ तथा तनाव ग्रसित स्त्री के आक्रोश, प्रतिशोध का मनोवैज्ञानिक विवेचन तथा विश्लेषण किया है। कहानी के अंत में दिवाकर के प्रति आत्मीय संबंध के कारण समर्पण के माध्यम से वह देह व आत्म-पीड़ा से मुक्त होती है।

सन्दर्भ सूची

1. सोबती कृष्णा : सूरजमुखी अंधेरे के, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2018, पृ. 47
2. वही, पृ. 50, 3. वही, पृ. 53, 4. वही, पृ. 56
5. कात्यायनी: दुर्गा द्वार पर दस्तक, परिकल्पना, लखनऊ, 1998, पृ. 36,
6. सोबती कृष्णा : सूरजमुखी अंधेरे के, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2018, पृ. 98
7. वही, पृ. 70
8. अनामिका : स्त्री विमर्श की उत्तरगाथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 13
9. सोबती कृष्णा : सूरजमुखी अंधेरे के, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2018, पृ. 120
10. वही, पृ. 40
11. वही

-सुमन साहू
(शोधार्थी हिन्दी)

शोध निर्देशक, डा. यशवंत कुमार साव
शासकीय दानवीर तुलाराम स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
उत्तर
पत्राचार का पता :
ग्राम-करगाड़ी, पो. खोपली
जिला-दुर्ग, छत्तीसगढ़
पिन-491107

विमर्श से आगे : एक रास्ता यह भी

—डॉ. राजेश कुमार

रजनी दिसोदिया जी की कहानियों पर बात करते हुए अक्सर यह प्रश्न आता है कि उनकी कहानियों में दलित विमर्श के किन-किन मुद्दों को जगह मिली है, इन मुद्दों के प्रति लेखिका का कैसा रवैया है? संयोग से स्वयं लेखिका ने पुस्तक की भूमिका में ही इस संदर्भ में अपना पक्ष रखा है—‘चर्चा रचना पर कम धारा पर ज्यादा होती है। मजे की बात तो यह है कि रचनाकार का वर्ण-लिंग-जात धारा के चुनाव में मुख्य भूमिका निभाती है न कि रचनाएँ। यद्यपि रचनाकार के वर्ण-लिंग-जात के प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता तथापि बात का आधार अंततः रचना ही होनी चाहिए।’¹ लेखिका का स्पष्टीकरण इस कहानी संकलन में संलग्न है तथापि उनकी कहानियों को दलित विमर्श की कसौटी पर परखने का आग्रह बना रहता है। दरअसल, किसी भी दलित लेखक की रचनाओं पर बात करते हुए यह मान लिया जाता है कि उसकी रचनाओं में रुदन होगा, आवेश होगा, क्षोभ होगा, प्रतिरोध होगा और ब्राह्मणवाद की मोटी मोटी गालियाँ दी गई होंगी। उन रचनाओं को दलित चेतना का दस्तावेज घोषित करके आलोचना की इतिश्री हो जाती है। दिसोदिया जी की कहानियों में न तो रुदन है, न आक्रमकता। मोटी-मोटी गालियों का तो सवाल ही नहीं। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय परिस्थितियों में रची गई हैं। फिर कहानियों के मूल्यांकन में कहानियों के परिवेश, विषय-वस्तु और लेखिका की अनुभूतियों को नजरअंदाज करके दलित विमर्श की कसौटी पर परखने का आग्रह क्यों? दरअसल, यह आग्रह बियॉन्ड टेक्स्ट आलोचना का आग्रह है। यह आग्रह पूरी तरह निराधार भी नहीं है। ‘साहित्यकार के धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण और जाति की पहचान उसके साहित्य को परत-दर-परत खोलते हैं और इन पर्ती में छिपे पाठ भी उजागर होने लगते हैं।’² रजनी दिसोदिया की कहानियों का मूल्यांकन करते हुए यदि बियॉन्ड टेक्स्ट आलोचना के आग्रह को मान लिया जाए तो यह जरूरी नहीं कि किसी एक ही कहानी या संकलन में रचनाकर की सभी पहचान एक साथ उपस्थित रहकर कहानी बुनें। फिर व्यक्ति या लेखक की एक पहचान उसकी दूसरी पहचान को पुष्ट करे, यह जरूरी नहीं। एक पहचान दूसरी पहचान को काटती भी है, बदलती भी है। दिसोदिया जी की जिन कहानियों में मध्यवर्गीय परिवेश और मध्यवर्गीय अनुभव आये हैं, जरूरी नहीं कि वहाँ जाति आधारित अनुभव भी दर्ज हुए हों। फिर शहरी मध्यवर्ग के जाति आधारित अनुभव ठीक वैसे नहीं होंगे जैसे कि ग्रामीण परिवेश के जाति आधारित अनुभव या शहरी परिवेश के निम्नवर्गीय जाति आधारित अनुभव।

जिन कहानियों के केंद्र में मध्यवर्गीय परिवेश और अनुभव हैं, उन कहानियों की बियॉन्ड टेक्स्ट आलोचना में दिसोदिया जी की मध्यवर्गीय पहचान निर्णायक होनी चाहिए।

दिसोदिया जी की मध्यवर्गीय परिवेश की कहानियों में भी जाति आधारित अनुभव दर्ज हैं लेकिन ये अनुभव पहली पीढ़ी के दलित लेखकों के जाति अनुभवों की छायाप्रति मात्र नहीं हैं, ये उनका विस्तार हैं। जातिभेद और उत्पीड़न के इन अनुभवों के अंतर को दिसोदिया जी की कहानी ‘एक गैर-साहित्यिक डायरी’ को पढ़ते हुए बखूबी समझा जा सकता है। यह कहानी दो स्तरों पर घटित होती है एक तो बाह्य जगत में और दूसरे नैरेटर के मनोजगत में। नैरेटर मुक्तिबोध की ‘एक साहित्यिक की डायरी’ के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति के रचनात्मक मार्ग की तलाश करती है लेकिन उलझकर रह जाती है—‘बापे रे बड़ा ही टेक्निकल मामला है। कुछ समझ नहीं आता। मेरी बेचैनी तो घटने की बजाय बढ़ती जा रही है।’³ अगले दिन नैरेटर कॉलेज में पाँचवां पीरियड पढ़ाकर विभाग में पहुँचती हैं, जहाँ प्रो. द्विवेदी जी अपनी ही लगाई हुई पौध को लहलहाते हुए देखने के लिए विराजमान हैं। ‘सबके लंच बॉक्स अधिखुते रखे एक-दूसरे का मुँह ताक रहे हैं।’ सभी अध्यापिकाएं द्विवेदी जी से खाने का आग्रह करती हैं। वह बड़ी विनम्रता से मना करते हैं लेकिन डॉ. एन. सिंह एक बार पुनः खाने का आग्रह करती हैं तो डॉ. द्विवेदी जी प्यार से झिङ्कते हुए कहते हैं, ‘प्लीज डोन्ट फील इम्ब्रेस, आज मेरा मिस सारस्वत के यहाँ लंच है।’⁴

कुछ क्षण पश्चात डॉ. सिंह मिस सारस्वत को लक्षित करते हुए, डॉ. द्विवेदी को संबोधित करती हैं, ‘सर बाहर जाकर किससे बातें हो रही थीं?’ इस पर द्विवेदी जी की हाजिरजवाबी है—‘भई एक प्रबुद्ध ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण से बात कर रहा था।’ इस हाजिरजवाबी पर एक तरफ जोरदार ठहाका दूसरी तरफ नैरेटर की बेचैनी। एक तरफ बाह्य घटनाक्रम में ब्राह्मण की महिमा और ठाकुर की ठकुराई से फूहड़ दृश्य बनता है जबकि दूसरी तरफ नैरेटर के मनोजगत में दलित समाज के अभावग्रस्त जीवन की कहानियाँ घटित हो रही हैं, जिनमें जातीय अपमान की जूठन खाने की विवशता है। बाह्य जगत में घटित हो रही द्विवेदी जी और डॉ. सिंह की जातीय श्रेष्ठता की कहानी नैरेटर को विचलित कर रही है—‘जिस व्यवस्था ने उन्हें ब्राह्मण बनाया उसी ने मुझे चमार बनाया। ...आखिर किस बात का घमंड है उन्हें। ब्राह्मण या क्षत्रिय बनने के लिए उन्होंने कौन से पापड़ बेले हैं। हम उनसे किस बात में कम हैं।’⁵ नैरेटर का निष्कर्ष है, ‘जब तक ये लोग खुद जबरन ब्राह्मण बने

रहेंगे तब तक उसे कहाँ भूलने देंगे कि वह चमार है।’⁶

रजनी दिसोदिया की अधिकांश कहानियाँ मध्यवर्गीय परिवेश की कहानियाँ हैं, जो मध्यवर्गीय मानसिकता से प्रायः मुक्त हैं। इनमें मध्यवर्गीय मानसिकता के प्रति आलोचनात्मक विवेक है। इस आलोचनात्मक विवेक के प्रति द्विज आलोचना चुप्पी साथ लेती है। यह भी एक कारण है कि आलोचना ने दिसोदिया जी की कहानियों को प्रायः अनदेखा किया है, इधर इन कहानियों पर कुछ चर्चा शुरू हुई भी है तो घूमफिर कर जाति के प्रश्न पर ठहर जाती है जबकि ‘चारपाई’ कहानी संकलन में विषय वैविध्य है। यहाँ जाति आधारित अनुभव भी पहली पीढ़ी के दलित लेखकों के अनुभवों की छायाप्रति मात्र नहीं हैं, समय के साथ अनुभवों का विस्तार है। ‘चारपाई’ कहानी में जो विवरण और दृश्य मिलते हैं, उनसे यह कहानी पूरी नहीं होती बल्कि कहानी में जितना कहा गया है उससे अधिक अनकहा है। यह अनकहा कहानी के केंद्रीय पात्र रामस्वरूप के मनोजगत में घटित होता है। कहानी की सफलता यह है कि कहानी अपने पाठकों को रामस्वरूप के मनोजगत के प्रवेश द्वारा तक उंगली पकड़ कर ले चलती है। अब यह पाठक और आलोचक का दायित्व है कि वह उस पात्र के मनोजगत में घटित हो रही अनकही कहानी को भी पढ़े।

पात्र के मनोजगत में घटित यह कहानी पति-पत्नी के आत्मीय संबंधों की कहानी है। रामस्वरूप का यह पत्नी-प्रेम पितृसत्ता और स्त्रीवाद की बाइनरी से मुक्त दिखाई देता है। वर्तमान समय में प्रेम संबंधों पर बड़ा संकट यह है कि स्त्री-पुरुष की बाइनरी में प्रेम मुरझा जाता है। स्त्री का प्रेम समता की चाह में बाधित होता है और पुरुष अपने वर्चस्व को कायम रखने की जिद में अपने प्रेम की परवाह नहीं करता। चारपाई कहानी में यह प्रेम किसी तरह की बाइनरी का शिकार नहीं होता। लेखिका ने कहानी में कोई ऐसा संकेत भी नहीं दिया है कि रामस्वरूप का दाम्पत्य जीवन कैसा था, बस एक ही संकेत है कि रामस्वरूप के दाम्पत्य जीवन में अकुंठ प्रेम था, सुख था। इस प्रेम का आधार पत्नी का समर्पण भाव था या यह प्रेम समता और स्वतंत्रता की जमीन पर पल्लवित हुआ था? यह प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यह किशोर प्रेम नहीं है, यह भविष्य की स्वप्निल दुनिया का प्रेम नहीं है बल्कि यह दाम्पत्य जीवन का प्राप्त है, जीवन का निचोड़ है, अतीत सुखों की याद है। यह जर्जर चारपाई कोई वस्तु मात्र नहीं है बल्कि उस प्रेम का शिलालेख है। चारपाई का ताना बाना वास्तव में रामस्वरूप के अतीत का ताना बाना है। चारपाई रामस्वरूप के अभावग्रस्त अतीत जीवन का प्रतीक चिन्ह भी है, इस अभावग्रस्त

जीवन में प्रेम ही सुख है।

इस कहानी को पढ़ते हुए मुझे अभय कुमार दुबे जी की एक टिप्पणी याद आती है। उनका मानना है कि दलित आत्मकथाओं में परिवार मूलतः समस्याग्रस्त परिवार हैं। ‘...अक्सर दलित कहानीकार आत्मकथाओं में दिखाए गए अशांत परिवार के बरक्स अपनी कल्पनाशीलता का सहारा लेकर एक आदर्श परिवार गढ़ते नजर आते हैं। ऐसी बहुत सी कहानियाँ मिल जाएँगी जिनमें स्त्री-पुरुष संबंध एकदम तनावरहित हैं, यहाँ तक कि ऊँच-नीच की लैंगिक संरचनाओं के मातहत भी नहीं हैं।’⁷ इन कहानियों में लैंगिक भेद के द्वंद्व का अभाव है। यहाँ परिवार की संरचना द्वंद्व रहित और तनाव रहित है। (तनाव को कहानी के सौन्दर्य के रूप में देखने का चलन भी रहा है।) अभयकुमार दुबे के अनुसार दलित आत्मकथाएं दलित समाज का यथार्थ हैं जबकि दलित कहानियाँ दलित समाज का आदर्श। दिसोदिया जी की कहानियाँ वास्तव में मध्यवर्ग का यथार्थ हैं। उनके मध्यवर्गीय पात्र दलित समाज से जुड़े हुए, अपनी जड़ों से जुड़े हुए हैं। यहाँ मध्यवर्गीय जीवन और दलित जीवन का निकट संबंध है। दिसोदिया जी की कहानियाँ आत्मीय सम्बन्धों के सूत्रों से बुनी गई हैं।

चारपाई कहानी की तरह ‘श्यो..र लिटिल नाइटिंगेलश’ भी पात्र के मनोजगत में घटित होती है। चारपाई कहानी घर के बुजुर्ग के मनोजगत में और ‘श्यो..र लिटिल नाइटिंगेलश’ कहानी परिवार की किशोरवय बच्ची के मनोजगत में घटित होती है। इन दोनों कहानियों के विवरण और दृश्य कहानियों का परियेश रचने के अलावा पात्रों के मनोजगत के प्रवेश द्वार तक पहुंचाने की प्रक्रिया है। चारपाई कहानी की नैरेटर का अपने पात्र के साथ उतना जटिल संबंध नहीं है जितना जटिल ‘श्यो..र लिटिल नाइटिंगेल’ की माँ बेटी का है। यह एक आधुनिक माँ है, जो बेटी के बहुत करीब है, उसके प्रति मित्रवत व्यवहार करती है, वह बेटी को बहुत हद तक समझती है लेकिन उसके मनोजगत को पढ़ने में चूक जाती है। माँ की यही चूक कहानी का प्रस्थान बिंदु है। बेटी के प्रति माँ का असुरक्षाबोध माँ बेटी के बीच एक अदृश्य दीवार खड़ी कर देता है। यही वह बिंदु है जहाँ किशोरवय बेटी के मनोजगत में चुपचाप बहुत कुछ घटित हो जाता है और कहानी बन जाता है। बेटी के मनोजगत को पढ़ने में माँ की असफलता को अभिव्यक्त करना भी कहानी की सफलता है। जबकि चारपाई कहानी के केंद्रीय पात्र के मनोजगत में प्रवेश करते ही कहानी मर्मस्पर्शी हो जाती है। यदि पाठक या आलोचक केंद्रीय पात्र के मनोजगत को पढ़ने में चूक जाएँ तो उस

पात्र के प्रति उनका रवेया भी कुछ इस तरह होगा—‘कंजूस बुड्डा खाट के पीछे पड़ा है, इस टूटी खाट को क्या अपनी अर्थी के साथ ले जाएगा।’⁸

दिसोदिया जी की कहानियों के स्त्री पात्र बड़े जीवंत हैं। ‘घर-परिवार’ कहानी की अनन्या और पीड़िता सुमन भी ऐसे ही जीवंत स्त्री पात्र हैं। घर-परिवार कहानी पहले ‘अनन्या’ शीर्षक से भी छपी थी। संपादक ने कहानी का शीर्षक बदलकर घर परिवार क्यों कर दिया ? कहीं संपादक की व्यंजना यह तो नहीं कि हिंदी साहित्य में बस एक ही अनन्या हो सकती है और वह है प्रभा खेतान। दूसरी अनन्याओं के लिए घर परिवार की सीमा रेखा है। एक जिज्ञासा यह भी है कि दिसोदिया जी ने पहले इसका शीर्षक अनन्या क्यों रखा ? क्या इसलिए कि कहानी की नायिका लिव इन रिलेशनशिप में है ? दरअसल यह कहानी पीड़िता सुमन की उपकथा के माध्यम से पिरूसता के क्रूर चेहरे को दिखाती है और अनन्या के लिव इन रिलेशन के माध्यम से बताती है कि पुरुष ऐसा होना चाहिए, स्त्री पुरुष के संबंध ऐसे अकुंठ होने चाहिए। इस कहानी के एक हिस्से में घोर यथार्थ है तो दूसरे हिस्से में एक यूटोपिया है। यह यूटोपिया सम्बन्धों के आत्मीय सूत्रों के अलावा अकुंठ भावों से बुना गया है। इस यूटोपिया में जीने वाली अनन्या के भी अपने अंतर्विरोध हैं। एक तरफ तो उसकी दृढ़ मान्यता है—‘शादी और फिर बच्चे दोनों ही से मुक्ति का नाम है लिव-इन-रिलेशनशिप।’⁹ दूसरी तरफ वह शिक्षा और साहित्य से सीखे मातृत्व के सबक को भी नहीं भूली है। ऐसे मातृत्व का सबक सामाजिक प्रशिक्षण भी है। अनन्या के अवचेतन के किसी कोने में भी यह बात बैठी है, ‘स्त्री केवल मातृत्व है और मातृत्व के अलावा वह जो कुछ मातृत्व का उपक्रम मात्र है।’¹⁰

अनन्या ने मातृत्व के सबक और लिव इन रिलेशनशिप के यूटोपिया का खूब समन्वय किया है। कहानी का समापन मातृत्व के उत्सव के साथ होता है। कहानी की उत्पादित पात्र सुमन की बेटी अनन्या की बेटी हो जाती है। इस कहानी में लेखिका ने मातृत्व की गहराई को व्यक्त करने के लिए प्रतीक का प्रयोग भी किया है, जिसमें अनन्या देखती है कि एक चिड़िया बबूल की झाड़ी में फँसी हुई है। वह इससे निकलने के प्रयास में और फँसती चली जा रही है। अनन्या भी उसे झाड़ी से निकालने का प्रयास करती है तो उसे समझ आता है कि वह यूँ ही नहीं फँसी है बल्कि उस झाड़ी के नीचे उसका अंडा पड़ा है, वह उस अंडे को निकालने आई थी और खुद भी फँस गई। इसी संकलन की कहानी ‘गोद भराई’ में भी मातृत्व का भाव एक अन्य

धरातल पर प्रकट हुआ है—‘रानी मधुमक्खी शहद नहीं बनाती। वह तो अँडे देती है इसलिए सब उसकी देखभाल करते हैं। काम करने वाली मधुमक्खी काम करते-करते मर गई।’

दिसोदिया जी की अधिकांश कहानियाँ पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के आत्मीय सूत्रों से बुनी गई हैं। कहीं पर ये सूत्र एक दूसरे का हाथ थामते हैं तो कहीं पर एक-दूसरे को काटते भी हैं लेकिन हर स्थिति में ये कहानी को समृद्ध करते हैं। ‘छोटी बहू’, ‘साँच कहूँ’ और ‘गोद भराई’ कहानी में आत्मीयता के सूत्रों की बुनावट एक तरह की है जबकि ‘मीटिंग’ कहानी में इन सूत्रों से एक अलग ही बुनावट उभरती है। यह कहानी सामाजिक संबंधों एवं आत्मीय संबंधों की विडंबना की कहानी है। इस कहानी के सभी पात्र समाज के विषय में, सामाजिक परिवर्तन के विषय में खूब सोचते हैं, अपने-अपने ढंग से संगठन से भी जुड़े हैं। लेकिन उन्हें जितनी फिक्र सामाजिक परिवर्तन की उतनी ही फिक्र व्यक्तिगत हितों की भी है। समाज हित और व्यक्ति हित की टकराहट ऐसी है कि पूरे वर्ष भर में संगठन की एक मीटिंग भी आयोजित नहीं हो पाती। कहानी के केंद्रीय पात्र सूरजभान जी के तमाम प्रयासों के बावजूद जो मीटिंग आयोजित नहीं हो पाती, वह उनकी मृत्यु के उपरांत आयोजित होती है।

उनकी अंतिम यात्रा में शामिल मानव समूह उनकी ख्याति का परिचय देता है। संगठन की कोर कमेटी के जो सदस्य मीटिंग में नहीं आते वे सब भी उनकी अंतिम यात्रा में भीगे हुए मन से शामिल होते हैं। कहानी के अंत में अंतिम संस्कार और मीटिंग के दृश्यों में विडंबना पूरी तरह उभरती है। कहानी के दृश्य फिर से उभरने लगते हैं, सभी पात्रों के चरित्र नए सिरे से खुलने लगते हैं। दिसोदिया जी की कहानियों के पात्र बहुत जीवंत हैं, विशेष रूप से स्त्री पात्र। इनमें भी ग्रामीण परिवेश से आने वाले स्त्री पात्र विशेष जीवट वाले हैं। इन कहानियों के पात्रों पर अलग से लिखने और बात करने की जरूरत है। दिसोदिया जी की कहानियों की एक खूबी और है कि इनके पात्र ही नहीं बोलते परिवेश भी बोलता है। वस्तुएँ केवल वस्तु नहीं हैं बल्कि वे भी सजीव होकर संवाद करने लगती हैं। कहानी के पात्रों से संवाद करती हैं, पाठकों से भी संवाद करती है। ‘चारपाई’ कहानी की चारपाई वस्तु मात्र नहीं है बल्कि भावनाओं का आख्यान है। ‘गोद भराई’ कहानी की रसोई में जैसे ही बत्ती जलती है बर्तन आँख मलने लगते हैं और गैस चूल्हा अंगड़ाई लेने लगता है। ‘एक गैर-साहित्यिक डायरी’ में अध्यखुले रखे लंच बॉक्स एक दूसरे का मुँह

ताकते हैं। सर्द हवाएँ ठंड से बचने के लिए एक अभावग्रस्त दलित का कंबल छीनकर ओढ़ लेना चाहती हैं। ‘घर-परिवार’ में नींबू के पेड़ अनन्या और सीमंतनी की बातचीत ध्यान से सुनते हैं, उनकी उदासी में उदास होते हैं। माँ-बेटी की बातचीत के रहस्य को जानकर नींबू के पेड़ उछल पड़ते हैं। ‘मीटिंग’ की मेज और कुर्सियों पर धूल इत्मीनान से बैठी जुगाली करती है। मकड़ियाँ बेखोफ अपनी कलाकारी का परिचय देती हैं, कबीर जैसे किसी जुनूनी जुलाहे की भाँति चदरिया बुनती हैं। इसी तरह ‘और योगमाया जीत गई’ का पंखा—‘पंखा अपनी पूरी गति से भाग रहा था। भागते-भागते हाँफने लगा था, पर हाँफते-हाँफते भी भाग रहा था। भागते रहना ही उसकी नियति थी। रुका कि गया काम से, फिर शायद कबाड़ी की दुकान पर होगा और फिर...’¹¹

लेखिका ने कहानियों के परिवेश में शामिल वस्तुओं को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया है। (घर-परिवार कहानी के पात्रों के नाम भी प्रतीकात्मक हैं।) कुछ प्रतीक सफल एवं बेहद प्रभावी हैं कुछ प्रतीकों पर सवालिया निशान भी लगा है। संकलन की शीर्षक कहानी ‘चारपाई’ की प्रतीकात्मक भाषा पर सवाल उठाते हुए रजनी अनुरागी कहती हैं—‘चारपाई कहानी तमाम खूबियों के बावजूद मुझे भाषा और प्रस्तुति के स्तर पर परेशान करती है। इसमें दलित विरोधी मिथकीय भाषा और अंधविश्वास से जुड़े प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। जैसे कि चारपाई भूत की तरह पीछे पड़ी है।’ ‘जैसे राक्षस की जान तोते में होती है, उनकी जान इस चारपाई में थी।’ अब यहाँ राक्षस कौन है? जबकि दलित साहित्य में मिथकों को या तो नकारा गया है या उनका पुनराख्यान हुआ है।¹² इस कहानी संकलन के संदर्भ में रजनी अनुरागी का उपर्युक्त प्रश्न निराधार नहीं है।

लेकिन यह भी एक तथ्य है कि हिंदी भाषा और साहित्य में मिथकों-प्रतीकों का विशेष आकर्षण रहा है। एक तरफ प्रतिक्रियावादी ताकतों ने मिथकों को हथियार की तरह इस्तेमाल किया है वहीं दूसरी तरफ मिथकों प्रतीकों की एक प्रगतिशील परंपरा भी रही है। प्रगतिशील परंपरा में परसाई ने मिथकों का शानदार और सार्थक प्रयोग किया है। ‘मिथकों का पाठान्तर तो हिंदी साहित्य में पहले भी मिलता है लेकिन सार्थक मिथक भंजन करने का बड़ा जोखिम परसाई ने उठाया। उन्होंने मिथक-भंजन इसलिए जरूरी समझा कि मिथकों को शोषक शक्तियों के हाथ में एक अमोघ-अस्त्र के रूप में देखा।’¹³

लेखिका रजनी दिसोदिया भी मिथकीय प्रयोगों की प्रगतिशील परंपरा से परिचित हैं। उन्होंने भी अपनी कहानियों में मिथकीय प्रयोग किए हैं। इन प्रयोगों में परसाई जैसी

मुस्तेदी न सही पर ये महत्वपूर्ण और सार्थक जरूर हैं। इस दृष्टि से उनकी ‘और योगमाया जीत गई’ एवं ‘तर्क बुद्धि’ कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। ‘और योगमाया जीत गई’ कहानी में कन्या भ्रूण हत्या के विरुद्ध कृष्ण जन्म के मिथक का सार्थक प्रयोग किया है—‘तो कृष्ण को बचाने के लिये उसे अपने घर में छिपा लेते। बदले में अपनी बेटी को मरवाने की क्या जरूरत थी।’¹⁴ ‘तर्क बुद्धि’ कहानी की विषय वस्तु बस इतनी है कि हम अपने घर परिवारों में काम करने वाले नौकरों और साफ-सफाई करने वाले लोगों फटे-पुराने कपड़े और बचा-खुचा बासी खाना देकर अपनी उदारता का परिचय देते हैं। इस कहानी की पात्र डॉ. सारस्वत साफ सफाई का काम करने वाली माँ-बेटी को बासी और सड़े हुए समोसे खाने को देती हैं। माँ-बेटी उन समोसों को नहीं खाती, टेबल पर पड़ा छोड़ देती हैं। डॉ. सारस्वत पूछती हैं कि उन्होंने समोसे क्यों नहीं खाये। वे जवाब देती हैं—‘भैडम जी नचिकेता जी महाराज ने कहा है बूढ़ी और बीमार गायें दान में लेना और देना पाप है।’¹⁵

दिसोदिया जी की कहानियों में मिथकीय प्रयोगों और प्रतीकों के अलावा भाषा प्रयोग विशिष्ट हैं। भाषा के आंचलिक प्रयोग उनकी कहानियों के परिवेश को विश्वसनीय बनाते हैं और पात्रों को विशिष्ट पहचान देते हैं। लेखिका के मध्यवर्गीय अनुभवों, ग्रामीण अनुभवों और आंचलिक भाषा के प्रयोगों का यह संयोग उनकी कहानियों की विशिष्ट पहचान है। इस कहानी संग्रह की भूमिका में अर्चना वर्मा लिखती हैं—‘जिन अन्यायों और विषमताओं के विरुद्ध विमर्श का जन्म होता है, उनके उन्मूलन के साथ-साथ विमर्श का अपना उद्देश्य भी क्रमशः विघटित और शेष होता जाता है। इसी में उसकी सार्थकता भी है, भले ही राजनीतिक सामाजिक वर्चस्व के तात्कालिक कारणों से उसे जीवित रखने की जरूरत बनी रहे।’¹⁶ अर्चना वर्मा जी की उपर्युक्त टिप्पणी प्रथम दृष्ट्या तार्किक और सच लगती है लेकिन उनकी यह टिप्पणी एक बेर्इमान अर्धसत्य है। सवाल यह है कि क्या लेखक की वर्गीय स्थिति बदलने साथ से विमर्शों की जरूरत समाप्त हो जाती है? लेखक की वर्गीय स्थिति बदलने के साथ उसके सम्पूर्ण समाज की वर्गीय स्थिति बदल जाती है? क्या लेखक का विमर्श मूलक लेखन बस अपने लिए होता है? यदि आज भी समाज का बड़ा हिस्सा वंचना, उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार,

शोषण और उत्पीड़न का शिकार है तो भी क्या विमर्शों की जरूरत समाप्त हो जाती है? क्या विमर्शों की लक्ष्य पूर्ति हो चुकी है?

दिसोदिया जी की कहानियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि वर्गान्तर होने बाद, मध्यवर्ग में शामिल होने के बाद भी जाति पीछा नहीं छोड़ती। बस सामाजिक संबंधों का स्वरूप बदल जाता है। जाति आधारित भेदभाव ज्यादा महीन हो जाता है। ‘एक गैर-साहित्यिक डायरी’ कहानी इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। दिसोदिया जी की कहानियाँ मध्यवर्गीय अनुभवों और जाति आधारित अनुभवों के संयोगों का बेहतरीन उदाहरण हैं। ये कहानियाँ विमर्शों को अप्रासंगिक नहीं मानती बल्कि विमर्शों से आगे विमर्शों और मध्यवर्गीय अनुभवों के संबंधों को पहचानती हैं।

संदर्भ सूची

1. रजनी दिसोदिया, चारपाई, पृ. 12
2. डॉ. राजेश कुमार, अकथ (पत्रिका हिंदी विभाग, सत्यवती कॉलेज), पृ. 66
3. रजनी दिसोदिया, चारपाई, पृ. 104
4. वही, पृ. 105
5. वही, पृ. 111
6. वही, पृ. 109
7. अभ्यकुमार दुबे, हिंदी में हम, पृ. 272
8. रजनी दिसोदिया, चारपाई, पृ. 77
9. वही, पृ. 44
10. वही, पृ. 30
11. वही, पृ. 52
12. रजनी अनुरागी, स्त्रीकाल, स्त्री का समय और सच, कथा कहानी शृंखला कहानी पाठ रजनी दिसोदिया (लाइब्रेरी प्रसारण), 1 अगस्त, 2021
<https://youtu.be/u1JhOeKmgQc>
13. राजेश कुमार, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी व्यंग्य साहित्य के लक्ष्य विषय (शोध प्रबंध, 2009, दिल्ली विश्वविद्यालय), पृ. 251
14. रजनी दिसोदिया, चारपाई, पृ. 55
15. वही, पृ. 117
16. अर्चना वर्मा, भूमिका (चारपाई), पृ. 8

—डॉ. राजेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

‘उत्कोच’ दलित मानवीय संवेदना का सच

—उषा यादव

मानवीय संवेदना से अभिप्राय चिंता या भावनात्मक प्रतिक्रिया से है। जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। यानी मनुष्य अपनी व्यक्तिगत चिंताओं को लांघकर भी अपने समाज तथा आस-पड़ोस और अपनों के हित-चिंतन में लग जाता है। जैसे ‘उत्कोच’ उपन्यास का नायक ‘मनोहर’। उपन्यास का नायक मनोहर पिछड़ी जाति का होकर विक्रय कर विभाग में कल्क के पद पर रहते हुए कई बार अधिकारी पद की परीक्षा तो पास करता है, परंतु हर बार साक्षात्कार में कम अंकों के कारण क्वालीफाई नहीं कर पाता। इसका जो मुख्य कारण था, एक तो वह दलित समाज से संबंध रखता है, दूसरा ‘रिश्वत का तंत्र’ यानी उत्कोच। इस प्रकार इस उपन्यास का शीर्षक ‘उत्कोच’ एकदम सटीक है। शादी से पहले श्यामा के पिता ने जब ‘मनोहर’ के बारे में बताया तो श्यामा यह जानकर बहुत खुश हुई कि विक्री कर विभाग राज्य का सर्वाधिक राजस्व वाला क्षेत्र है। व्यापारियों से सीधा संबंध भी इसी विभाग का होता है। इसलिए मनोहर की फोटो को एक बार में देखते ही श्यामा ने पसंद कर लिया। इसके विपरीत, शादी के बाद जब ‘श्यामा’ को पता चला कि मनोहर, जो रिश्वतखोरी के बिल्कुल खिलाफ हैं, तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रिश्वत का बहिष्कार करता है तब श्यामा ने मनोहर से कहा—‘मेरा मतलब है ऊपरी कमाई काफी होती होगी तुम्हारे विभाग में’¹ इसके प्रत्युत्तर में मनोहर श्यामा की बात से सहमति व्यक्त करता है। मनोहर अपने नजरिए तथा सिद्धांतों एवं नैतिक मूल्यों पर सदैव तटस्थ रहता है। इसलिए वह श्यामा से कहता है—‘दूसरों को होती है ऊपर की कमाई, क्योंकि वे ऊपर की कमाई करते हैं। मुझे इसलिए नहीं होती क्योंकि मैं ऊपर की कमाई नहीं करता हूँ’²। इस प्रकार मनोहर व्यवस्था में फैले हुए रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार से वाकिफ तो है लेकिन इस भ्रष्टाचार का हिस्सा नहीं बनता है।

आज भ्रष्टाचार को यदि देखा जाए तो यह राष्ट्र समस्या बन गई है। व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने कर्तव्यों को भूलने लगा है भ्रष्टाचार की जड़ धीरे-धीरे हमारे देश में भी बहुत गहरी होती चली जा रही है। वर्तमान में हमारे देश का कोई भी सरकारी विभाग भ्रष्टाचार से अछूता नहीं है। प्रायः सभी विभागों में भ्रष्टाचार के आरोप लग ही रहे हैं, फिर चाहे कर्मचारी हो या अधिकारी। इन सरकारी विभागों के चाहे कर्मचारी हो या अधिकारी हो, कमोबेश भ्रष्टाचार में लिप्त है। मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए लालच एवं वर्तमान परिवेश और उसकी भोगवादी प्रवृत्ति के कारण अपने

कर्तव्य से निरुत्साहित होता जा रहा है। परंतु मनोहर ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए साफ-साफ कहा- ‘वजह बस मेरी यही है कि ऊपर की कमाई एक भ्रष्टाचार है और मुझे यह पसंद नहीं। मैं भ्रष्टाचार का विरोधी हूँ’³।

मनोहर अपने सिद्धांतों पर अडिग व्यक्ति है। श्यामा के कई बार दबाव डालने पर भी मनोहर रिश्वत की ऊपरी कमाई घर नहीं लाता है और श्यामा अपने सभी प्रयासों में असफल होती है। अपनी इस असफलता से श्यामा चिंता और तनाव में डूबी रहती है। अंततः उसकी ये मानसिक पीड़ा शारीरिक पीड़ा में बदल जाती है और वह प्राणांतक बीमारी से घिर जाती है। उसे महसूस होता है कि वह अपने स्तर के नौकरीपेशा लोगों से हर स्तर पर पिछड़ी हुई है। जिसका कारण वह मनोहर का रिश्वत का न लेना मानती है। इस वजह से उसके घर का वातावरण छोटे-मोटे गृह-युद्धों में परिवर्तित होने लगता है और यही झगड़े उन दोनों के तलाक तक पहुंच जाते हैं। मनोहर से खिन्न श्यामा उसे उलाहना देते हुए कहती है कि ‘मैंने ऊपरी आमदनी वाला विभाग देख कर ही तो तुमसे शादी के लिए हासी भरी थी, नहीं तो निर्धन और जिम्मेदारियों के बोझ से दबे आदमी से कौन लड़की शादी करने को तैयार होती है आज के समय में? उसमें मेरे जैसी अफसर बाप की पढ़ी-लिखी बेटी तो ऐसे लड़के से शादी के बारे में बिल्कुल नहीं सोच सकती’⁴।

इस प्रकार श्यामा मनोहर के सिद्धान्तवादी व्यक्तित्व को तिल मात्र न बदल पाने के कारण हीनभावना से ग्रस्त हो जाती है और उसके स्वास्थ्य में लगातार गिरावट होने लगती है। डॉक्टर उसके अवसाद का निदान नहीं कर पाए और वह सभी अभिलाषाओं वा आकांक्षाओं के साथ लिए एक छोटी-सी बच्ची को छोड़कर मृत्यु की गोद में समा जाती है। भ्रष्टाचार का दूसरा मुख्य कारण है ‘मनुष्य की स्वार्थवृत्ति। बात चाहे एक व्यक्ति की हो या फिर किसी समाज या संप्रदाय की, लोगों में जिजी स्वार्थ की भावना परस्पर असमानता को जन्म देती है। यह असमानता आर्थिक, सामाजिक व प्रतिष्ठा के मतभेदों को बढ़ावा देती है।’⁵ मनोहर एक आदर्श पात्र है। घर एवं बाहर दोनों जगह अपमान व उपहास झेलते हुए भी अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं करता। उसके इन्हीं उसूलों और जज्बात का उलाहना देते हुए श्यामा ने मनोहर से कहा-‘है क्या तुम्हारे पास बात करने के लिए? वही यिसे-पिटे सिद्धांत और आदर्श, जिनका हवाला बात-बात पर देते रहते हो...। क्या होगा तुम्हारे उन सिद्धांतों से? यदि तुम अपने बीवी-बच्चों को दूसरों की तरह सुख-सुविधाएं नहीं दे सकते हो तो किस काम के हैं तुम्हारे ये सिद्धांत? तुमने ही तो सुनाई थी

‘आदम गोंडवी’ की वह कविता बड़े चाव से—चौरी ना करें, झूठ ना बोले तो क्या करें चूल्हे पर क्या उसूल पकाएंगे शाम को?’⁶ ...और अब तुम ही उसूलों की बात कर रहे हो... तुम्हारे उसूल पकेंगे चूल्हे पर? वह मनोहर पर रिश्वत लेने के लिए दबाव बनाती है, लेकिन मनोहर नसीहत देते हुए बोलता है ‘तुम दुनिया की किस-किस बात की नकल या बराबरी करोगी? तुम दूसरी स्त्रियों के महंगे कपड़ों या गहनों के साथ कंपटीशन कर रही हो...और भी बहुत-सी बातें हैं दूसरों के कंपटीशन करने की, वह करो न।’⁷

भ्रष्टाचार के फलस्वरूप राष्ट्र हो या घर व्यक्ति को अनेक विषमताओं का सामना करना पड़ता है। सभी ओर अव्यवस्था व असमानता तथा देश के नवयुवकों में व्याप्त, चिंता, भय व आक्रोश भ्रष्टाचार के ही दुष्परिणाम हैं। भ्रष्टाचार से व्यक्ति की समस्त शक्तियां दिन-प्रतिदिन क्षीण होती चली जाती हैं। अपनी रोजमरा की समस्याओं से उत्पन्न हुए भी ‘मनोहर’ कभी भी अपने उसूलों को नहीं भूलता। लखनऊ जाने के लिए कंफर्म सीट न मिलने पर मनोहर की व्याकुल मनःस्थिति को देखते हुए उसके एस.टी.ओ. उसे सुझाव देते हैं—‘तुम किसी भी ट्रेन में चले जाओ, टी. सी को सौ-पचास दे देना सीट का इंतजाम हो जाएगा।’⁸ लेकिन ‘मनोहर’ किसी स्तर पर भी रिश्वत का समर्थन करने को तैयार नहीं होता। भ्रष्टाचार आज के समय में एक ज्वलंत मुद्दा बनता जा रहा है। जहां एक और भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रमुख एजेंसियां कार्य कर रही हैं तो वहीं दूसरी ओर उनके भी अधिकारी व कर्मचारी रिश्वत रूपी महामारी से नहीं बच पाए हैं।

जागरण समाचार के अनुसार ‘देश की प्रमुख जांच एजेंसी सी. बी. आई. जहां अन्य सरकारी विभागों में घोटालों की जांच और मुकदमों में व्यस्त है, वहीं खुद इसके ही 75 अधिकारी और कर्मचारी भ्रष्टाचार के आरोपों का सामना कर रहे हैं। भ्रष्टाचार के जिन मामलों में जांच चल रही हैं, उनमें 55 मामले समूह ‘ए’ अफसर के खिलाफ है, 20 मामले समूह ‘बी’ तथा ‘सी’ कर्मचारियों के खिलाफ है।’⁹ भ्रष्टाचार से लड़ते हुए मनोहर को उस समय सुखद अनुभव होता है जब उसी के दफतर के एक क्लर्क ‘सुंदरलाल’ रिश्वतखोरी का विरोध करता है। सुंदरलाल को रिश्वत के प्रति धृणा तब उत्पन्न होती है, जब उसके बेटे को उसके स्कूल में कुछ लड़के ‘दो नंबरी का बेटा’ कहकर चिढ़ाने लगते हैं। इससे उसका बेटा स्वयं हीनभावना का ग्रस्त होने लगता है। ऐसे में सुंदरलाल की पत्नी उससे कहती है—“.. मेरे बेटे का मानसिक स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा तो वह अपनी पढ़ाई में मन नहीं लगा पाएगा...हमारा एक ही

बच्चा है, यदि वह भी इस तरह बुझा-बुझा रहेगा तो उसका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होगा। यदि ऐसा हुआ तो उसका व्यक्तित्व कैसे निखरेगा? मुझे उसकी ओर से इस बात को लेकर बहुत चिंता होने लगी है¹⁰।

देखा जाए तो यह पूरा का पूरा उपन्यास ‘उत्कोच’ यानी भ्रष्टाचार, धूस, रिश्वत की ज्वलंत समस्याओं को उजागर करता है। जो देश की तमाम बहुत बड़ी समस्याओं में से एक है। भ्रष्टाचार, जिससे सभी लाभ तो चाहते हैं, लेकिन इसकी जड़ में जाकर कोई उसे नष्ट करने की चाह नहीं रखता। उपन्यास के माध्यम से लेखक बहुत बड़ी बात नायक ‘मनोहर’ के द्वारा कह जाते हैं, जैसे—‘भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन एक दिन में तो खड़ा नहीं होगा, सभी लोग अपने-अपने स्तर से भ्रष्टाचार का विरोध करेंगे तो अवश्य एक दिन बड़ा आंदोलन खड़ा हो सकता है। आप लोग भी अपने स्तर से भ्रष्टाचार का विरोध कीजिए।’¹¹ लेखक ने अपनी पैनी दृष्टि के सहारे भारतीय समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार यानी रिश्वत, धूस पर गहरी चोट करने का प्रयास किया है। पूरा उपन्यास बहुत ही सरल शब्दों तथा सहज भाषा में पिरोया गया है। जातीय विषमता, नारी जीवन की समस्याओं तथा सामाजिक विषमता के प्रति भी लेखक ने अपनी पारखी दृष्टि को रखकर उजागर किया है।

निष्कर्ष के तौर पर यदि कहा जाए तो लेखक का यह उपन्यास एक सराहनीय कार्य के साथ-साथ समाज को सदेश भी देता है। आज भ्रष्टाचार की समस्या केवल किसी एक वर्ग की समस्या बनकर नहीं रह गई है। यह समाज के

हर पहलू में पनप तथा बढ़ रही है। भ्रष्टाचार की समस्या के समाधान के लिए आवश्यक है कि भ्रष्टाचार संबंधी नियमों को और भी सख्त किया जाए तथा भ्रष्टाचार में लिप्त लोगों को कड़ी से कड़ी सजा मिलनी चाहिए। समस्या के निदान के लिए केवल सरकार ही नहीं बल्कि सभी संस्थाओं के साथ हम सभी नागरिकों को भी एकजुट होना पड़ेगा। क्योंकि कोई भी आंदोलन या जन-जागृति तभी सफल हो पाती है, जब सभी एकजुट होकर उसके खिलाफ आवाज उठाते हैं। वस्तुतः ‘जयप्रकाश कर्दम’ जी द्वारा लिखा गया ‘उत्कोच’ उपन्यास भ्रष्टाचार के खिलाफ एक सार्थक पहल है।

आधार ग्रंथ

1. ‘उत्कोच’ जयप्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 110051
2. वही
3. वही
4. वही, पृ. 79.
5. भ्रष्टाचार : कारण और रोकथाम निबंध
6. ‘उत्कोच’ जयप्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 110051, पृष्ठ संख्या 93
7. वही, पृ. 95
8. वही, पृ. 68
9. जागरण, E-paper, 28 अगस्त, 2022
10. ‘उत्कोच’ जयप्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 110051, पृ. 134,
11. वही, पृ. 64.

—उषा यादव

शोधार्थी

हिन्दी विभाग,

मौलाना आजाद नेशनल उर्दू विश्वविद्यालय

गच्छी बोली, हैदराबाद-500032

वर्तमान परिदृश्य में प्राचीन सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन की प्रासंगिकता

—अरुण कुमार

पाश्चात्य विचारकों द्वारा इस तथ्य को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है कि प्राचीनकाल में भारतीय चिन्तकों की दृष्टि धर्मशास्त्र एवं अध्यात्मवाद पर केन्द्रित होने के कारण भारतीय दर्शन में राजनीतिक चिन्तन का सर्वथा अभाव है। भारतीय चिन्तन सम्बन्धी उनका यह दृष्टिकोण भ्रामक एवं मिथ्या है क्योंकि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भारतीय चिन्तन की एक गौरवशाली परम्परा रही है और अपने चिन्तन व दार्शनिक विचारों के आधार पर ही भारत को विश्व गुरु का दर्जा प्राप्त रहा है। प्राचीन भारत में जिस राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन की अभिव्यक्ति हुई वह तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थितियों, आर्थिक प्रगतियों, राजनीतिक उथल-पुथल एवं बौद्धिक विकास के स्तर से प्रभावित था। हिन्दू राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं का विकास अति प्राचीनकाल से ही विविध सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है तथा युगों के मूल्यों के अनुरूप ही राजनीतिक चिन्तन में परिवर्तन आते रहे हैं। भारतीय जगत के प्राचीन विद्वानों ने इस तथ्य को बहुत ही स्पष्ट तरीके से स्वीकार किया कि राज्य व समाज में विद्यमान व्यवस्थायें व्यक्ति की सहमति से स्वीकृत एवं स्थापित होती हैं क्योंकि इनसे ही सुरक्षित एवं प्रगतिशील नागरिक जीवन की गारंटी उपलब्ध होती है। भारतीय चिन्तकों ने राजनीति पर अलग से व्याख्यान व्यक्त न कर विभिन्न कथाओं, प्रसंगों व दृष्टान्तों के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में उनके आदर्श स्वरूप व भूमिका को स्पष्ट किया है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने चिन्तन की व्यवहारिकता के सामर्थ्य को अपने विचारों का आधार बनाया और यही कारण है कि धर्म एवं अध्यात्म के आवरण से आबद्ध हमारा प्राचीन राजनीतिक चिन्तन आदर्श, वास्तविक व व्यवहार योग्य सिद्ध होता है। प्रस्तुत शोध लेख इस यथार्थ की धारणा को प्रस्तुत करता है कि पश्चिमी चिन्तकों द्वारा प्राचीन भारतीय चिन्तन के सम्बन्ध में जो भी उद्गार व्यक्त किये गये हैं, वे पूर्णतः भ्रामक एवं सारहीन हैं तथा हमारा चिन्तन वर्तमान समय में पूर्णतया स्थिर एवं अनुसरणीय है।

कालचक्र प्रायः अपनी निश्चित गति से गतिशील रहते हुये निरन्तर एक नये इतिहास का निर्माण करता है।

इतिहास न केवल अतीत के पद्धतियों का आईना होता है बल्कि भविष्य का भी मार्गदर्शक होता है। जब भी हम अपने अतीत के प्राचीन स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि हमारे इतिहास में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक चिन्तन का महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन वर्तमान भारतीय चिन्तन की विडम्बना यह है कि इतना समुद्घाशली चिन्तन उपलब्ध होने के बावजूद वे पाश्चात्य चिन्तन के आधार पर ही भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं। भारतीय चिन्तन अपने स्वरूप में केवल धर्म व अध्यात्म केन्द्रित नहीं था बल्कि यह पाश्चात्य देशों के चिन्तन की अपेक्षा अधिक प्राचीन एवं यथार्थवादी दृष्टिकोणों से युक्त था। इसके महत्व को स्वीकार करते हुये मैक्सी ने कहा—“हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनीतिक विचारों की दृष्टि से भी निष्फल नहीं है।” वास्तव में भारत के प्राचीन सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन के सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वानों की मिथ्या एवं भ्रामक धारणा का मुख्य कारण उनके द्वारा हमारे प्राचीन साहित्यों में राजशास्त्र सम्बन्धी अलग ग्रन्थ खोजने की प्रवृत्ति थी जबकि यहाँ स्थिति उससे अलग थी। हमारे प्राचीन विद्वानों द्वारा राजनीति को पश्चिमी विचारकों के समानान्तर मान्यता न देकर उसे व्यक्ति के दैनिक जीवन के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने अपना चिन्तन किसी विशेष सिद्धान्त के लिए प्रस्तुत न कर, राजनीतिक क्रियाओं को नीतिशास्त्र एवं राजशास्त्र से सम्बद्ध कर उन्हें धर्म के विशद् अंश के रूप में स्वीकार किया और माना कि धर्म का यही स्वरूप व्यक्ति, समाज व राज्य के समस्त क्रियाकलापों का नियमन करता है। अपने सामाजिक एवं धार्मिक दर्शन की सूक्ष्मता में भारतीय चिन्तकों ने जिन प्रमुख तत्वों को समाहित किया, वे राजनीति की अन्तर्भावनाओं को अनुप्राणित करते रहे हैं तथा उनका लौकिक एवं व्यवहारिक पक्ष हमेशा धर्म एवं नैतिक मान्यताओं पर आधारित रहा है।

पुर्जागरण आन्दोलन की पैठ से आबद्ध 19वीं सदी के पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म व अध्यात्म के आवरण से ढके प्राचीन भारतीय चिन्तन के लाक्षणिक अभिप्रायों को नहीं समझा तथा भारतीय राजनीतिक चिन्तन की छवि को अति धूमिल करके प्रस्तुत किया। पश्चिमी विद्वानों का यह दृष्टिकोण मुख्यतः साम्राज्यवादी आदर्शों से अधिशासित था तथा औद्योगिक क्रान्ति एवं तकनीकि प्रगति कर लेने के कारण सम्पूर्ण यूरोपीय चिन्तक अपनी श्रेष्ठता को मानवशास्त्र के सभी क्षेत्रों में मान्य बनाने का

प्रयास करने लगे। अपनी श्रेष्ठता के अहंकार में वशीभूत होने के कारण वे इस तथ्य से अपरिचित रहे कि हमारे साहित्य में रामायण के राम हर्षचरित में वर्णित हर्ष के चरित्र एक राजा के उन गुणों का जीवन्त एवं व्यवहारिक रूप प्रस्तुत करते हैं, जो वास्तव में व्यवहारिक है। हमारे चिन्तन में व्यक्त राजा का चरित्र प्लेटो द्वारा विश्लेषित दार्शनिक राजा जैसा काल्पनिक नहीं है। हमारे चिन्तकों ने यह बताने का प्रयास नहीं किया कि ‘क्या होना चाहिए।’ जैसा कि पश्चिमी चिन्तन में दिखाई देता है। पश्चिमी चिन्तन की परम्परा में सिद्धान्तकार पहले अपना सिद्धान्त देता है तत्पश्चात व्यवहार में उसे लागू करता है और लागू होने पर अनेक विसंगतियां आने पर प्रतिक्रिया स्वरूप कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है जो व्यवहारिकता के धरातल पर पुनः असफल हो जाता है। अपने विश्लेषण में पाश्चात्य चिन्तकों ने मनुष्य की क्रियात्मक गतिविधियों को सिद्धान्त के अनुरूप स्वीकार किया तथा मनुष्य को एक क्रियाशील मशीन लिया जबकि प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने व्यक्ति के प्राकृतिक व्यवहार को प्रधानता दी। उन्होंने यह स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की कि शासक को कैसा होना चाहिए? बल्कि प्राकृतिक रूप से प्रत्यक्षतः उन्हें जो मानवीय आचरण परिलक्षित हुआ उसमें कैसी व्यवस्थायें सम्भव हैं, इस बात को विविध प्रसंगों, तथा दृष्टान्तों के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए समाज व राज्य के आदर्श आचरण का निरूपण किया। धार्मिक एवं नैतिक चिन्तन में उन्होंने सामाजिक व्यक्ति को ‘बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय’ की धारणा से आबद्ध किया।

भारत का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन प्राचीन काल से ही अत्यन्त वैविध्यपूर्ण रहा है और इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थायें सतत प्रवाहशील रही हैं। यही कारण है कि हमारी प्राचीन राज व्यवस्था उतनी ही पुरानी है जितनी कि यहाँ की सभ्यता, संस्कृति व धर्म। संस्कृति, नैतिकता व धर्म से आबद्ध होने के कारण प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजव्यवस्था को राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे नामों से सम्बोधित किया गया। प्राचीन भारत में विद्यमान राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी के स्रोतों में वेद, पुराण, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रन्थ, महाकाव्य, जैन ग्रन्थ तथा जातक कथायें शामिल हैं। इसके साथ-साथ मनुस्मृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुक्रनीति आदि विशेष महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में मनु द्वारा रचित मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यकृत याज्ञवल्क्य स्मृति

का इस सन्दर्भ में विशेष महत्व है। इस ग्रन्थों से तत्कालीन मानव समाज के सम्पूर्ण क्षेत्रों यथा राज्य, समाज, राजा, शासन, न्याय व्यवस्था, कर व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों आदि का परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि आधुनिक आलोचकों ने मनु के चिन्तन में ब्राह्मणवाद के एकछत्र राज्य को मानवाधिकारों के आधार पर पूर्णतः अमान्य कर दिया है। यद्यपि आधुनिक युग में जाति आधारित वर्गीकरण अतार्किक एवं अवैज्ञानिक होने के कारण रचीकृत नहीं हो सकता फिर भी जिस परिस्थिति में इन विचारों ने स्थान ग्रहण किया था शायद वह परिस्थिति की माँग रही होगी। निसन्देह मनुस्मृति में वर्णित सामाजिक विभक्तीकरण, नारी पराधीनता तथा शुद्ध धर्म की धारणा आज कोई महत्व नहीं रखती है फिर भी उसका राजदण्ड, शिक्षा, गृहस्थ जैसे विषयों पर व्यक्तः चिन्तन वर्तमान में प्रासंगिक है। वर्तमान समय में सामाजिक स्थिति का जो स्वरूप सामाजिक उत्थान तथा जन्म के स्थान पर कर्म पर आधारित मानव समाज की रचना तथा अन्तरजातीय विवाह प्रथा का प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि हमारा प्राचीन चिन्तन पुनः जीवंत हो रहा है। प्रशासनिक व राजनीतिक स्तर पर इस बात का कोई अर्थ अब नहीं रहा कि लोगों की जाति क्या है? आज व्यक्ति के अस्तित्व का निर्धारण उसका पद उसकी शक्तियाँ तय कर रही है। रामायण में इसी अवधारणा का परिचय मिलता है जब क्षत्रिय राजाराम अछूत शबरी के जूठे बेर सहज व आत्मीय भाव से ग्रहण करते हैं।

महाकाव्य रामायण में देश के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन के आदर्श रूप का चित्रण किया गया है। राजा से लेकर प्रजा तक समस्त राजनीति से प्रभावित है। धर्म राज्य के संचालन का प्रमुख साधन है लेकिन यहाँ धर्म किसी वर्ग विशेष, जाति व सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित न होकर सदाचार, आत्मकल्याण एवं लोक कल्याण की भावनाओं के आधार स्तम्भों पर आधारित था। धर्म का यह स्वरूप वर्तमान समय की परिस्थितियों में मार्गदर्शन के रूप में उपलब्ध है। इसी तरह महाभारत के विभिन्न पर्वों में राजनीति सम्बन्धी सामग्री पायी जाती है। महाभारत में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय राजनीति के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था की परम्परा बहुत ही स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित थी। नारद ने न केवल युधिष्ठिर अपितु कृष्ण को भी राजनीति की शिक्षा दी है। महाभारत के प्रमुख पात्र बिदुर की नीति राजनीति की दृष्टि से अत्यधिक प्रभावशाली रही है। बिदुर के विचार

मूलतः नैतिक मूल्यों पर आधारित थे। लेकिन वर्तमान परिदृश्य में नैतिक मूल्यों का पतन अति तीव्र गति से हुआ है जिस कारण अनेक समस्यायें पैदा हुयी हैं। अतः बिदुर एवं भीष्म पितामह का राजनीतिक चिन्तन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पूर्णतः प्रासंगिक है। क्योंकि आम जनता की समस्याओं का समाधान समाज व राजनीति में नैतिकता का समावेश करके ही किया जा सकता है। वर्तमान समय में भ्रष्टाचार रूपी दानव से आम जनता पूर्णतः मुक्ति चाहती है और भ्रष्टाचार मुक्त व्यवस्था के चिंतन का स्रोत महाभारत में पूर्णतः पाया जाता है। महाभारत का यह विचार कि राजनीति विशुद्ध रूप से ज्ञान की सैद्धान्तिक एवं चिन्तनात्मक शाखा के साथ-साथ संस्थागत नियमन का सरकारी कार्यों के कुशल प्रशासन का व्यवहारिक विज्ञान है। निश्चित रूप से काज भी प्रासंगिक है।

बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में शासक के अधिकारों को सैवधानिक प्रतिबन्धों से सीमित किया गया है। गणराज्यों की व्यवस्था में सभा और समिति की प्रमुख भूमिका होती थी। इनमें राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद होता था। ध्यान दें तो वर्तमान समय की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का स्वरूप बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित राजनीतिक व्यवस्था का साकार रूप है। बौद्धों के सापेक्ष जैन मनीषियों ने भी गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में विश्वास प्रकट किया तथा केन्द्राभिमुखी राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जैन पुराणों में राजा को नैतिक अनुशासन में बाँधकर रखा गया और माना गया कि प्रजा की रक्षा करना शासक का नैतिक कर्तव्य है। साथ ही इस तथ्य को भी स्वीकार किया गया कि राजा के राज्य सम्बन्धी मौलिक अधिकार निरंकुश नहीं है। राजाओं को सदाचारी व तापस जीवन व्यतीत करते हुये शुचितापूर्ण उद्देश्य से शासन संचालन के नियमों को लागू किया गया। आज के राजनीतिज्ञ व शासन संचालक यदि पुरानी शासन व्यवस्थाओं में विद्यमान राजत्व के चरित्र को ग्रहण कर लें तो निश्चय ही भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा। जैन विद्वान तथा बौद्ध मनीषियों ने निरन्तर विश्वव्यापी हिंसा को समाप्त कर विश्व शासन की स्थापना पर बल दिया। उन्होंने माना कि विश्व सरकार की धारणा से न राज्यों का पृथक अस्तित्व होगा और न ही साम्राज्य विस्तार के लिए विश्व समुदाय को युद्ध की विभीषिका को झेलना पड़ेगा। वर्तमान समय में भी राजनीतिक अस्थिरता, सामाजिक विक्षेप तथा शस्त्रीकरण की होड़ को समाप्त करने के लिए विश्व सरकार की धारणा को भूमण्डलीकरण के विचार के अन्तर्गत, साकार करने का प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय

द्वारा किया जा रहा है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का महत्व व प्रासंगिकता कौटिल्य के विचारों के बिना फलीभूत नहीं हो सकता क्योंकि कौटिल्य के राजनीतिक विचार अपनी समय सीमा में पुरातन होते हुये भी नितान्त आधुनिक हैं। अर्थशास्त्र में वर्णित आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, न्यायिक एवं शासन सम्बन्धी विचारों ने न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण विश्व में भी क्रान्ति ला दी थी। इस ग्रन्थ के अध्ययन से पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी उस भ्रान्ति से मुक्ति पायी कि भारत में ज्ञान हिन्दू धर्म, ईश्वर व दर्शन तक ही सीमित है। कौटिल्य के राज्य सम्बन्धी विचारों में राजा केन्द्रवर्ती था लेकिन उसका शासन लोक कल्याणकारी स्वरूप लिये हुये था। अपने विचारों में कौटिल्य ने राज्य के अधिकारों एवं कर्तव्यों का सांगोपांग निर्धारण किया। वस्तुतः कौटिल्य ने राजा को शासक के रूप में न देखकर 'जनता के सेवक' के रूप में देखा है। कौटिल्य के इस दृष्टिकोण ने तत्कालीन समाज की धारणा को ही नहीं बदला अपितु आधुनिक समय की अधिकार सम्पन्नता वाली मानसिकता को भी चुनौती दी है। अर्थशास्त्र में लोक कल्याणकारी राज्य तथा प्रजा के योग क्षेम पर विशेष बल दिया गया है और इसके लिए आर्थिक सत्ता का सुदृढ़ होना परमावश्यक बताया गया है। यह विचार आज के आर्थिक युग में पूर्णतः प्रासंगिक है। संविधान में वर्णित संसदीय व्यवस्था का सार कौटिल्य के राज-संचालन के व्यवहारिक पक्ष से पूर्णतः साम्य रखता है। कौटिल्य ने स्पष्ट किया कि जिस प्रकार एक नारी बिना पहिए के नहीं चल सकती ठीक उसी तरह मन्त्रिपरिषद के बिना राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता; आधुनिक भारतीय शासन व्यवस्था में वर्णित अनुच्छेद 71 के प्रावधान से हूबहू मिलता है। कौटिल्य के पश्चात् शुक्र ने भी अपनी पुस्तक शुक्रनीति में राज्य व शासन के सन्दर्भ में सारगर्भित चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होंने शासन के आदर्श रूप के प्रस्तुत करते हुये जातियों के रूढ़िवादी मान्यता को अस्वीकार किया तथा इस सन्दर्भ में सादाचारण को ही जाति की श्रेष्ठता का आधार बताया।

निष्कर्षः यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही राजनीतिक चिन्तन की धारणा का जो स्रोत निकला वह अक्षय था और निरन्तर पौराणिक व स्मृतिकाल में भी सुदृढ़ रहा। इस चिन्तन को नयी ऊर्जा एवं सामर्थ्य कौटिल्य ने अपने विचारों के माध्यम से प्रदान करते हुये इसे लगातार प्रवाहमान बनाये रखने में सार्थक योगदान दिया। आज भी हमारे संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थों में राज्य विषयक विचारों का अथाह सागर गोते लगा रहा है जो विश्व की राजनीति

ज्ञान विषयक दरिद्रता को दूर कर सकता है। हमारे विद्वान चिन्तकों ने जिन व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया वो प्राचीन काल से आज तक शासन और समाज को किसी न किसी रूप में अनुप्राणित करती रही है और कर रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- शर्मा, वी. एम. (2009); आस्पेक्ट ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐश्विन्ट इण्डिया : मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
- सालटोरे, वी. एल. (2012); एंशियंट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन : रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर
- आर्य, अनुपमा (2016); प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य का स्वरूप : लक्ष्मी बुक पब्लिकेशन, कानपुर
- वर्मा, वी. पी. (2011); आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा
- सिन्हा, विनोद एवं सिन्हा रेखा (1989); प्राचीन भारतीय इतिहास एवं राजनीतिक चिन्तन : राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
- वर्मा, हरिश्चन्द्र (2009); प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थायें : कॉलेज बुक डिपो, जयपुर
- मित्तल, डॉ. रोचना (2017); प्राचीन भारतीय मनीषियों के सामाजिक राजनीतिक चिन्तन की वर्तमान परिस्थितियों में प्रासंगिकता, आर. जे. पी. पी. वाल्यूम-15
- लाल, बसंत कुमार (2018); समकालीन भारतीय दर्शन : मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली।
- जायसवाल, के. पी. (2001); हिन्दू पॉलिटी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
- अलतेकर, ए.एस. (2002); प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, मयूर पेपर बैक्स प्रकाशन, नई दिल्ली
- महापात्र, अनिल कुमार (2014); वर्ल्ड फोकस, रैफटीड रिसर्च जनरल
- गोपाल जी लल्लन (2009); प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
- टण्डन, किरण (2018); प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक इस्तर्न बुक लिंक्स, दिल्ली
- प्रसाद, मणिशंकर (2007); कौटिल्य के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, भारतीय साहित्य संग्रह पत्रिका, नई दिल्ली में प्रकाशित लेख

-अरुण कुमार

असि. प्रोफेसर (राजनीति विज्ञान),
राजकीय महिला महाविद्यालय,
झोकन बाग, झाँसी, उत्तर प्रदेश
पिन कोड-284001
मोबाइल नं. : 7007600472

महिला सशक्तिकरण और पंचायती राज व्यवस्था : एक अवलोकन

—डा. ज्योति सिंह गौतम

लोकतन्त्र को विश्व की समस्त शासन व्यवस्थाओं में श्रेष्ठतम शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाता है। शासन का यह स्वरूप अन्य शासन व्यवस्थाओं से अलग व्यक्ति की गरिमा, स्वतन्त्रता, समानता और राजनीतिक निर्णयों में उसकी सहभागिता को मजबूती से सुनिश्चित करता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना लोकतन्त्र के सम्पूर्ण आदर्शों से सुसज्जित होते हुये शासन में सभी वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों तथा बिना लिंग भेद के राजनीतिक निर्णयों में सहभागिता का मार्ग प्रशस्त करती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में पंचायती राज व्यवस्था जमीनी स्तर पर लोकतन्त्र का नायाब एवं अनोखा उदाहरण है, अर्थात् लोकतन्त्र को सही दिशा प्रदान करने व उसकी वास्तविक भूमिका के निर्धारण में पंचायती राज व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पंचायतें लोकतन्त्र के विकास की पहली सीढ़ी हैं एवं प्राचीन समय से ही ये भारतीय लोकतन्त्र का मूल आधार तथा व्यक्तियों के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग रही है। पंचायती राज व्यवस्था ने न केवल लोकतन्त्र को सुदृढ़ किया अपितु महिला सशक्तिकरण का भी जीवन्त प्रतिमान सिद्ध हुयी है। यद्यपि महिला सशक्तीकरण व्यापक बहुआयामी और सतत् प्रक्रिया है फिर भी पंचायती राज महिलाओं के राजनीतिक सशक्तीकरण में मील का पथर सिद्ध हुआ है क्योंकि इस व्यवस्था ने सामाजिक एवं संस्थागत स्तर पर व्यापक परिवर्तन लाये। पंचायती राज ने राजनीतिक सशक्तीकरण को सुदृढ़ किया जिससे सामाजिक सशक्तीकरण का प्रयास अपनी निरन्तरता को बनाये हुये है। प्रस्तुत शोध आलेख में पंचायतों के माध्यम से महिलाओं के सशक्तीकरण व उनके जीवन में आने वाले परिवर्तन का अवलोकन किया गया है।

देश की सभ्यता एवं संस्कृति के समान पंचायती राज व्यवस्था का अपना एक गौरवशाली इतिहास रहा है। प्रायः हम देखते हैं कि देश की राजनीतिक व्यवस्था में प्राचीन काल से ही स्वाशासित ग्राम समुदायों का आस्तित्व हमेशा से ही विद्यमान रहा। पंचायती राज व्यवस्था ने हमेशा ही लोकतान्त्रिक व्यवस्था की बुनियाद बनी रही। लोकतन्त्र प्राचीन समय से लेकर आज भी सर्वोत्तम शासन प्रणाली के रूप में पहचान स्थापित किये हुये हैं क्योंकि इसका सार जनता की भागीदारी

में निहित है। यह महिला और पुरुष दोनों की उन्नति एवं विकास के समान अवसर उपलब्ध कराता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में शक्तियों का विकेन्द्रीकरण कर पंचायती राज को जीवन्त किया गया। इस व्यवस्था के माध्यम से न केवल महिलाओं का जीवन प्रभावित हुआ बल्कि उन्हें समाज की सक्रिय सदस्यता भी प्राप्त हुयी। मुख्य रूप से यह माना जाता है कि किसी भी राष्ट्र का विकास तभी सम्भव है जब उस देश की महिलायें विकसित एवं सशक्त हो। डॉ. अम्बेडकर एवं महात्मा गांधी जैसे विद्वानों ने समाज में महिलाओं के महत्व को स्वीकार किया। महात्मा गांधी ने तो स्वीकार किया, “अगर घर के किसी कोने में गड़ा खजाना अचानक प्राप्त हो जाये तो कितनी खुशी होगी, ठीक उसी तरह अगर महिला शक्ति अपनी सुसुप्तावस्था से जाग्रत हो जाये तो सम्पूर्ण विश्व को चकाचौंथ कर देगी।” महिलाओं के सशक्त परिवृद्धि की वकालत करते हुये डॉ. अम्बेडकर ने कहा, “जिस घर-परिवार में स्त्री शिक्षित-प्रशिक्षित होती है, उनके बच्चे सदा ही उन्नति के पथ पर अग्रसर रहते हैं। वह सुन्दर परिवार की निर्मात्री होती है।”

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गांधी जी के ग्राम स्वराज की संकल्पना को साकार करने के उद्देश्य से पंचायती राज व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया। गांधी जी का मानना था, “यदि गाँव नष्ट होते हैं तो भारत नष्ट हो जायेगा। गाँवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है।” भारतीय संविधान निर्माता इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे, अतः उन्होंने नीति निर्देशक तत्वों में अनुच्छेद 40 के अन्तर्गत पंचायती राज व्यवस्था को समाहित किया। इस अनुच्छेद को क्रियान्वित करने हेतु भारत सरकार ने केन्द्र में पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास मन्त्रालय की स्थापना की। फलस्वरूप 2 अक्टूबर, 1952 को प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य सामान्य जनता को विकास प्रणाली से अधिकाधिक सहयुक्त करना था, किन्तु जनता की सहभागिता के अभाव में यह कार्यक्रम असफल रहा। इसके पश्चात् 1957 में बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में ग्राम उद्धार समिति का गठन किया गया और इस समिति ने पंचायती राज के पुनरुद्धार हेतु लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए निस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं के गठन का सुझाव दिया जिससे पंचायत व्यवस्था को मजबूत किया जा सके। इस समिति के सुझावों का मूर्त रूप सर्वप्रथम 2

अक्टूबर, 1959 में राजस्थान के नागौर जिले में देखने को मिला तत्पश्चात् यह व्यवस्था सम्पूर्ण देश में लागू हुई। इस व्यवस्था में आये अनेक अवरोधों एवं कमियों को दूर करने के उद्देश्य से 1977 में अशोक मेहता समिति, 1985 में जी. वी. के. राव समिति और 1986 में डॉ. एम.एल. सिंघवी समिति का गठन किया गया। इन सभी समितियों ने पंचायती राज व्यवस्था को सुदृढ़ करने की वकालत की और शायद इसीलिए स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की सभी सरकारों ने इस बात को स्वीकार किया कि सामाजिक समानता, लैंगिक भेदभाव व देश के चहुँमुखी विकास के लिए पंचायती राज व्यवस्था की अपरिहार्य आवश्यकता है। इसके परिणाम स्वरूप 73वें संविधान संशोधन 1992 द्वारा पंचायतों को पूर्ण सशक्त बनाते हुये उन्हें संवैधानिक दर्जे से युक्त किया गया।

पंचायती राज व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण के परिणामस्वरूप इस व्यवस्था द्वारा दिलित उपेक्षित व महिलाओं को आरक्षण के माध्यम से वांछित स्थान मिला। पंचायती राज में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था से महिलायें राजनीतिक रूप से सशक्त हुयी हैं। इस व्यवस्था ने महिला सशक्तीकरण के अभिप्राय जिसमें इस तथ्य को स्वीकार किया जाता है कि महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनीतिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की सहभागिता तथा उनमें इस प्रकार की क्षमता का विकास जिससे वे अपने जीवन का निर्वाह इच्छानुसार कर सकने में सक्षम हो एवं उनके अन्दर आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान जाग्रत हो, की धारणा को मूर्त रूप प्रदान किया। पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से लाखों महिलाओं का जो लोकतान्त्रिक प्रशिक्षण हो रहा है, उससे हमारे देश की सम्पूर्ण राजनीति का चरित्र प्रभावित हुआ है। आज हमारे देश में 2.5 लाख पंचायतों में लगभग 32 लाख प्रतिनिधि चुनकर आ रहे हैं जिनमें 45.15 प्रतिशत से अधिक महिलायें हैं। ये आँकड़े यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि किस तरह से महिलायें राजनीतिक कार्यों में सहभागी बन रही हैं। महिलाओं की ग्रामीण कार्यों में बढ़ती सहभागिता न केवल महिलाओं के स्वाभिमान के लिए सकारात्मक संकेत है बल्कि इससे गाँवों में फैली सामाजिक असमानता भी दूर हो रही है। सामाजिक असमानता के दायरे में आने वाले लिंगभेद अब सम्भव नहीं रहा है। महिलाओं का बढ़ता कद उन्हें घर और बाहर की दुनिया में स्वतन्त्र जीवन जीने में सहयोग प्रदान कर रहा है। दहेज उत्पीड़न एवं घरेलू हिंसा जैसी अनेक सामाजिक कुरीतियों से आज की महिला

लड़ने में सशक्त हो चुकी है।

पंचायतों में आरक्षण व्यवस्था से महिलाओं की राजनीतिक सक्रियता में वृद्धि हुयी जिससे उनमें निर्णय क्षमता का विकास हुआ। आज पंचायतों ने महिलाओं की सहभागिता में निरन्तर वृद्धि हो रही है और यह सहभागिता 42 प्रतिशत से अधिक हो गयी है। पंचायती राज व्यवस्था में महिला सहभागिता का क्षेत्रीय नेतृत्व उस क्षेत्र में स्थिरों की दशा का दर्पण है। राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व की स्थिति ने महिलाओं के सामाजिक पारिवारिक परिवेश तथा परिस्थितियों में महिला नेतृत्व की स्थिति को स्पष्ट किया है। महिलाओं का सामाजिक पिछ़ापन जिसमें उन्हें पुरुषों के समान अधिकार व अवसर प्राप्त नहीं थे दूर हुआ है। अशिक्षा के स्तर में कमी आयी और महिलाओं में साक्षरता की दर बढ़ रही है। गाँवों में भी अब बालिका शिक्षा का चलन हो रहा है। महिलायें अब अल्प एवं छोटे परिवार की आदि हो रही हैं। धूँघट की परम्परा को त्यागकर महिलायें आगे बढ़ रही हैं। सजग नेतृत्व के कारण महिलायें भ्रून हत्या जैसी कुरीतियों को रोकने में सफल हुयी हैं। ग्रामीण नेतृत्व की श्रेणी में 30-45 वर्ष की महिलायें निर्वाचित होकर काम कर रही हैं। महिलाओं में राजनीतिक और प्रशासनिक क्षमताओं का विकास होने लगा है जिससे उनमें आत्मविश्वास की भावना तीव्र हुयी है।

पंचायती राज व्यवस्था ने महिलाओं की नेतृत्व क्षमता को बढ़ाया है जिस कारण विभिन्न सामाजिक योजनायें गाँवों में सकुशल क्रियान्वित हो रही हैं। विभिन्न सफल महिला नेतृत्व की पंचायतों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है कि महिलाओं के नेतृत्व में आगे आने से विकास कार्यों को अधिक निष्ठा एवं ईमानदारी से आगे ले जाने, आपसी मेल जोल से कार्य करने, जल संरक्षण एवं नशा मुक्ति जैसे सामाजिक सुधारों को प्राथमिकता देने में सफलता मिली है। सामान्य ग्रामीण महिलाओं का पंचायतों से लगाव बढ़ता है। इस तरह पंचायतों में महिला नेतृत्व की बढ़ती सफलता महिलाओं के सशक्तीकरण की दृष्टि से ही नहीं बल्कि विकास कार्यों एवं समाज सुधार में प्रगति की दृष्टि से भी एक सराहनीय उपलब्धि है।

पुरुषवादी सत्ता से ग्रसित लोग अक्सर यह तरक्की देते हैं कि निरक्षर महिलायें पंचायतों का कार्य ठीक ढंग से सम्पादित नहीं कर सकती हैं लेकिन सर्वेक्षणों एवं आँकड़ों के निष्कर्ष इसके विपरीत हैं। महिला जनप्रतिनिधि शिक्षा के विस्तार के साथ ही ग्रामीण विकास को अभूतपूर्व गति प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रही हैं। यद्यपि महिला प्रतिनिधि स्वयं निरक्षर हैं फिर भी यह नहीं चाहती

हैं कि इनके गाँव में कोई भी व्यक्ति विशेषकर बालिकायें अशिक्षित रहें। महिला जनप्रतिनिधियों के ऐसे ही प्रयासों ने शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं का सशक्तीकरण सुनिश्चित किया है। पंचायतों में महिला आरक्षण के लागू हो जाने से महिलायें पंचायतों में चुनकर आयी थीं, लेकिन पंचायत के काम उनके रिश्तेदार सभालते थे। इस परिस्थिति में महिला सशक्तीकरण और महिला आरक्षण के सारे सपने ध्वस्त से प्रतीत हुये, लेकिन धीरे-धीरे स्थिति बदली और अब पंचायतों के लिए चुनी जाने वाली महिलायें अपने पुरुष रिश्तेदारों के हाथ की कठुपुतलियाँ मात्र नहीं रह गयीं और अब ये आगे बढ़कर फैसले ले रही हैं जिससे सशक्तीकरण का स्वप्न साकार हो रहा है। आज राजनीतिक रूप से जगरूक महिलायें पंचायतों के चुनाव लड़ रही हैं और चुनाव जीतकर स्वतन्त्र फैसले ले रही हैं। पंचायतों में महिलाओं की स्वतन्त्र सहभागिता ने इस भ्रम को समाप्त कर दिया है कि पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की राजनीतिक कार्यक्षमता कम होती है।

पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से महिलाओं की गरीबी दूर करने के लिए विभिन्न ग्रामीण विकास व उन्मूलन कार्यक्रम जैसे राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम, राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम व अन्य जीवन गुणवत्ता कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं, जिनमें महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान हैं। इन कार्यक्रमों ने महिलाओं की आर्थिक स्थिति में बदलाव किया है और कमोवेश वे आर्थिक रूप से सम्पन्न भी हुयी हैं। चूँकि ये समस्त कार्यक्रम पंचायतों द्वारा ही लागू व संचालित हो रहे हैं तथा इनमें महिलायें स्वयं भागीदार हैं। ऐसी स्थिति में यह विश्वास किया जा सकता है कि इन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सुधार होगा जिसका सकारात्मक प्रभाव महिलाओं की उन्नति एवं विकास पर पड़ेगा।

पंचायतों में महिला आरक्षण की व्यवस्था ने महिला सशक्तीकरण के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आहट पैदा की। इस व्यवस्था के कारण ग्रामीण महिलाओं को पहली बार महसूस हुआ कि वे भी सत्ता में भागीदार हो सकती हैं। एक तिहाई सीटों के आरक्षण के कारण कभी चूल्हे-चौके तक की दुनिया में सीमित रहने वाली महिलाओं ने नई भूमिका में खुद को साबित किया और अशिक्षित होने के अभिशाप को दूर करते हुये उन्हें जब अधिकार मिले तथा सिर पर जिम्मेदारियों का बोझ पड़ा तो उनको धीरे-धीरे काम करने का ढंग ज्ञात हुआ। इस प्रकार पंचायती राज व्यवस्था में महिला आरक्षण ने जहाँ एक ओर महिलाओं की तकदीर बदलने का कार्य किया है तो वहाँ दूसरी ओर

इसने राजनीतिक रूप से हाशिये पर पड़ी महिलाओं को समाज की मुख्य धारा में लाने का काम किया।

वास्तव में पंचायती राज व्यवस्था में एक वैकल्पिक महिला राजनीतिक विमर्श को जन्म दिया है। इस व्यवस्था के संवैधानिक रूप लेने से पूर्व प्रायः सभी सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों का सम्पादन, संचालन पुरुष वर्ग द्वारा ही होता था पर इस व्यवस्था में विद्यमान आरक्षण प्रक्रिया ने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक रूप से पिछड़ी महिलाओं के साथ-साथ महिला समुदाय के लिए राजनीतिक स्तर पर प्रतिनिधित्व का अवसर प्रदान किया और इसी कारण आज महिलायें निरक्षरता, गरीबी तथा अंधविश्वास के बंधनों को तोड़कर महिलायें लोकतन्त्र की प्रथम सीढ़ी में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में आ रही हैं, जो पहले मुश्किल था।

कहा जा सकता है कि स्वायत्तशासी संस्थायें लोकतन्त्र की मूल आधार हैं तथा ये संस्थायें ही लोकतन्त्र की प्रारम्भिक पाठशाला एवं राजनीतिक प्रशिक्षण की प्रभावी प्रत्याभूति हैं। भारतीय संविधान निर्माताओं का मन्तव्य था कि सत्ता में सबकी भागीदारी सुनिश्चित हो। पंचायती राज व्यवस्था ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया तथा सभी स्तरों पर महिलाओं की प्रभावशाली भूमिका तथा राजनीतिक सशक्तीकरण को मजबूत किया। यद्यपि हमारी परम्परा में महिलाओं की सभी क्षेत्रों में सहभागिता के अनुपम उदाहरण विद्यमान हैं फिर भी समृद्ध संस्कृति व संवैधानिक संरक्षण के बावजूद पंचायती राज के अन्तर्गत प्रदत्त महिलाओं के अधिकार बहाव की स्थिति में हैं और आज भी वे प्रभावी भूमिका में नहीं हैं। इसका कारण ग्रामीण स्तर पर महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थितियाँ तथा अशिक्षा व दुराग्रहपूर्ण सोच है। आज के भारत में भी महिलाओं का स्थान किसी भी तरह पुरुषों के समकक्ष नहीं समझा जाता है। सीमोन द बोउवार अपनी कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' में लिखती हैं, "कृषि युग के पश्चात् उसने वापस अपनी सम्पूर्णता प्राप्त कर ली परन्तु कालान्तर में महिला बाध्य हुयी अन्यों की भूमिका निभाने के लिए। कभी वह गुलाम रही, कभी देवी बनी, किन्तु अपने मानव रूप का चुनाव कभी न कर सकी।"

पंचायत व्यवस्थाओं में अभी भी महिलाओं की स्थिति संतोषजनक नहीं है क्योंकि पंचायत के सभी स्तरों पर अधिकतर महिला प्रतिनिधियों का कार्य उनके परिवार के पुरुषों द्वारा ही सम्पादित किया जाता है। ग्राम पंचायतों में ज्यादातर महिला प्रधानों का दायित्व उनके पतियों द्वारा सम्पन्न होता है। पंचायती राज व्यवस्था ने यद्यपि महिला आरक्षण एवं सशक्तीकरण के प्रति एक राजनीतिक एवं

वैचारिक विमर्श अवश्य उत्पन्न किया तथा महिलाओं में जागरूकता का संचार किया लेकिन इसका व्यवहारिक पक्ष आज भी चिन्ताजनक है। विज्ञापन की कामनामयी दुनिया से बाहर निकलकर महिला सशक्तीकरण के लिए वास्तविक प्रयास करने होंगे, तभी 'सबका साथ, सबका विकास' जैसी धारणायें धरातल पर साकार होंगी तथा एक सशक्त भारत का निर्माण होगा।

सन्दर्भ सूची

1. महिला सशक्तीकरण हमारे समाज का सहज स्वरूप, चेतनादित्य, आलोक, (2016) केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, अंक-08, नई दिल्ली
2. महिलायें और समाज, वोरा, आशारानी (2017) प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, नई दिल्ली।
3. पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी, चौधरी, डॉ. कृष्णचन्द्र (2018) कुरुक्षेत्र पत्रिका, अंक, जुलाई, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, नई दिल्ली
4. पंचायती राज में महिलाओं की दशा एवं दिशा, टाण्डेकर, डॉ. के. एल. (2021) दृष्टिकोण पत्रिका अंक जनवरी-फरवरी, नई दिल्ली
5. ग्रामीण विकास एवं संरचनात्मक परिवर्तन, पाण्डेय, प्रेम नारायण (2013) रावत पब्लिकेशन, जयपुर
6. महिला सशक्तिकरण : फिर भी मंजिल अभी बाकी, पवार, योगिता (2016) अंक-8, केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, नई दिल्ली
7. भारतीय नारी : सामाजिक अध्ययन, राजकुमार (2013) अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
8. भारतीय समाज में महिलायें, देसाई नीरा व ठकराल ऊषा (2019) राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली
9. पंचायतों में महिला आरक्षण के 30 वर्ष : सशक्तीकरण यथार्थ या मिथक, यादव, डॉ. संजय (2022) नागफनी ट्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका, अंक 43, जनवरी-मार्च, नई दिल्ली
10. पंचायत राज में महिला भागीदारी, बंसल, वन्दना (2014) कल्पज्ञ प्रकाशन, नई दिल्ली
11. पंचायती राज एवं महिला विकास, कौशिक, आशा (2016) घाइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर
12. नारी सशक्तिकरण : विमर्श एवं यथार्थ, राठौर, मधु (2020) घाइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर

— डा. ज्योति सिंह गौतम

सहायक प्रोफेसर
राजकीय महिला महाविद्यालय
झांसी, उत्तर प्रदेश

पितृसत्ता का उद्भव और हिन्दी उपन्यास : विशेष संदर्भ जैनेन्द्र का सुनीता

—डा. रजनी दिसोदिया

पिछले दिनों युवा आलोचक राजेश कुमार चौहान की एक पुस्तक आई थी ‘दिगंबरा’। इसमें कुछ चार-पाँच उपन्यासों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया था। इन उपन्यासों में जैनेन्द्र का सुनीता भी शामिल था। पुस्तक का यह शीर्षक भी इस प्रसिद्ध उपन्यास सुनीता की प्रमुख पात्र सुनीता के जंगल के बीच हरिप्रिसन्न (पति के दोस्त) के सामने निर्वस्त्र (दिगंबरा) हो जाने के कारण दिया गया। सुनीता के अपने पाठ में राजेश ने सुनीता के दिगंबरा हो जाने को बहुत क्रांतिकारी माना है और उन्होंने उसके पक्ष में खड़े होते हुए यह कहा है, “ तथाकथित महात्माओं को ब्रह्मचर्य के नए- नए प्रयोग करने की स्वीकृति जो समाज देता है, वह सुनीता के संदर्भ में इतना संकीर्ण क्यों हो जाता है कि उसे चरित्रहीन करार देता है”¹ पर मुझे लगता है कि जैनेन्द्र की सुनीता को दिगंबरा करने और कराने का पूरा प्रकरण एक छलावा है। पाठकों का ध्यान पूरी तरह से यही केन्द्रित हो जाता है और यकीनन आलोचकों का भी। हमारी सारी आलोचना क्लाइमेक्स के इसी सीन पर आकर ठहर जाती है और इसी के आसपास घूमती रहती है। उपन्यास में इस प्रयोग के बाद हरिप्रिसन्न की उस तथाकथित ग्रंथि का उपचार हुआ या नहीं इसका पता तो नहीं चलता, हाँ! सुनीता और श्रीकांत के संबंध स्वस्थ हो जाते हैं। हालांकि, उनके संबंध अस्वस्थ क्यों थे, इस मुद्दे पर भी आलोचना जगत में ज्यादा चर्चा नहीं हुई। पर इसे समझना मुश्किल भी नहीं है।

मुझे लगता है कि जैनेन्द्र के सुनीता को उनकी ही कहानी ‘पत्नी’, अज्ञेय की कहानी ‘रोज’ और प्रेमचंद के उपन्यास ‘कर्मभूमि’ की सुखदा के संदर्भ में पढ़ना चाहिए। कर्मभूमि की सुखदा एक तर्कशील, मनस्वी और साहसी स्त्री है। उसका पालन पोषण एक लड़के की तरह हुआ है जहाँ पग-पग पर उसे सिकूड़ने और सिमटने का अभ्यास नहीं कराया गया। यह सुखदा न केवल अपने निर्णय स्वर्यं लेती है बल्कि अपने पति को भी सही गलत, दुनियादारी की बात समझाने वाली है।² वह मानिनी, स्वाभिमानी, अभिमानी सब है, वह नेतृत्व करना जानती है। वह किसी भी तरह से अपने को पुरुष की अनुगामिनी, अनुचर, पाँव की जूती मानने को तैयार नहीं है। उसके तर्कों से प्रेमचंद भी धायल हैं³ और परपरागत भारतीय

पुरुष भी। ऐसी स्त्री से विवाह नहीं किया जा सकता। घर में भी दफ्तर की तरह कोई बॉस हो जो आप से आप के किये का हिसाब माँगता हो यह भारतीय पुरुष नहीं सह सकता। वह चाहता है कि उसकी बात बस मान ली जाए क्योंकि वह पुरुष है, उसका कहना पर्याप्त है। याद कीजिए सुनीता का वह प्रसंग जब हरिप्रसन्न को सौ रुपये चाहिए और श्रीकान्त ने कहा है कि वह सुनीता से पूछकर देगा। हरिप्रसन्न को सौ रुपये चाहिए अपने दल के किसी सदस्य को देने के लिए। अभी तक वह श्रीकान्त से जब चाहे जितना पैसा ले लेता था और श्रीकान्त ने कभी पलटकर नहीं पूछा कि क्यों चाहिए और कब लौटाओगे। पर अब श्रीकान्त विवाहित है अब वह इतना पैसा बिना सुनीता (अपनी पत्नी) से बात किये नहीं दे सकता। और सुनीता (जिसका निर्माण सुखदा को ध्यान में रख कर हुआ है) बिना यह जाने पैसा नहीं दे सकती कि पैसा किस काम के लिए चाहिए। यहाँ आप सुविधा के लिए श्रीकान्त और हरिप्रसन्न को बीसवीं सदी का वह पुरुष मानकर चलिए जिसका सामना अब पढ़ी लिखी और समझदार स्त्री से है। यह स्त्री आगा पीछा सब जानती है। वह पुरुष के कार्यों का मूल्यांकन कर सकती है। उससे पूछ सकती है कि फलाना काम उसने क्यों किया। श्रीकान्त जो इतना पढ़ा लिखा और समझदार तो है कि वह सुनीता से वह व्यवहार नहीं कर सकता जो पत्नी कहानी का पति अपनी पत्नी से करता है। (अर्थात् पत्नी की भावनाओं इच्छा और अनिच्छाओं की ओर से पूरी तरह लापरवाह और उदासीन होना) जैनेन्द्र और प्रेमचंद दोनों बदलती हवा का रुख पहचान रहे थे। अब पति, पत्नी को बाहर की दुनिया से बहुत समय तक दूर रख नहीं सकता। पत्नी, पति की बाहर की दुनिया में खुद ही दखल देगी इसलिए जरूरी है उसे साथ रखा जाए। कर्मभूमि की सुखदा जब अपने आप से बाहर की दुनिया में आती है तो अमरकांत से कहीं आगे निकल जाती है। पुरुष को लगता है कि स्त्री कहीं ज्यादा होनहार है। उसे लगता है कि वह उसे पीछे छोड़ देगी।

श्रीकांत विवाह के बाद सुनीता से चर्चा के बिना हरिप्रसन्न को इतना पैसा नहीं दे सकता। हरिप्रसन्न उस पुरुष का रूप है जो मानता है घर और स्त्री और तमाम संपत्ति पर उसका अधिकार बिना किसी शर्त के है। सुनीता द्वारा यह पूछा जाना कि हरिप्रसन्न को पैसे किस काम के लिए चाहिए, उसके इस पूर्णाधिकार पर प्रहार है। वह चाहता है कि सुनीता बिना कोई प्रश्न किये उसे यह पैसा दे दे। और सुनीता चाहती है कि अगर वह हरिप्रसन्न की बात रख रही है तो उसे भी सुनीता की बात (उसकी छोटी

बहन सत्या को ट्यूशन पढ़ाये) माननी चाहिए। और अंततः वह हरिप्रसन्न को मजबूर करती है कि वह उसकी बात भी माने।⁴ इस तरह उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में भारतीय पुरुष इस नई पढ़ी लिखी, विशेषणात्मक बुद्धि वाली, अंदर और बाहर सब समझने वाली स्त्री के सामने हतप्रभ थे जिसका न तो वे रास्ता रोक सकते थे और न ही उसके साथ चल पा रहे थे। सुनीता में हरिप्रसन्न एक ऐसा ही पुरुष है जिसने इस आधुनिक विवेकशील स्त्री के साथ चल सकने की संभावना से इंकार करते हुए विवाह ही न करने का निर्णय लिया। प्रो. शान्तिकुमार का विवाह न करने का भी यही कारण है।⁵ मि. मेहता के शादी न करने का यही कारण है।⁶ अमरकांत इसीलिए मारा मारा फिरता है। दूसरी ओर श्रीकांत वह पुरुष है जिसने विवाह तो किया पर साथ चल पाने में असमर्थ है। यही वजह है कि शादी के मात्र तीन साल बाद ही उनकी जिन्दगी ऐसी हो गई है कि जैसे पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है।⁷ बहुतेरी बार ऐसा हो गया है कि कमरे में होने पर भी कई मिनट तक उसे सुनीता से कहने का कुछ नहीं सूझा है, और सुनीता भी चुपचाप रही है तब दम घुट-घुट गया है।⁸

विवाह नामक संस्था के बारे में जैनेन्द्र लिखते हैं कि एक से दो होने की अपेक्षा (चाहत), आवश्यकता मनुष्य के भीतर व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम।⁹ आदमी (इंसान) अपने में अपने को पूरा नहीं पाता, दूसरे की अपेक्षा उसे ही ही। इसका मतलब है कि ये जो मि. मेहता, प्रो. शान्तिकुमार, हरिप्रसन्न जिन्होंने यह निर्णय लिया है कि वे विवाह करेंगे ही नहीं; आधुनिक स्त्री से बचकर रहने की जिद में अपने भीतर के पुरुष की निर्मम हत्या कर पाएँगे? आदमी के भीतर जो एक से दो होने की चाह व्याप्त है उसका वे क्या करेंगे? क्या वह स्त्री को पत्नी बनाए बिना उसके पास जाएंगे? अगर जाएंगे तो फिर उन्हें विवाह नामक उस पक्षी सड़क¹⁰ को तोड़ना पड़ेगा जिस पर समाज टिका है। सुनीता के दूसरे अध्याय में जैनेन्द्र लिखते हैं कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है। समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले, यदि जीवन परीक्षण के लिए ही समझ लिया जाए और कानून तोड़ने के लिए! सच मानवता नहीं कायम है उस रुद्ध-संस्था के सहारे जिसे 'कुटुंब' कहते हैं और जो विवाह पर टिकी है।¹¹ यह सच है कि मनुष्य अन्य जीव जन्तुओं की तरह एक जानवर ही है, एक जानवर से उसे इंसान बनाने का काम समाज के भीतर परिवार नामक संस्था करती है। सचमुच मनुष्य को मनुष्य बनाने का काम सबसे पहले और सबसे ज्यादा परिवार में परिवार द्वारा ही होता है। पर वह परिवार विवाहोपरांत पैदा होने वाली वैध

संतानों से ही निर्मित होगा यह कब, कहाँ और क्यों आया? इसका उत्तर शायद एंजेल की परिवार और निजी संपत्ति नामक किताब में मिले।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में जब आधुनिक भारत (वास्तव में भारत) के चरित्र का निर्माण हो रहा था उसी समय विवाह और परिवार भारतीय समाज की धूरी के रूप में स्थापित हुए। विवाह के अतिरिक्त परिवार के निर्माण का और कोई आधार या तरीका भी हो सकता है इसकी ओर हमने कभी मुड़ कर नहीं देखा। परिवारों के निर्माण में रक्त की शुद्धता वाला सिद्धांत बहुत गहरे भीतर पैठा दिया गया। रक्त की शुद्धता वाले सारे रिवाज विशेष रूप से ब्राह्मण समुदायों या परिवारों की परिपाठी रहे हैं। नायर औरतों के यहाँ की तारावाड़ु पद्धति परिवार निर्माण की एक भिन्न पद्धति ही थी। खैर, उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी में परिवार निर्माण का आधार विवाह ही हो सकता है, ऐसा स्थापित करने की सफल कोशिश हुई अर्थात् इस विवाह से पैदा संतान ही परिवार के जायज सदस्य होंगे। दूसरा विवाह से निर्मित परिवारों में पुरुष ही परिवार का मुखिया होगा। इसको भी हिन्दी साहित्य लेखन में प्रमुखता से उभारा गया। परिवार की रक्त शुद्धता को सबसे बड़ा खतरा स्त्री से ही होता है। वह ही अपनी कोख में किसी का रक्त वंश लेकर गुपचुप परिवार में भिन्न रक्त की एंट्री करा सकती है। इसलिए ही जरूरी है उस स्त्री को परिवार तक ही सीमित रखा जाए। निश्चित तौर पर यह समस्या या इच्छा उच्चजातीय समाजों में ही ज्यादा प्रचलित थी इसलिए उन्हीं समाजों की स्त्रियाँ बाह्य पुरुषों के संपर्क से दूषित हो जाती थीं ठीक जैसे सीता माता के साथ रामायण की कथा में हुआ। औपनिवेशिक भारत के उत्तरकाल में इसे पूरे भारत की चारित्रिक विशेषता के रूप स्थापित किया गया और काफी हद तक इसमें सफलता भी मिली। आज हमारा मानस इसी तरह से बना भी है। सुनीता जो की उन्नीस सौ पैंतीस में लिखी गई। उसमें दिखाई देता है कि एक ओर तो उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में पितृसत्ता का आगमन हो रहा था दूसरी ओर इस पितृसत्ता को इस नई पढ़ी लिखी विवेकानन्द स्त्री से जो चुनौती मिल रही थी उससे कैसे निपटा जाए, इस समस्या के बारे में चिंतन हो रहा था। सुनीता की सुनीता पढ़ी लिखी है, वह केवल किसी व्रत की कथा ही नहीं बाँचती वह ‘शेक्सपियर, शेली, शॉ (बर्नार्ड) की सब किताबों के ऊपर बैठी सुनीता’¹² है जिसे म्युजिक में इनाम मिला है। यह सुनीता अगर चाहे तो क्या नहीं कर सकती। इसलिए उस सुनीता के साथ रहते हुए श्रीकांत कर सकती। इस सुनीता जब बर्तन माँजती है, चूल्हा फूँकती

है, ‘कुछ दिनों से घर के नौकर की जगह घर के सारे काम को अपने हाथों निपटाती है, वह सुनीता जो हारमोनियम और वायलिन पर धूल चढ़ने देती है, जबकि वह उन्हें बखूबी बजाना जानती है। वह पुस्तकों को अलमारी में चुप लेटे रहने देती है, इस सुनीता के सामने श्रीकांत को घंटों समझ में नहीं आता कि वह उससे क्या बात करे।’¹³ यह सुनीता परपंरागत औरत के रूप में रह रही है, अपने आप को साधारण से साधारण स्त्री के रूप में रखे हुए है तो भी श्रीकांत को चैन नहीं है क्योंकि वह भी कोई परपंरागत पुरुष नहीं है जब वह जानता है कि स्त्री (उसकी पत्नी) उसके ही जितनी विवेकशील और विचारावान है तो उसे वह कैसे स्त्री के परपंरागत रूप में रहने को मजबूर कर सकता है। वह कैसे चाह सकता है कि स्त्री (पत्नी) अपने आप को केवल घर और बच्चों तक सीमित रखे। यह इस स्त्री के प्रति अन्याय है। पर दूसरी ओर वह अपनी उस पुरुषसत्तात्मक सोच का क्या करे जिसे इस स्त्री के द्वारा चुनौती भी है। ऐसे में वह याद करता है अपने उस मित्र को जिसने स्त्री के इस रूप से तौबा कर करके उससे दूर ही रहने का निर्णय किया। क्या वह कोई मदद कर पाएगा? क्या उसका रास्ता सच में कोई रास्ता है भी?

जब हरिप्रसन्न घर आता है तो उसकी स्थिति और भी चिंताजनक है। पुराना वह छोड़ बैठा है नया उसके पास कुछ है नहीं, ऐसे में वह तो समाज के लिए और भी घातक है। भारतीय समाज में छड़ा (अविवाहित या विधुर) पुरुष, और स्त्री भी परिवार और समाज व्यवस्था के लिए खतरे की तरह देखे जाते हैं। कमाल की बात है कि हरिप्रसन्न स्वयं को भी इसी तरह देखता है। इसलिए वह अपने पास रिवाल्वर रखे हैं कि जब जिस क्षण ऐसा होने को होगा तो वह अपने आप को समाप्त कर लेगा।

पहली बार श्रीकांत के घर आया हरिप्रसन्न किताबों की अलमारी से किताबें निकाल कर देख रहा है जिनके कवर पेज पर सुनीता का नाम लिखा है। पर यह नाम इस तरह नहीं लिखा है जिसके बारे में उसे लगता है कि जिस तरह वह लिखा होना चाहिए। ‘अक्षरों को कागज पर बाँई और न्यून कोण बनाना चाहिए। और वे छाती ताने आगे बढ़ना चाहते हैं। इन अक्षरों का सिर पीछे फिका है, पैर आगे निकले हैं।’¹⁴ असल में, वे अक्षर आधुनिक स्त्री के प्रतीक हैं जो बेतरतीब हैं, वह स्त्री जो छाती ताने आगे बढ़ना चाहती हैं जिनके दिमाग में खाका पुराना पिछला ही है पर पैर आगे जा रहे हैं। हरिप्रसन्न उस स्त्री को एक पत्नी के रूप में श्रीमती और देवी की सीमाओं में बाँध देना चाहता है।¹⁵ उसे लगता है यही तरीका है जिसमें किसी

पत्नी बनी स्त्री को रहना चाहिए। पर यह सब उसका परंपरागत संस्कार है जो उसके भीतर पूरी तरह पसरा है पर वह इस ओर से बेखबर है यद्यपि उसका जागरुक दिमाग सोचता है, “विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु है कि स्त्री अपना नाम भी खो दे और अमूक एक पुरुष के नाम को अपने ऊपर छत्र की भाँति लेकर उसके नीचे उसकी संपत्ति हो रहे।”¹⁶

इस तरह उस समय विवाह और कुटुंब के नाम पर पितृसत्ता का एक निश्चित खाँचा है जिसमें यह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली स्त्री फिट नहीं हो रही है। उसके बाहर उस स्त्री की जो कोई भूमिका हो सकती है उसके बारे में इतना भय है कि उससे पुरुष को न केवल अपना वजूद खतरे में लगता है बल्कि उसकी सुरक्षा के लिए गढ़े गए विवाह और कुटुंब पर भी आघात होता नजर आता है। इस पुरुष ने इस परिवार नामक संस्था के बाहर भी स्त्रियों को देखा है अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए। पर वह स्त्री परिवार नामक संस्था के लिए खतरा है। उसे किसी भी तरह से धेर कर इसके भीतर लाना होगा। यही वह काम है जिसे इस समय के उपन्यास कर रहे थे। इस संदर्भ में चित्रलेखा और दिव्या को पढ़ा जा सकता है। विवाह नामक संस्था के बाहर की स्त्री वेश्या ही हो सकती है, चाहे वह कितनी ही कलावंत ही क्यों न हो। विवाह और संतान पैदा करना ही उसके जीवन का लक्ष्य हो सकता है।

सुनीता का श्रीकांत वह आधुनिक पुरुष है जो बाहर की दुनिया में इस स्त्री के निकलने को परिवार के लिए खतरा देखता है। साथ ही वह मध्ययुगीन सांमंती पुरुष भी नहीं है। ऐसे में स्त्री पुरुष की बाबरी के विचार के चलते वह सोचता है कि यदि स्त्री का घर से बाहर निकलना परिवार और विवाह की पवित्रता के लिए खतरा है तो क्यों न वह (पुरुष) भी अपने को घर तक ही सीमित रखे। वह भी अपने समय की बाहर की दुनिया की ओर पीठ किए बैठा है। बाहर देश को स्वतंत्र कराने का आंदोलन चल रहा है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भूचाल है पर श्रीकांत को घर और नौकरी के अलावा कुछ नहीं सूझता है। उसका कोई सामाजिक जीवन नहीं है। वह तो सभाओं और कान्फेरेंसों में भी इसलिए चला जाता है कि उन्हें सिनेमाघरों से कुछ बेहतर समझ लेता है। पर उसका यह प्रयोग सफल नहीं है क्योंकि उसके घर की वायु दुषित हो रही है। ‘घर के भीतर की गृहस्थी को घर के बाहर की दुनिया का और अधिक संसर्ग, और अधिक संघर्ष मिले तो शायद कुछ .. चैतन्य जागे।’ ‘घर के किवाड़-खिड़कियां खोल दे,’¹⁷ खूब हवा आने-जाने दे तभी ठीक रहेगा। हवा

(घर की) में जो अशुद्ध है उसे शुद्ध करके परास्त करना होगा। कुल मिलाकर श्रीकांत की अपनी दुनिया में घोर उदासी, नीरसता और यांत्रिकता आ गई है। अब वह चाहता है कि घर की खिड़कियाँ और दरवाजे खोल दिये जाएं, पर साथ ही दिक्कत यह भी है कि इन खिड़कियों और दरवाजों से बाहर की दुनिया भीतर तो आएगी ही भीतर की दुनिया भी तो बाहर जाएगी। अर्थात फिर स्त्री को बाहर की दुनिया से कैसे बचाया जाए? अर्थात स्त्री को बाहर जाने से कैसे रोका जाए?

उपन्यास में राजरानी मीरा फिल्म का प्रसंग इस समस्या को समझने के लिए शामिल किया गया है। श्रीकांत बहुत सोच समझकर सुनीता को यह फिल्म दिखाने लेकर आया है। पर इससे मीरा को समझने की जो तड़प सुनीता में जागती है¹⁸ उससे श्रीकांत तो भयभीत है ही जैनेन्द्र भी भयभीत हैं। विवाह नामक बंधन के होते हुए मीरा के भीतर का वह कौन सा खालीपन है, वह कौन सी पीड़ा है कि वह अपने पतिव्रत को दाव पर लगाने की तैयार हो जाती है। पति, परिवार और विवाह उसे बाँध क्यों नहीं पाते? इतने पर भी सुनीता मीरा को समझना चाहती है। वह उससे घृणा नहीं करती। श्रीकांत चाहता है कि वह उससे घृणा करे क्योंकि उसने राणा के साथ अन्याय किया है। राणा के प्रेम और अधिकार का अनादर किया है। पर सुनीता इतना ही कहती है कि “...मैं तो राणा के साथ रो ही सकती हूँ। पर मीरा के साथ भी मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाह लूँ। मीरा के मन को जानने पर मीरा को दण्ड देने योग्य जी नहीं रखा जाएगा।”¹⁹ उन्नीसवीं शताब्दी का पुरुष जानता है कि अब स्त्री को घर से बाहर निकलने से रोका तो नहीं जा सकता। पर वह जानना चाहता है कि क्या उसके भीतर सचमुच कुछ ऐसा है जो उसे समस्त लौकिक कर्तव्यों से मुक्त कर सकता है। यदि हाँ तो उसका तो बहिष्कार करना ही होगा।²⁰

सुनीता में सुनीता की यात्रा इसी अंतर्दृद्ध से गुजरने की यात्रा है। पुरुष(श्रीकांत) चाहता है कि (स्त्री सुनीता) घर के बाहर जाकर भी परिवार और पति के प्रति अपना जो प्रेम समर्पण और कर्तव्य है उसे किसी भी तरह भुला न दे। इस कोशिश में वह उसका इतना साथ तो जरूर देता है कि अपने पूरे भरोसे और विश्वास की चादर उद्धा कर उसे बाहर भेजे। राजरानी मीरा देखने के बाद श्रीकांत और हरिप्रसन्न सुनीता की घर से बाहर निकलने की राह इस तरह से बनाते हैं कि वह विवाह नामक संस्था और पति की सर्वोच्चता को नुकसान न पहुँचाए। हरिप्रसन्न के साथ अंधेरी रात में जंगल में अकेले अपने सारे वस्त्र उतार देने

के बावजूद सुनीता के मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। हरिप्रसन्न के प्रति जिस प्रकार का खिंचाव और आकर्षण वह उपन्यास के शुरूआत में महसूस करती है। जिस तरह से वह मीरा के उस मन को समझना चाहती है जिसमें पति के होते हुए भी प्रेम की पीर है, एक खालीपन है जिसे भरने को मीरा घर के बाहर निकलना चाहती है, वह खालीपन, वह प्रेम की पीर सुनीता में अचानक से गायब हो जाती है। उसके चारों ओर पति के विश्वास और भरोसे का ऐसा मजबूत किला बना दिया जाता है जिसे कोई परपुरुष भेद नहीं पाता।

असल में सुनीता के दिगंबरा होने की घटना हरिप्रसन्न (पुरुष) की ग्रंथि का ईलाज नहीं है बल्कि सुनीता के भीतर मीरा के मन को समझने की जो तड़प है उसका ईलाज करने की कोशिश है। स्त्री पत्नी के रूप में पति के अतिरिक्त किसी को अपना मन दे ही न। चाहे वह घर के भीतर रहे चाहे घर के बाहर जाए, पर उसका मन पूरी तरह से पति पर समर्पित रहे। उपन्यास की शुरूआत में हम देखते हैं कि सुनीता का मन हरिप्रसन्न की तरफ खिंच रहा है। उससे वह बहुत बेचैन है। बार बार स्वयं श्रीकांत की ओर से ऐसी स्थितियाँ बनाई जा रही हैं कि सुनीता को हरिप्रसन्न के ज्यादा से ज्यादा करीब रहने का मौका मिले। जैसे वह स्वयं उसे हरिप्रसन्न की ओर ठेल रहा है। वह बार-बार चाहती है कि हरिप्रसन्न को वहाँ से चले जाना चाहिए। पर श्रीकांत (पुरुष) पति के रूप में यह जानता है कि जब स्त्री घर से बाहर निकलेगी तो हरिप्रसन्न (पर पुरुष) से उसका सामना होगा ही होगा। अगर वह मन से मजबूत नहीं होगी तो पति के अतिरिक्त दूसरे पुरुष को समझने की ललक, तड़प उसमें जागेगी ही। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि उसे इसके लिए मन से तैयार किया जाए। परंगत स्त्री ईश्वर और धर्म के नाम पर पति और परिवार से बाँधी जा सकती थी पर आधुनिक स्त्री के नए

औजार बनाने होंगे। सचमुच के युद्ध में उत्तरने से पहले जिस प्रकार युद्ध के हथियारों से लड़ना और बचना सिखाया जाता है, हरिप्रसन्न के सामने सुनीता के दिगंबरा की घटना उसी प्रायोजित ट्रेनिंग का हिस्सा है।

संदर्भ

1. दिगंबरा, ‘हन्दी उपन्यास बदलते पाठ’, राजेश कुमार, कोटिल्य प्रकाशन 2019, पृ. 25
2. कर्मभूमि, प्रेमचंद, वाणी प्रकाशन, पृ. 25
3. वही, पृ. 154
4. सुनीता, पृ. 102
5. कर्मभूमि, प्रेमचंद, पृ. 154
6. गोदान, प्रेमचंद, अध्याय 15
7. सुनीता, भारतीय ज्ञानपीठ, चौथा संस्करण, पृ. 15
8. वही, पृ. 14
9. वही, पृ. 13
10. वही, पृ. 10
11. वही, पृ. 10
12. वही, पृ. 38
13. वही, पृ. 11
14. वही, पृ. 100
15. वही,
16. वही, पृ. 36
17. वही, पृ. 15
18. वही, पृ. 58
19. वही, पृ. 58
20. वही, पृ. 57
21. वही, पृ. 117
22. वही, पृ. 118

—डा. रजनी दिसोदिया

एसोशिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, मिरांडा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. 9910019108

जापानी इतिहास एवं समाज : एक विश्लेषण

—डॉ सुरज प्रकाश बड़त्या

जैसे ही जापान का नाम हमारे सामने आता है तो हमारी कल्पनाओं के रंगों में एक बेहद खुबसूरत देश की तस्वीर तैरने लगती है। जापान की प्रकृति से लेकर उनके तकनीकी विकास और जापानी लोगों की विनप्रता से लेकर उनकी जीवनशैली के किसे हमें रोमांचित करते हैं। हिन्दी फिल्मों ने भी भारतीय जनमानस के इस रोमांच और जापान से जुड़ाव को बढ़ाने का और भुनाने का काम भी बड़े स्तर पर किया है। चाहें राजकपूर पर फिल्माया गाना हो—मेरा जूता है जापानी कृवइजैन्टी माला पर फिल्माया रोमांटिक गाना—सायोनारा ! सायोनारा ! कल फिर आऊँगी सायोनारा । या, छोटी बच्ची पर फिल्माया गया गाना—सात समुन्दर पार से, गुड़ियों के बाजार से छोटी सी गुड़ियाँ लाना, पापा जल्दी आ जाना । ऐसे बहुत से गाने, डायलॉग और भारतीय फिल्मों में आते रहे हैं। इसीलिए भारत में जापान को गुड़ियों का देश भी कहा जाता रहा है। दुनिया के पटल पर जापान वाकई एक आकर्षक और अद्भुत देश है। जब हम इस देश के बारे में थोड़ा सा भी जान लेते हैं तो इसके बारे में और अधिक जानने की हमारी जिज्ञासा परवान चढ़ने लगती है। जापान के बारे में कुछ विद्वानों के विचार हम सामने रखते हैं। सन 1976-1979 तक श्री श्याम सुंदर जोशी जो कि श्यामू सन्ध्यासी के नाम से लिखते थे और वे ‘टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज’ में हिन्दुस्तानी भाषा के अध्यापक थे। उन्होंने हिन्दी में ‘जापान’ नाम से 1958 में एक पुस्तक भी लिखी है जिसमें वे कहते हैं—जापानी जाति के उद्गम के बारे में अभी तक इतिहासकार किसी एक राय पर नहीं पहुँच सके। स्वयं जापानी लोग अपने आप को सूर्योदय के वंशज और मनुष्य जाति में श्रेष्ठतम मानते रहे हैं। वे अपने देश को निष्पन उगते सूरज का देश कहकर पुकारते हैं। जापान के पौराणिक आख्यानों और लोक-कथाओं के अनुसार सूर्य देवी अमातेरासु ने जापान के राजवंश को जन्म दिया और अन्यान्य देवताओं ने जापान के पहाड़ों, झरनों और वनों का निर्माण किया। इन गाथाओं के अनुसार जापान देश, वहाँ की धरती और जापानी जाति सभी को देवताओं ने ही बनाया है।¹ हालांकि, यहाँ भी भारत देश की ही तरह यह मान्यता है कि जापान के बनने में देवताओं की कृपा दृष्टि है। लेकिन इसके ठीक विपरीत, जापान के समाज और उसके विकास में जापानी लोग ईश्वर और धर्म की भूमिका को बहुत ज्यादा महत्व नहीं देते। वे अपनी मेहनत, अनुशासन और प्रतिबद्धता से अपने समाज और देश के विकास पर स्वयं को केंद्रित करते हैं। इसमें उनके प्राचीन धर्म शिंतो और बौद्ध दर्शन के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। लेकिन भारत

से जापान जाने वाले अधिकांश विद्वान् इन महत्वपूर्ण बिंदुओं की अनदेखी कर देते हैं। श्यामू सन्यासी भी अपनी पुस्तक में ईश्वर प्रदत्त अवधारणा को तो ले रहे हैं लेकिन बौद्ध दर्शन के योगदानों को गोल कर जाते हैं।

जापान को उगते सूर्य का देश कहने का विशेष प्रयोजन भी है। जापान में सूर्योदय सबसे पहले होता है, यानी कि दुनिया में दिन की शुरुआत सबसे पहले जापान से ही होती है। भारत से जापान का लगभग साढ़े तीन घंटे का समय का अंतराल है या इसे आप ऐसा भी कह सकते हैं कि जापान भारत से साढ़े तीन घंटे आगे है। लेकिन यह भी हैरत करने वाली बात है कि जापानी जाति के उद्भव को लेकर अभी भी कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि ईसा से लगभग 2000 साल पूर्व जापान में जोमोन-संस्कृति को मानने वाले शिकारी लोगों की बस्तियां होती थी। कहीं-कहीं पर उनके द्वारा बनाए गए मिट्टी के बर्तनों की प्राप्ति हुई है। अन्य इतिहासकारों द्वारा ऐसा माना गया है कि जापान के मूल निवासियों के रूप में आईनू जाति के लोग थे। लेकिन कुछ इतिहासकार ऐसा जरूर कहते हैं कि प्राग-ऐतिहासिक काल में एशिया से संभवत चीन से या फिर पूर्वी और दक्षिण एशिया से कुछ लोग जापान पहुंचे और यहाँ के स्थानीय निवासियों को पराजित कर अपने शासन की शुरुआत की थी। लेकिन इतिहासकारों में इस पर भी मतैक्य नहीं है।

जापान के इतिहास का अध्ययन करते हुए आठवीं से 12वीं शताब्दी तक का यह 400 वर्षों का इतिहास जापान के विकास एवं परिवर्तन में महत्वपूर्ण मोड़ माना जाता है। इसे जापान के इतिहास में हियान युग कहा जाता है। इसका काल लगभग 784 ईस्वी से 1192 ईस्वी तक रहा है। हियान का शाब्दिक अर्थ है शांति। इसका नाम जापान की एक प्राचीन राजधानी हियान-क्यो के नाम पर रखा गया था जिसका वर्तमान में नाम क्योतो शहर है। क्योतो भी लंबे समय तक जापान की राजधानी रह चुकी है लेकिन वर्तमान में टोक्यो जापान की राजधानी है। अगर बौद्ध धर्म के बारें में अनुसंधान किया जाए तो यह पता चलता है कि सन 538 ईस्वी में जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था। जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश सीधे भारत से ना होकर चीन और कोरिया होते हुए जापान में पहुंचा था। बौद्ध धर्म ने जापान को सभ्य एवं सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जापान की संस्कृति, रीति-रिवाज और दर्शन पर बौद्ध धर्म के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जापान के हीयान युग के बारे में श्यामू

सन्यासी कहते हैं—अभी तक जापान की अपनी राष्ट्रीय संस्कृति साहित्य और कला नहीं थी। चीनी कला, साहित्य और संस्कृति को जैसा का तैसा अपना कर उसी का विकास किया जा रहा था। परंतु इस युग में आकर जापान की राष्ट्रीय संस्कृति साहित्य और कला की नींव डाली गई और उसे विकसित किया गया। इसी युग में जापानी सामंतवाद का उदय हुआ। जापानी साहित्य की उत्कृष्ट कृति ‘गेनजी मोनोगातारी’ अर्थात् गेनजी नामक सामंती महिला की कहानी भी इसी युग में लिखी गई थी। इस कृति की गणना विश्व की श्रेष्ठतम साहित्य कृतियों में की जाती है। इसी युग में जापान की राजधानी नारा से हटा कर क्योटो में स्थापित हुई और यह नगर आगमी 1000 वर्ष तक इस देश की राजधानी बना रहा।²

12 वीं शताब्दी के अंत में जापान के सत्ता में एक अन्य तरह का परिवर्तन देखने को मिलता है। सत्ता का केंद्र अब राजशाही ना होकर सत्ता जापान के योद्धा वर्ग के हाथों में चली जाती है। अब जापान में एक प्रकार से कहा जाए तो राजशाही का अंत होता हुआ दिखाई देता है। इस संबंध में बताते हुए प्रोफेसर सुरेश ऋतुपर्ण अपनी पुस्तक में लिखते हैं—12 वीं शताब्दी के अंत में मिनामोतो वंश की जीत होती है और उनके द्वारा कमाकुरा में पहली सैन्य सरकार की स्थापना की जाती है। और इस प्रकार राज्य की वास्तविक सत्ता सम्प्राट और राज दरबार के हाथों से निकल कर योद्धा वर्ग के हाथों में आ जाती है। सन 1192 में जापान के सम्प्राट मिनामोतो-नो-योरीतोमो को जापान का पहला शेषोनु-अर्थात् फौजी शासक नियुक्त करते हैं। कालांतर में एदों युग में यही शब्द दाईम्यों में परिवर्तित हो जाता है और यह व्यवस्था मेइजी पुनर्स्थापना तक यानी सन 1868 तक चलती रहती है।³

जापान के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सन 1868 ईस्वी का महत्वपूर्ण योगदान है और इसे जापान में बदलाव का एक बड़ा टर्निंग प्वाइंट भी माना जाना चाहिए। पुरानी सामंतशाही के अंत के पश्चात केंद्रीय सत्ता के रूप में राजशाही की सत्ता पुनः प्रारंभ होती है। क्योतो के स्थान पर टोक्यो को जापान की राजधानी बनाया जाता है। पश्चिमी शक्तियों की तरह जापान भी अपना विस्तार चाहता है। जापान को आधुनिक बनाने की प्रक्रिया में राजा मेर्इजी अनेक प्रकार के सुधार कार्य प्रारंभ करते हैं जिनमें नई शिक्षा की शुरुआत एक महत्वपूर्ण बिंदु है। इसी के साथ सन 1889 में जापान में नया संविधान बनाया जाता है। तत्पश्चात जापान के इतिहास में संभवत यह पहली बार था कि यहाँ संसादीय प्रणाली प्रारंभ होती है और भी बहुत से

सुधार इस समय देखने को मिलते हैं जिसके कारण आधुनिक जापान का निर्माण हो सका। इस संबंध में बताते हुए प्रोफेसर सुरेश ऋतुपर्णा कहते हैं—“मेर्झीजी काल में देश निर्माण के लिए एक ही दृष्टि काम कर रही थी—समृद्ध राष्ट्र एवं शक्तिशाली सेना। उस समय का मूल मंत्र था पश्चिम के बराबर आना। उन्हें भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवादी सरकार के द्वारा किए जा रहे शोषण की जानकारी थी और वे जापान को किसी का भी उपनिवेश नहीं बनने देना चाहते थे।”⁴ इस प्रकार हम देखते हैं कि जापान में सत्ता के इस परिवर्तन के पश्चात यह शासन निरंतर चलता है। जापानी इतिहासकार ऐसा मानते हैं कि जापान में वर्तमान राजवंश का संबंध भी इसी कुल के साथ है। मेर्झीजी युग में ही औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया तेज होती है। जापान ने इसी समय अपनी सैन्य एवं सामरिक शक्ति को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया। धीरे-धीरे जापान कोरिया और चीन पर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया। सन 1895 में जापान ने चीन के बहुत बड़े हिस्से पर अपना कब्जा जमा लिया। सन 1904 में जापान ने रूस को पराजित कर दिया। सन 1910 में जापान ने कोरिया को भी पराजित करके उस पर कब्जा कर लिया। धीरे-धीरे पूरे विश्व में जापान का डंका बजने लगा। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध जापान के लिए विनाशकारी सावित हुआ और हम देखते हैं कि इसमें जापान की सैन्य शक्ति धराशायी हो जाती है। 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा और 9 अगस्त 1945 को नागासाकी में अमेरिका द्वारा गिराए गए अणुबम से ना केवल इन दोनों शहरों को नष्ट कर दिया बल्कि बहुत ज्यादा जानमाल की भी हानि हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध में जापान पराजित हुआ। इसके बाद जापान के सामने एक चुनौती थी अपने पुनर्निर्माण की। सन 1946 में जापान में चुनाव होते हैं। सन 1947 में जापान में नया संविधान बनाया जाता है। 1945 से 1951 तक अमेरिकी जनरल डगलस ऑर्डर जापान की बागड़ोर संभाले रहते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात जापान के लिए जापान का नवनिर्माण एक बहुत बड़ी चुनौती थी लेकिन जापान ने और जापान के लोगों ने अपने अनुशासन, कड़ी मेहनत, देशप्रेम और प्रतिबद्धता के कारण धीरे-धीरे अपने को जापान के विकास के लिए जापान को जापानी शिक्षा सन 1960 तक आते-आते जापान का विकास विश्व के पटल पर दिखाई देने लगा था। यह जापानियों की ही कड़ी मेहनत का परिणाम था कि सन 1964 में विश्व की सबसे तेज बुलेट ट्रेन बनाकर जापान ने दुनिया के सामने अपने विकास को सामने लेकर आया। साथ ही जापान ने शिक्षा

से लेकर अपने तकनीकी विकास, विज्ञान एवं विकास के अन्य चरणों को पूरा किया। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते जापान ने दुनिया को दिखा दिया कि वह अब एक बड़ी वैश्विक आर्थिक शक्ति है जिसे आसानी से दबाया नहीं जा सकता। अगर संक्षेप में कहा जाए तो जापान ऐसे देशों के लिए एक उदाहरण है जो अपने देश को आगे बढ़ाना चाहते हैं, अपने देश में बहुत तेजी के साथ सुधार करना चाहते हैं। ऐसे विकासशील देशों के लिए भी जापान एक उदाहरण है कि अगर कड़ी मेहनत अनुशासन और आपसी सहयोग से कार्य किया जाए तो किसी भी चुनौती को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

जहां तक जापान की ऐतिहासिक स्थिति की बात है तो आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि जापान एक टापू है। लेकिन ऐसा बिल्कुल भी नहीं है बल्कि यह बहुत सारे टापूओं का समुच्चय है। इस संबंध में श्याम् सन्यासी अपनी पुस्तक में बताते हुए कहते हैं—“जापान एशिया महाद्वीप के पूर्वी किनारे पर प्रशंसन्त महासागर में 3000 टापूओं का एक द्वीप समूह है। इन 3000 टापूओं में बड़े तो केवल चार ही हैं। नंबर 1. क्यूशू नंबर 2. शिकोकू नंबर 3 होकाईदो और नंबर 4. होनशू। इसके अतिरिक्त सभी बहुत छोटे हैं। इन्हें छोटे की नक्शे पर उन्हें दिखाना भी संभव नहीं है।”⁵ इन टापूओं के कारण जापान पूरे विश्व के मानचित्र पर अपनी एक अलग पहचान बनाता है। इसीलिए जापान के एक हिस्से में अगर बहुत ज्यादा सर्दी होती है तो दूसरे हिस्से में गर्मी भी देखी जा सकती है। प्राकृतिक रूप से भी जापान को बहुत सुंदर कहा जाता है शायद इसीलिए क्योंकि जापानी लोग प्रकृति को संरक्षित करते हैं। उन्हें प्रकृति प्रेमी भी कहा जा सकता है। जापान के इन चार टापूओं की विशेषता बताते हुए श्याम् सन्यासी कहते हैं—“चार बड़े टापू में भी सबसे बड़ा होंशु द्वीप है। इसे होंडो भी कहते हैं। जापान की मुख्य भूमि भी यही द्वीप है। जापान देश के कुल 79 प्रांतों अथवा जिलों में से 59 प्रांत इसी द्वीप में हैं। जापान के सभी प्रमुख नगर टोक्यो, क्योटो, ओसाका, नागोया, योकोहामा, कोबे आदि इसी द्वीप पर हैं। विस्तार में क्यूशू दूसरे, होकाईदो तीसरे और शिकोकू चौथे नंबर पर है।”⁶ जापान एशिया का सबसे धनी देश है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह अनुपम है। चारों ओर हरियाली और बारह महीने फूल खिले रहते हैं। इसीलिए पूरे विश्व में जापान को फूलों का देश भी कहा जाता है। भूलना नहीं चाहिए सकुरा यानी चेरी ब्लॉसम का त्यौहार जापान में ही

मार्च एवं अप्रैल के महीने में पूरे धूमधाम के साथ जापानियों द्वारा सेलिब्रेट किया जाता है। सकुरा के दिनों में पूरा परिवार शाम के समय अपना खाना-पीना भोजन लेकर सकुरा के पेड़ के नीचे बैठकर इसे सेलिब्रेट करते हैं। सकुरा का अर्थ है चेरी ब्लॉसम फूल। यह जापान का राष्ट्रीय फूल है ऐसा माना जाता है कि जापान में बसंत की शुरुआत इसी समय होती है। साथ ही यह फूल थोड़े समय के लिए ही खिलते हैं इसीलिए यह महोत्सव जीवन और आशा के प्रतीक के रूप में भी मनाया जाता है। चेरी ब्लॉसम फूल को देखने के लिए जापानी लोग अपने घरों से निकलते हैं और अपने आसपास के माहौल में चेरी ब्लॉसम के फूलों के पास जाकर एंजॉय करते हैं।

जापान पहाड़ों झीलों एवं पार्क के लिए भी बहुत प्रसिद्ध है। जापान में बड़े-बड़े मैदान बहुत कम हैं। पूरे जापान का लगभग दसवां भाग ही मैदानी क्षेत्र है। जहां तक पहाड़ी क्षेत्रों की बात की जाए ज्वालामुखी क्षेत्र होने के कारण अधिकांश पहाड़ों को ज्वालामुखी पहाड़ कहा जाएगा। आज भी जापान में इन 192 ज्वालामुखी पहाड़ों में लगभग 111 सक्रिय हैं और बाकि सुप्त अवस्था में हैं। सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या विश्व के सक्रिय ज्वालामुखी का 10% हैं। सक्रिय ज्वालामुखी में माउंट फुजि को पहले स्थान पर माना जाता है। अंग्रेजी में फ्यूजियामा कहते हैं लेकिन जापानी में फ्यूजीसान कहते हैं। जापानी भाषा में ‘सान’—सम्मानसूचक शब्द है इसका मतलब—जनाब—या दृजी-होता है। फुजीसान टोक्यो से लगभग 70 मील की दूरी पर स्थित है। यह जापान का सबसे प्रमुख एवं प्राचीन सक्रिय ज्वालामुखी है। टोक्यो के दक्षिण पश्चिम में स्थित। पर्यटन की दृष्टि से भी यह एक प्रमुख पर्यटक स्थल है। माउंट फूजी की ऊंचाई लगभग 776 मीटर है। जापानी लोगों का मानना है कि माउंट फुजि एक ही दिन में बन गया था। लगभग 10,000 साल पहले यह एक पुराने ज्वालामुखी के शिखर पर बना था। एक प्रकार से कहा जाए तो माउंट फुजि का जापान की राष्ट्रीय अस्मिता को लेकर बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राचीन समय से ही जापानी कवि इसे अपनी कविताओं में स्थान देते रहे हैं। इसके अतिरिक्त सक्रिय ज्वालामुखियों में माउंट एसो, माउंट अनजेन, इत्यादि हैं। झीलों के मामले में भी जापान को बहुत समृद्ध कहा जा सकता है। जापान की बिवा झील को सबसे बड़ी एवं सबसे पुरानी झील माना जाता है जो लगभग 5 मिलियन वर्ष पुरानी है। यह शिगा प्रीफेक्चर में स्थित है जो कि करीब 259 वर्ग मील क्षेत्र को कवर करती है। इसके पश्चात सबसे प्रसिद्ध कावागुची झील है। यह

माउंट फुजि पर स्थित है। जब मौसम बहुत अच्छा होता है तो इस झील में माउंट फुजि का प्रतिबिंब दिखाई देता है जो इसकी खूबसूरती को बढ़ा देता है। कावागुची झील के अतिरिक्त पूरे जापान में ऐसी बहुत सी खूबसूरत और अद्भुत झीलें हैं जिन्हें विदेशी पर्यटक ही नहीं जापानी लोग भी बार-बार देखने जाते हैं। खूबसूरत झीलों के साथ-साथ नदियां और गरम पानी के सोते भी हैं। ज्वालामुखी पहाड़ों की अधिकता के कारण पूरे जापान में गर्म पानी के सोते बहुत सारे देखे जा सकते हैं। प्रत्येक ज्वालामुखी पहाड़ के निकट अनिवार्य रूप से एक गरम झील आप आसानी से देख सकते हैं। गंधक के कारण यह पानी गर्म होता है। ऐसा माना जाता है कि गंधक का पानी स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही लाभदायक होता है। जापान के अधिकांश शहरों में गर्म पानी के सोते होते हैं और वहाँ पर पर्यटकों के रहने के लिए गेस्ट हाउस भी होते हैं। यदि आप कभी जापान आए तो इस गर्म पानी के सोते पर जरूर जाएं। यहाँ बहुत सी नदियां हैं लेकिन भारत की तरह नदियां बहुत विशाल और बड़ी नहीं होती। नदियों पर जापान ने बहुत बड़े-बड़े बांध बना लिए जिनसे वह अपने लिए बिजली पैदा करते हैं।

जापान में भूकंप का आना भी एक सामान्य घटना है। मेरे खुद के जापान में प्रवास के समय मैंने भी अक्सर भूकंप के कंपन को झेला है। कभी-कभी तो ये बहुत ही धीमे होते हैं कि बिल्कुल भी एहसास नहीं होता। लेकिन कभी-कभी इनकी गति इतनी तीव्र होती थी कि मैं सहम जाता था। लेकिन ऐसी बहुत सी प्राकृतिक आपदाओं से मुकाबला करते हुए जापानियों ने इसके समाधान भी खोज निकाले हैं। कहते हैं न कि जो सामना करता है समाधान तक वही पहुंचता है। भारत में बैठकर हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि जापान में बहुत सी ऊंची ऊंची इमारतें हैं। अगर कभी आप टोक्यो में आएंगे तो गगनचुंबी इमारतें देखकर हैरान रह जाएंगे। भूकंप के बारे में बताते हुए जापानी विशेषज्ञ प्रोफेसर सुरेश ऋतुपर्ण लिखते हैं—“टेक्नोटिक प्लेट्स के जोड़ पर स्थित होने के कारण जापान में निरंतर छोटे बड़े भूकंप आते रहते हैं, इन भूकंप में सन 1923 में टोक्यो में और 1995 ईस्टी में कोबे में आए भूकंप ने बड़ी तबाही मचाई थी। लेकिन कुछ वर्ष पूर्व 11 मार्च, 2011 को तोहोकू क्षेत्र में आए भीषण भूकंप और तदुपरांत आई तस्वीरामी की विशालकाय लहरों ने कई नगरों में रहने वाले हजारों लोगों को लील लिया था तथा कई उप-नगरों को भी पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया था।”⁷ हालांकि जापानियों ने इन भूकंप के साथ जीना सीख लिया

है लेकिन यह प्राकृतिक आपदा कभी कोई भीषण रूप न ले ले ऐसी आशंका तो बनी ही रहती है। मौसम के हिसाब से जापान में भी भारत की तरह चार ऋतुएँ होती हैं। बसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरद। दिसंबर से फरवरी तक मौसम बेहद सर्द रहता है। मार्च से मई तक का मौसम बहुत बढ़िया है। जून और जुलाई में वर्षा ऋतु की कृपा बनी रहती है। भारत की तरह ही अगस्त सितंबर में उमस भरी गर्मी हो जाती है। हालांकि, जापान में बारिश कभी भी हो सकती है इसलिए यहाँ के लोग सुबह के मौसम की भविष्याणी को देखकर ही घर से निकलते हैं। सामान्यतः प्रत्येक जापानी के बैग में एक छाता होता है।

जापानी समाज को लेकर भी बेहद दिलचस्प जानकारियाँ हमारे सामने आती हैं। ऐसा माना जाता है कि जापानी लोग बेहद शांतिप्रिय, सरल, विनम्र, अनुशासित और मेहनती होते हैं। यह बातें सही भी हैं। समय को लेकर जापानी लोग बेहद अनुशासित होते हैं। बस एवं ट्रेन का समय पूर्वनिर्धारित होता है। आप चाहें तो उनके समय से अपनी घड़ी के समय का मिलान कर सकते हैं। धर्म को लेकर जापानी कठूर नहीं हैं। उनका प्राचीन धर्म शिंटो है। छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म जापान पहुँचा था। बौद्ध धर्म के वहाँ पहुँचने के बाद शिंटो और बौद्ध धर्म के अनुयायियों में कोई झगड़ा हुआ हो इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते। जापानियों के घर में शिंटो और बौद्ध के एक साथ पूजा के साक्ष्य देखे जा सकते हैं। जापानियों का मुख्य भोजन मांसाहार है। वे सूअर, गाय, भेड़, मुर्गे और समुद्री भोजन पसंद करते हैं। चावलों की मिठाई खाते हैं। कम मसालेदार और कम तैलीय भोजन करते हैं। शायद यही इनके पूरे विश्व में सबसे अधिक जीवित रहने का राज है। दूध वाली चाय के स्थान पर ग्रीन चाय पीते हैं। भारत की तरह ही यहाँ की सामाजिक संरचना दिखाई देती है जिसे आप जाति व्यवस्था कह सकते हैं। बुराकुमिन या बुराकू यहाँ का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह है जिसे आप दलित या अछूत के रूप में चिन्हित कर सकते हैं। अपने पारंपरिक व्यवसाय के कारण इन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। पहले इनके रहने के स्थान भी भारत के अल्पसंख्यकों की तरह अलग होते थे। पारंपरिक कामधंधों में ये चमड़े का कार्य, कसाई का कार्य, नाचने गाने का कार्य, भीख मांगने का कार्य करते थे। लेकिन कानून बनाकर और इनकी उन्नति के लिए योजनाएं बनाकर जापानी सरकार द्वारा बहुत कार्य किए गए जिसके कारण अभी बुराकुमिन की पहचान मुश्किल है। एक अनुमान के अनुसार लगभग तीस लाख बुराकुमिन अभी

भी जापान में मौजूद हैं। जापान में कुछ शताब्दियों पूर्व तक समाज वर्गों में विभाजित था। 1. समुराई (योद्धा, या क्षत्रिय) 2. किसान 3. व्यापारी 4. बुराकुमिन। लेकिन एक कानून बना कर इस वर्गकरण को समाप्त कर दिया गया। अब यह वर्गकरण जापानी समाज में हमें कहाँ भी दिखाई नहीं देगा। शिक्षा के क्षेत्र में जापान बहुत आगे है। जापानी अपनी भाषा पर गर्व करते हैं। सभी कार्य अपनी भाषा में ही करते हैं। अंग्रेजी न आने पर न तो उनमें हीनताबोध होता है और न ही वे शर्म महसूस करते हैं जैसे भारत में अंग्रेजी न आने पर होता है। अगर आप जापान आना चाहते हैं तो आप को थोड़ा बहुत जापानी भाषा का ज्ञान होना चाहिए। बहुत काम लोगों को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान है। एक विदेशी के लिए जापान में रहना मुश्किल है। इस प्रकार इस शोध आलेख के माध्यम से हम जापान के इतिहास और समाज को थोड़ा बहुत समझ सकते हैं। जापान के बारे में हिन्दी में शोध करना बहुत मुश्किल है क्योंकि अधिकांश अध्ययन सामग्री जापानी भाषा में ही उपलब्ध है।

संदर्भ

1. शयामू सन्न्यासी, जापान, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1958, पृ. 16
2. वही, पृ. 18
3. डॉ सुरेश ऋतुपर्ण, जापान में हिन्दी शिक्षण की परंपरा, गौरव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 23
4. वही, पृ. 33
5. शयामू सन्न्यासी, जापान, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1958, पृ. 9
6. वही, पृ. 9
7. डॉ सुरेश ऋतुपर्ण, जापान में हिन्दी शिक्षण की परंपरा, गौरव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 15
8. टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज भारत-पाकिस्तान विभाग स्नातक समाज द्वारा, जापानी पुस्तक सूत्रियों का संग्रह से साभार (अनुवाद, प्रो. कयोसुके आदाचि)
9. टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज भारत-पाकिस्तान विभाग स्नातक समाज द्वारा, जापानी पुस्तक सूत्रियों का संग्रह से साभार (अनुवाद, प्रो. कयोसुके आदाचि)

—डॉ सूरज प्रकाश बड़त्या
विजिटिंग एसोशिएट प्रोफेसर
टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज, टोक्यो
जापान
badtiya.suraj@gmail.com
parkashsuraj@tufs.ac.jp

ब्रिटिश शासन एवं क्रान्तिकारी संघर्ष में कानपुर की भूमिका

—आभिषेक सचान
—डॉ. आर. के. बिजेता

1857 की क्रान्ति में कानपुर में नाना साहब ने विद्रोह का नेतृत्व किया। नाना साहब के मंत्री अजीमुल्ला खाँ ने कानपुर के लोगों को आगाह करते हुए कहा—‘हम हैं इसके मालिक हिंदुस्तान हमारा/ पाक वतन है कौम का जन्त से भी न्यारा/ ये हैं हमारी मिल्कियत, हिंदुस्तान हमारा/ इसकी रुहानियत से रोशन है जग सारा’

अंग्रेजों ने कानपुर में विद्रोह का वीभत्स रूप से दमन किया। कानपुर में पूर्ण रूप से अधिकार हो जाने के पश्चात अंग्रेजों ने यहाँ कानून व्यवस्था की पुनः बहाली की। यहाँ की सैन्य छावनी को अधिक विकसित किया। इस क्षेत्र को एक औद्योगिक क्षेत्र में विकसित किया। कई बड़ी-बड़ी सूती वस्त्र की मिलों की स्थापना की। सर्वप्रथम सन् 1861 में एलिंगन काटन एण्ड स्पिनिंग कम्पनी लिमिटेड के नाम से मिल की स्थापना की गयी। इसके पश्चात कानपुर में अनेक उद्योग धन्धों की स्थापना हुई और कानपुर ब्रिटिश काल में उत्तर भारत के मैनचेस्टर के रूप में विकसित हुआ। कानपुर की आबादी निरन्तर बढ़ने लगी जिसके साथ ही कानपुर एक राजनीतिक केंद्र के तौर पर उभरने लगा।

कानपुर की सिटी कॉर्पस कमेटी पर नरमदल का नियंत्रण रहा। पण्डित पृथ्वी नाथ चक के बाद इसके अध्यक्ष बने राय देवी प्रसाद पूर्ण। किन्तु गरमदल के कार्यकर्ता के रूप में गोपनीय रूप से कार्य करते रहे। नारायण प्रसाद अरोड़ा, शिव नारायण मिश्र तथा यशोदानन्दन शुक्ल के प्रयास से सन् 1913 में प्रताप समाचार पत्र का सप्ताहिक प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्ण कालिक सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी बने। 1913 में गणेश जी प्रताप से ऐसा जुड़े कि वो उनके जीवन का अंग बन गया। प्रताप की कहानी गणेश जी की कहानी बन गई। डा. जवाहर लाल रोहतगी और डा. मुरारीलाल रोहतगी ने कानपुर में अपना अस्पताल खोला। दोनों रोहतगी बन्धुओं ने कानपुर की सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों में दिलचस्पी ली और कॉर्पस पार्टी से जुड़ गये। कानपुर का पहला विद्यार्थी आंदोलन राजकीय स्कूल के हेड मास्टर जे. एन. होल्ट के दुर्घटवहार के विरुद्ध 1914 में हुआ। 26 दिसंबर, 1916 को कॉर्पस का ऐतिहासिक महासम्मेलन लखनऊ में हुआ। नौवर्षी के पश्चात नरम दल और गरम दल दोनों इस सम्मेलन में शामिल हुए। इस सम्मेलन में गांधी जी भी उपस्थित रहे। इस सम्मेलन में तिलक भी इसमें शामिल हुए। लखनऊ से लौटते समय

लोकमान्य तिलक भी कानपुर पधारे। ब्रिटिश प्रशासन के डर से कोई भी उनकी सभा कानपुर में आयोजित कराने का साहस नहीं कर पा रहा था। अंत में पंडित विश्वम्भर नाथ शुक्ला जो राजकीय स्कूल के हेडमास्टर थे, उन्होंने प्रशासन को चुनौती देते हुए एक सभा का आयोजन कर दिखाया। उनकी अध्यक्षता में परेड मैदान पर एक सभा आयोजित की गई जिसमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने एक प्रभावपूर्ण भाषण दिया। इसके पूर्व प्रशासन के भय के कारण तिलक की अगवानी के लिए रेलवे स्टेशन पर कानपुर से केवल दो ही व्यक्ति नारायण प्रसाद अरोड़ा और गणेश शंकर विद्यार्थी पहुंचे। लखनऊ सम्मेलन के बाद महात्मा गांधी कानपुर आए। गणेश शंकर विद्यार्थी के आतिथ्य में वे 'फीलखाना' के 'प्रताप प्रेस' में ठहरे तथा कांग्रेस कार्यकर्ताओं से मिले। उन्होंने मुरारीलाल रोहतगी को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे स्वतंत्रता आंदोलन में युवाओं का नेतृत्व करें, शीघ्र ही डॉक्टर मुरारीलाल नगर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। 6 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियांवाला बाग में सेकड़ों लोगों की हत्या की गई जिससे पूरे देश की राजनीति में भूचाल आ गया। इस हत्या के विरोध में पूरे देश में आम हड्डताल हुई जो 13 अप्रैल, तक चली। कानपुर में भी इस हड्डताल में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया गया। खुर्द महल पार्क जिसे वर्तमान में श्रद्धानन्द पार्क के नाम से जाना जाता है, वहां पर विरोध सभाएं आयोजित की गईं। इन सभाओं में हजारों लोग सम्मिलित हुए। इन सभाओं ने कानपुर में एक नई राजनीतिक चेतना जागृत की जो 1857 की क्रांति के बाद पहली बार ऐसा हुआ था। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की भाँति बीसवीं शताब्दी में भी कानपुर क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र रहा। राम प्रसाद बिस्मिल, चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह जैसे क्रांतिकारियों ने अपने अभियान को आगे बढ़ाने के लिए कानपुर को चुना। कानपुर को वौद्धिक रूप से क्रान्ति के पथ पर जिन बुद्धिजीवियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया उनमें प्रमुख थे नारायण प्रसाद अरोड़ा, गणेश शंकर विद्यार्थी, राधा मोहन गोकुल, तथा सत्य भक्त। 1905 में बंगाल विभाजन की घोषणा ने पूरे देश में राजनीतिक तूफान खड़ा कर दिया। इसके पश्चात 1908 में लाला हरदयाल ने कानपुर की यात्रा की तथा क्रांतिकारियों को संगठित होने का आवाहन किया।

अमेरिका में 1911 में गदर पार्टी की स्थापना हुई। नवम्बर 1913 में हिन्दुस्तानी देशभक्तों ने गदर नाम से अखबार का प्रकाशन शुरू किया। गोपनीय रूप से यह पत्रिका नारायण प्रसाद अरोड़ा के पास पहुंचने लगी। सन

1912 में दिल्ली में भारत के वायसराय पर बम फैंका गया। इस घटना के दिन पूरे भारत और कानपुर में भी एक पर्चा बांटा गया। गदर पत्रिका युवक युवकों में बहुत लोकप्रिय हुई। इस संबंध में 1913 में नारायण प्रसाद अरोड़ा तथा गणेश शंकर विद्यार्थी के घरों की तलाशी ली गई। इसी प्रकरण में गिरजानन्द को 17 दिन जेल में बिताने पड़े। इन दिनों सेना से संपर्क करने के लिए क्रांतिकारी करतार सिंह सराभा तथा गणेश शंकर विद्यार्थी के घर ठहरे। अपनी योजना के असफल हो जाने के बावजूद पिंगले फौजियों से संपर्क करने एक बार फिर कानपुर आए। इस बार उनके पास एक बक्सा था जिसमें बम भरे हुए थे। इस बार भी वे अरोड़ा जी के घर ही ठहरे। वह सेना से संपर्क करते समय मेरठ में गिरफ्तार हो गए। कानपुर की छावनी में देसी बटालियन पर छापे में कुछ बम और डायनामाइट पकड़े गए। इस आरोप पर चार सैनिकों को गोली मार दी गई। कानपुर के प्रसिद्ध नेता नारायण प्रसाद अरोड़ा कानपुर के क्रांतिकारी आंदोलन के जनक माने जाते हैं। 1960 में लाला हरदयाल 22 दिन तक कानपुर में ठहरे। नारायण प्रसाद अरोड़ा उनसे बहुत प्रभावित थे। अपने संस्मरण में लिखते हैं कि नौजवानों की एक ऐसी सेना तैयार हो चली है जो तिलक की नीतियों को मानने वाली और सशस्त्र क्रांति की समर्थक थी। इस टोली के सदस्य कोई प्रभावशाली व्यक्ति नहीं परंतु वे अपने विश्वास में अटल थे। उन्होंने गुप्त रूप से सभाएं करके अपना प्रचार प्रसार आरंभ किया। गदर पार्टी का पत्र 'तलवार' भी कानपुर आने लगा।

सत्य भक्त अपनी पुस्तक 'क्रांति पथ के पथिक' में लिखते हैं, जब इस क्रांतिकारी आंदोलन का जोर काफी बढ़ गया तो सन् 1913 में एक दिन नारायण प्रसाद अरोड़ा और गणेश शंकर विद्यार्थी के मकानों की तलाशी एक ही समय में ली गई। यह तलाशी विदेशों से आने वाले क्रांतिकारी साहित्य के लिए ली गई थी। नारायण प्रसाद अरोड़ा के घर ऐसा साहित्य बहुत सा था परंतु उनकी पत्नी श्रीमती कृष्णा देवी ने उसे अपने बिस्तर के नीचे छिपा दिया और स्वयं बीमार होने का बहाना करके उस पर लेट गयीं। इस तरह नारायण प्रसाद अरोड़ा जेल जाने से बच गए। किंतु कानपुर में इस घटना से एक सनसनी फैल गई और कई दिनों तक इसकी चर्चा होती रही।

सन् 1908 के पश्चात जिन क्रांतिकारियों ने क्रांति को आगे बढ़ाया उनमें मन्नीलाल अवस्थी भी प्रमुख थे। 11 अगस्त, 1908 को खुदीराम बोस को फांसी सजा दी गई। मन्नीलाल अवस्थी इसी सजा से प्रेरित होकर क्रांतिकारी

बने। अवस्थी ने क्रांतिकारी भावनाओं को फैलाने के लिए नवयुवकों का एक समूह बनाया। यह सभी लोग 'क्राइस्टचर्च कॉलेज' के पीछे मिलते थे। अवस्थी सभी को 'गदर' पत्रिका पढ़ कर सुनाते थे। कोर्ट आफ वार्ड के कर्मचारी 'मुजतबा हुसैन' ने सरकारी खजाने में गबन किया और यह गबन की राशि क्रांतिकारी दल को सौंप दिया। इस धन से 1921 में हथियार मंगाने का कार्य किया गया बाद में मुजतबा गिरफ्तार हो गए। 1917 की रूस की सर्वहारा क्रांति ने भारत में क्रांतिकारियों पर गहरा प्रभाव डाला। कानपुर में भी मार्क्स और लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का प्रसार राधामोहन गोकुल ने किया। पहले उनका संबंध बंगाल की क्रांतिकारी दल अनुशोलन समिति से था। अनुशोलन समिति के भंग होने पर उन्होंने क्रांतिकारी विचार फैलाने के लिए कानपुर को अपना मुख्यालय बनाया। वह कानपुर के पटकापुर में रहने लगे और नारायण प्रसाद अरोड़ा के संपर्क में आए। शचिंद्र नाथ सान्याल ने नारायण प्रसाद अरोड़ा के पटकापुर मकान में रहकर राधा मोहन गोकुल के साथ साम्यवादी साहित्य का अध्ययन किया। शचिंद्र सान्याल ने राधामोहन गोकुल से विचार-विमर्श कर नए क्रांतिकारी दल की रूपरेखा बनाई। सत्य भक्त राधामोहन के प्रधान शिष्य थे। वर्ष 1924 में कानपुर साम्यवादी गतिविधियों का प्रमुख केंद्र बन गया।

फरवरी 1924 में भारत सरकार ने कानपुर के मजिस्ट्रेट अदालत में मुकदमा दायर किया। यह मुकदमा कानपुर पठ्यंत्र केस के नाम से जाना जाता है। इसमें आठ लोगों को अभियुक्त बनाया गया। मुकदमे के फैसले में चार लोगों को 4 वर्ष की सजा हुई। परंतु फैसले में मजिस्ट्रेट ने लिखा कि हम साम्यवाद के सिद्धांत के प्रचार को अपराध नहीं मानते, सजा तो इसलिए दी जा रही है कि उन्होंने ब्रिटेन के विरुद्ध पठ्यंत्र रखा है। सत्यभक्त के मन में भारत में साम्यवादी दल की स्थापना का विचार आया। उनके प्रयास से 28 दिसंबर, 1925 को कानपुर में एक ऐतिहासिक कम्युनिस्ट कान्फ्रेंस का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता सिंगार वेलूचिट्टीयार ने की। इसी सम्मेलन में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया का गठन किया गया। सत्यभक्त कानपुर के पटकापुर मोहल्ले के बिरहाना रोड में रहने लगे। साम्यवाद का प्रचार प्रसार उनका मुख्य उद्देश्य था, वह साम्यवादी पुस्तकों में बेचते थे। उन्होंने अपने ही कमरे के पते पर 'सोशलिस्ट बुक्स शॉप' नाम से कार्यालय खोला। सत्य भक्त साम्यवादी क्रांति के सिद्धांतों के प्रचार में विश्वास रखते थे। साम्यवादी पुस्तकों की विक्रय के कारण उनके निवास पर क्रांतिकारियों का आना जाना लगा रहता था,

यहां तक कि कानपुर निवास के दौरान भगत सिंह ने उनसे रूस की राज्य क्रांति का इतिहास नामक पुस्तक उनसे खरीदी। शचिंद्र सान्याल ने क्रांतिकारी दल में साम्यवाद के सिद्धांतों को लागू करने और जहां तक हो सके उनके अनुकूल बातों का आचरण करने पर बल दिया। भविष्य में भगत सिंह ने क्रांतिकारी दल का आदर्श ही साम्यवाद घोषित कर दिया और उन्होंने अपने दल के नाम में सोशलिस्ट शब्द जोड़कर हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी कर दिया।

शचिंद्र सान्याल की लगन और प्रयास से संयुक्त प्रांत में हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन की स्थापना हुई। इसका स्वरूप और विधान निर्माण हेतु इसकी प्रथम बैठक कानपुर में हुई आयोजित हुई। इसका विधान पत्र पीले कागज में छपा अतः क्रांतिकारियों ने इसे 'यलो पेपर' का नाम दिया। इसकी प्रांतीय कमेटी की कई बैठकें सुरेश चंद्र भट्टाचार्य के घर पर हुई जिसमें शचीन्द्र सान्याल, रामप्रसाद बिस्मिल, योगेश चंद्र चटर्जी, शिवचरण लाल शर्मा, शचीन्द्र नाथ बक्शी, वीरभद्र तिवारी और राजेंद्र लाहिड़ी शामिल हुए। इस दल की ब्रिटेन के रूप में रिवॉल्यूशनरी नामक पर्चा भी कई बार प्रकाशित हुआ। 1930 के पश्चात योगेश चंद्र चटर्जी कानपुर में स्थाई रूप से रहने लगे। शचीन्द्र सान्याल इस दल का गठन करके आगे चले गए। अब दल को संगठित एवं आगे बढ़ाने का कार्य योगेश चटर्जी ने किया। वह मूल रूप से बनारस के रहने वाले थे। 1925 तक बटुकेश्वर दत्त और अजय घोष भी क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हो चुके थे। सन् 1925 में जिन अन्य क्रांतिकारियों का आगमन कानपुर में हुआ, उनमें मन्मथ नाथ गुप्त, जयचंद्र विद्यालंकर तथा चंद्रशेखर आजाद प्रमुख थे। क्रांतिकारी दल में जिन लोगों ने सक्रिय भूमिका निभाई उनमें वीरभद्र तिवारी भी थे परंतु वह गद्वार सिद्ध हुए। आर्य समाज हॉल मेस्टन रोड के समीप उनके घर में सी. आई. डी. इंस्पेक्टर शम्भूनाथ भी रहता था। दोनों में अच्छी मित्रता थी। वीरभद्र दो-तरफा जासूस बन गया। कानपुर के क्रांतिकारी आंदोलन में एक परिवार ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। वह परिवार था मारकड़े दास बाबू का। उनके दो पुत्र थे राजकुमार सिन्हा और विजय कुमार सिन्हा। इन दोनों ने भी क्रांतिकारी आंदोलन में सहयोग किया, राजकुमार सिन्हा को योगेश चंद्र चटर्जी ने क्रांतिकारी दल का सदस्य बनाया। 1925 के काकोरी केस में वे पकड़े गए। विजय कुमार अपने मित्र अजय घोष के साथ सुरेश चंद्र भट्टाचार्य के घर जाने लगी। इन दिनों भगत सिंह कानपुर में रहते थे विजय कुमार की उनसे बड़े ही घनिष्ठ संबंध थे।

दल को सक्रिय रहने के लिए हथियार खरीदने के लिए धन की आवश्यकता थी। लखनऊ के पास काकोरी में ट्रेन से जाते हुए सरकारी खजाने को लूटने की योजना कानपुर में बनी। 9 अगस्त, 1925 को क्रांतिकारियों ने राम प्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में शाहजहाँपुर से ट्रेन द्वारा लखनऊ आ रहे सरकारी खजाने को लूट लिया गया। खजाने और क्रांतिकारियों की तलाश में पुलिस ने कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद अनेक स्थानों पर छापेमारी की। इससे कानपुर वासी भड़क गए और आनंदोलित हो गए। 10 अगस्त को पुलिस ने प्रेस में ताला डाल दिया और गणेश शंकर विद्यार्थी को गिरफ्तार कर लिया। 11 अगस्त को दुर्गा भाभी, सुरेंद्र नाथ पांडे, गजानंद सदाशिव पोद्दार ने भेष बदलकर लूटा हुआ खजाना लेकर कानपुर आ गए। यहाँ यह लोग नाम बदलकर बिरहाना रोड कानपुर होटल में रुके। इसके पश्चात चंद्रशेखर आजाद भी फरार हो गए। पुलिस ने उनके क्रांतिकारी साथी हरिराम शर्मा को गिरफ्तार कर लिया। 11 अगस्त को गुस्साए लोगों ने 'प्रताप प्रेस' का ताला तोड़ दिया। लोगों के गुस्से को देखते ही प्रशासन ने रात में ही गणेश शंकर विद्यार्थी को रिहा कर दिया। 12 अगस्त को प्रताप में छपा कि काकोरी काण्ड एक व्यक्ति नहीं बल्कि देश भक्तों द्वारा लूटा गया पैसा है, जो क्रांतिकारी वापस लाने का प्रयास कर रहे थे। चंद्र शेखर आजाद लखनऊ से कानपुर के लिए रवाना हुए। वे जानते थे कि कानपुर रेलवे स्टेशन पर पुलिस उन्हें गिरफ्तार कर लेगी। अपनी सूझबूझ का परिचय देते हुए आजाद कानपुर के पहले गंगा पार स्टेशन पर उतर गये जिससे वह गिरफ्तार होने से बच गये।

वह पटकापुर में नारायण प्रसाद अरोड़ा के घर पर ही रुक गए। अपना भेष बदल कर वह हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी के स्थानीय कार्यालय में गए जहाँ शिव वर्मा और सुरेंद्र नाथ पांडे उन्हें पहचान नहीं सके। पहचानने के पश्चात तीनों लोग कानपुर होटल गए जहाँ दुर्गा भाभी और गणेश शंकर विद्यार्थी से मिले। सीआईडी ने उन पर 30000 का इनाम घोषित किया हुआ था। गंगा सहाय चौबे, कप्तान राम सिंह, रामचंद्र मुसद्दी, मुन्नी लाल अवस्थी और महावीर पांडे के मकानों में भी आजाद रुके। कानपुर के अनेकों क्रांतिकारियों ने काकोरी काण्ड में सम्मिलित होने के कारण जैसे सुरेंद्र नाथ भट्टाचार्य, राजकुमार सिन्हा,

रामदुलारे त्रिवेदी, सुरेश पांडे, सतगुरु दयाल अवस्थी के घरों में भी तलाशी ली गई। वीरभद्र तिवारी इसमें बच गए और पुलिस का साथ देने लगे। जिन क्रांतिकारियों को फांसी हुई थे—राजेंद्र लाहिड़ी, अशफाकउल्ला खाँ, रामप्रसाद बिस्मिल और रोशन सिंह थे। इन फाँसियों से क्रांतिकारियों की एक पीढ़ी का अन्त हो गया। राम प्रसाद बिस्मिल ने अपने अन्त समय कहा—

“अपना खूँ अपने ही हाथों से बहाना है हमें,
मादरे हिन्द को सर भेंट चढाना है हमें” //

सन्दर्भ

- शिशिर कर्मेन्दु, (2008), 1857 की राजक्रान्ति विचार और विश्लेषण, दिल्ली : अमरिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स, पृ. 167
- अरोड़ा नारायण प्रसाद और त्रिपाठी लक्ष्मीकान्त, (2005), कानपुर का इतिहास भाग 2, कानपुर, कानपुर इतिहास समिति, पृ. 21
- मुक्त डा. अरविन्द अरोड़ा, (2014), कानपुर का संक्षिप्त इतिहास, कानपुर, कानपुर इतिहास समिति, पृ. 25
- मुक्त डा. अरविन्द अरोड़ा, (2004), बीसवीं सदी के कानपुर के प्रसिद्ध पुरुष एवं महिलाएं, कानपुर, कनपुर इतिहास समिति, पृ. 3
- मुक्त डा. अरविन्द अरोड़ा, (2004), बीसवीं सदी के कानपुर के प्रसिद्ध पुरुष एवं महिलाएं, कानपुर, कनपुर इतिहास समिति, पृ. 8
- गोयल शिवकुमार, (2011), क्रांतिकारी आन्दोलन, दिल्ली, हिन्दी साहित्य सदन, पृ. 103
- गोयल शिवकुमार, (2011), क्रांतिकारी आन्दोलन, दिल्ली, हिन्दी साहित्य सदन, पृ. 67

—अभिषेक सचान
शोधार्थी, इतिहास विभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक (म.प्र.)

—डॉ. आर. के. विजेता
सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक (म.प्र.)

उच्च-शिक्षा में आदिवासी बालिकाओं की स्थिति : मध्यप्रदेश के विशेष संदर्भ में

—अनुज कुमार पाण्डेय
—डॉ . देवी प्रसाद सिंह

जनजाति शब्द प्रायः भारत के आदिवासियों के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला एक वैधानिक शब्द है। आदिवासी दो शब्दों ‘आदि’ और ‘वासी’ से मिलकर बना है। इसका अर्थ ‘मूल निवासी’ है। संस्कृत ग्रंथों में इन्हें ‘अत्यिका’ एवं ‘वनवासी’ कहा जाता है। भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग आदिवासियों का है। मध्यप्रदेश की प्रमुख जनजातियों में जनसंख्या की दृष्टि से गोंड एवं भील सबसे बड़ी जनजातियाँ हैं। इनके बाद आने वाली जनजातियाँ बैगा, सहराया, हल्ल्या, भारिया एवं कोल हैं (बहेरा, 2014) चंदा समिति ने सन् 1960 में जनजातियों के लिए पांच मानक निर्धारित किये जिसमें भौगोलिक एकीकरण, विशिष्ट संस्कृति, पिछड़ा संकुचित स्वभाव आदि लक्षण शामिल हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज रहा है एवं भारत की आधी आबादी के प्रति समाज का उपेक्षित व्यवहार रहा है। वर्तमान में भी महिलाओं के विकास हेतु आवश्यक कदम नहीं उठाये जा रहे हैं। इसका मुख्य कारण प्रत्येक क्षेत्र में उनकी सहभागिता का स्तर आज भी बहुत कम है।

शिक्षा ही वह शस्त्र है जिससे समाज का सभी अंग अपनी पूरी सहभागिता के साथ कार्य कर सकता है। गांधी जी ने शिक्षा टिप्पड़ी करते हुए कहा है कि वास्तव में लोगों को शिक्षा की सत्यता का पता ही नहीं, शिक्षा का मूल्यांकन भौतिक सफलता प्राप्त करना नहीं बल्कि अपने में इसी वास्तविक शिक्षा की समझ विकसित करना होगा। (गांधी, 1909) सम्पूर्ण विश्व शिक्षा की आर्थिक सुलभ और किफायती बनाने की दिशा में लगातार प्रगति कर रहा है। परन्तु जिस प्रकार की असमानता समाज में विद्यमान है, इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होगा। किसी भी देश या राज्यों की पहली प्राथमिकता वंचितों को शिक्षा प्राप्त कराना होना चाहिए। यदि सरकार अनुसूचित जनजाति समूह के बच्चों को शिक्षा की मुख्य धारा में लाने का प्रयास करती है तो यही बच्चे बदले में समाज को आर्थिक विकास तथा समृद्धि के रूप में वापस करेंगे। (सुजाता, 1984)

अधिकांश आदिवासी महिलाएं अपने घरों से बाहर काम करती हैं और विभिन्न गतिविधियों में लगी रहती हैं। वे अपने परिवार के लिए पैसा कमाने के लिए काम करते हैं। महिलाओं के काम में दैनिक श्रम के रूप में शामिल है, कृषि कार्य। यहां तक कि छोटे बच्चे और लड़कियां भी अपनी मां के साथ काम पर जाते हैं। जब वे नियमित रूप से स्कूल नहीं जाते या स्कूल से ड्रॉप आउट हो जाते हैं। यहां तक कि माता-पिता में भी बहुत गरीब परिवार हमेशा बच्चों को स्कूल नहीं भेजना चाहते क्योंकि तब उनकी मदद होती है काम में हाथ कम होंगे। अधिकांश आदिवासियों में पितृसत्ता का प्रभाव दृढ़ता से देखा जा सकता है। समूह और इसलिए महिलाओं को अपने काम से जो भी पैसा मिलता है, वे अपने पति को दे देती हैं और पति अक्सर शराब पीने जैसी गतिविधियों पर पैसा खर्च करता है। घरेलू काम परिवार की महिला सदस्य द्वारा किया जाता है। विद्यालय में प्राथमिक स्तर पर पढ़ने वाली युवतियां स्कूल में शायद ही कुछ सीखते हैं और वे घर पर भी नहीं पढ़ते हैं। सरकार ने 14 साल तक के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा देने की घोषणा की, जो आजकल माता-पिता अपने बच्चों को इस उम्मीद के साथ स्कूल भेजने के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि यदि उनके बच्चे उचित शिक्षा प्राप्त करें, तो उनकी स्थिति में सुधार होगा। बच्चों को स्कूल दिया जाता है मुफ्त यूनिफॉर्म, किताबें और मिड डे मील। हालांकि, लड़कियां लगातार स्कूल नहीं जाती हैं। कभी स्कूल जाती हैं, कभी स्कूल नहीं जाती। अपनी माताओं के साथ काम करना और घर के काम में अपनी माताओं की मदद करना। नतीजतन, स्कूल में उन्होंने जो सीखा होता है वे भूल जाते हैं। बातिका के किशोर होने के बाद माता-पिता उन्हें स्कूल नहीं भेजते। (चटर्जी, 2014)

शिक्षकों की कमी की समस्या स्कूलों में विकराल हो गई है। आदिवासी स्कूलों में कुशल, प्रतिबद्ध और लिंग संवेदनशील शिक्षक (काल्डर और हुडा, 2013) बहुत कम हैं। आदिवासी क्षेत्रों में शैक्षिक उपलब्धि में शिक्षकों की अनुपस्थिति एक प्रमुख समस्या है। अधिकांश शिक्षकों में जनजातीय मूल्य प्रणाली और भाषा के ज्ञान और प्रशंसा की कमी है। जो स्वीकृति प्राप्त करने में विफलता की ओर जाता है और आदिवासियों के साथ संचार लिंक स्थापित करता है। छात्र जो उन्हें शिक्षा से हटने के लिए मजबूर करते हैं। जनजातीय क्षेत्रों के अधिकांश स्कूल बुनियादी सुविधाओं के बिना हैं। उदाहरण के लिए बिजली और पानी, गैर-प्लास्टर फर्श, मासिक धर्म स्वच्छता प्रभाव से निपटने के लिए उचित स्वच्छता सुविधाओं की कमी लड़कियों

की उपस्थिति आदि की सामान्य विशेषता है। (काल्डर और हुडा, 2013) भाषा और संचार की समस्या आदिवासी लड़कियों की शैक्षिक प्राप्ति को धीमा कर देती है। (महाजन, 2012)। कई नीतिगत दस्तावेज और संवैधानिक प्रावधान मानते हैं कि भाषाई अल्पसंख्यकों को उनकी मातृभाषा में शिक्षित किया जाना चाहिए। प्राथमिक स्तर पर, अनुसूचित जनजाति की भाषाओं में व्यावहारिक रूप से कोई शिक्षा नहीं है। यह भी शामिल है, यहां तक कि संथाली, भीली, गोंडी या उरांव जैसे जो एक लाख से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती हैं। (नाम्बिसन, 2000) न्यूजीलैंड की माओरी जनजाति के अनुभवों के संदर्भ में स्वदेशी उच्च शिक्षा के बारे में किए अपने शोध कार्य का सारांश प्रस्तुत किया है। इस पत्र में माओरी जनजाति की उच्च शिक्षा हेतु 4 सिद्धांतों स्वदेशीयता, अकादमिक सफलता, भागीदारी एवं भविष्योन्मुखता के बारे में चर्चा की गई है। लेख में माओरी जनजाति के लिए अनेक शैक्षिक अवसरों यथा राष्ट्रीय नीतियों, शैक्षिक नीतियों कैम्पस नवा चारों एवं स्वदेशी नेतृत्व के बारे में भी बताया गया है। (ड्यूरी, 2005)

पश्चिमी मध्य प्रदेश के विशेष संदर्भ में भी लाला जनजाति की सामाजिक आर्थिक संरचना पर एक व्यक्ति अध्ययन किया। इन्होंने शोध निष्कर्ष में पाया कि जनजातियों के विभिन्न वर्गों में भिलाला वर्ग की भी महत्वपूर्ण भूमिका पाई गई है। यह जनजाति सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से भिन्न संस्कृतियों का समावेश संजोए हुए है। एकता और भाईचारे की मिसाल सामाजिक संगठनों के सामने प्रस्तुत करती है। निश्चित रूप से भिलाला वर्ग की समाज में महत्वपूर्ण भूमिका पाई गई है। (चौहान, 2006) भारत ने शैक्षिक व्यवस्था का प्रसार किया है परन्तु अनुसूचित जनजातियों की साक्षरता दर सदा चिंता का विषय रहा है। मध्यप्रदेश की अनुसूचित जनजातियों की साक्षरता दर 50.6 प्रतिशत है जो भारत की अनुसूचित जनजाति की साक्षरता दर 58.96 प्रतिशत से काफी कम है जो इसके सुधार हेतु सभी का ध्यान आकर्षित करती है। (भारत सरकार, 2021) वर्तमान में आदिवासियों के उत्थान हेतु सरकार ने बहुत सी योजनायें जारी की हैं क्योंकि उनकी उत्तम स्वास्थ्य अनुकूल वातावरण प्रदान करने तथा गरीबी अंधविश्वास को दूर करने के लिए लगातार प्रयास कर रही है। (महाराना और नायक 2017)

अनुसूचित जनजाति की बालिकाओं के विकास में आने वाली चुनौतियों पर समीक्षात्मक रूप से अध्ययन करने पर पता चलता है कि विशेष रूप से मध्यप्रदेश के कमजोर आदिवासी समूहों के बीच शिक्षा की पहुँच अत्यन्त

चुनौतिपूर्ण है इसका मुख्य कारण उनका सामासिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनैतिक, स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं से निरन्तर जूझते रहना हैं। इस शोध पत्र के द्वारा मध्यप्रदेश के अनुसूचित जनजाति की बालिकाओं की शिक्षा में आने वाली चुनौतियां की समीक्षा करना है और उन सभी बिन्दुओं को चिन्हित करना जिससे इस समस्या के निराकरण हेतु मार्ग प्रशस्त किया जा सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- प्रथान, एस. के. (2011) “वाण्टमस ऑफ ट्राइबल एजुकेशन इन इंडिया” कुरुक्षेत्र वाल्यूम 59, न. 7 पेज न. 26-31
- सिधी मिस. श्वेता (2012) प्रप्सपेक्ट्स एण्ड चैलेंजेज इन इम्पाउरमेंट ऑफ ट्राइबल वूमन, वाल्यूम, पेज न. 45-54
- निशा और अशोकन (2015) इम्पाउरमेंट आफ ट्राइबल वूमन थो लाइबलीहूड डबलेपरमेंट वाल्यूम 20 पेज न. 06-10
- अन्डरम्यालीफाइडटीचरसएजुकेशनटेक्सएकैकसीट <https://www.firstpost.com/india/tribal-schools-maharashtra-part-4-with-poor-infrastructure-underqualified-teaches-education-takes-a-backseat-3211072time> (से प्राप्त)
- टाटा ट्रस्टर (2020) : ट्राइबल एजुकेशन टाटा इंसटीयूट ऑफ सोशल साइंस tata trust (<https://www.tatatrust.org\owr-work\education\broadwing.acess\tribal-education> (से प्राप्त)
- hi.m.wikipedia.org\wiki\ आदिवासी (भारतीय) से प्राप्त
- निरगुणे बसंत (2005)-लोक संस्कृति मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पेज न. 76
- महात्मा, गांधी (1904) : इंडियन होम रुल फिजिक्स लेटल द इन्टरनेशनल प्रिंटिंग प्रेस <cen.wikipedia.org\wiki\hindwaj or-india-home-rule> से प्राप्त
- सुजाता के. (1984) एजुकेशन एमांग सिडीयूल ट्राइबल <http://www-doccentre.nit\docsweb\education\scanned-meterial\analysis\tribals.pdf> से प्राप्त
- GOI (2013) . स्टैटिस्टिकल प्रोफाइल ऑफ सीडियूल ट्राइबल इन इंडिया मिनिस्ट्री ऑफ ट्राइबल अफेयर स्टैटिस्टिकल डिवीजन गवरमेंट ऑफ इंडिया (<https://wwwtribal.nic.in>) statistical profilof sis 2013)
- वहेरा एम. (2014) स्टेटस एण्ड प्राव्लमस ऑफ एजुकेशनल स्वैरियो ऑफ पर्टिकुलरली वाल्यूनरेबल ट्राइबल गुप्त इन ओडिसा गवरमेंट इनीसीएटिव जनरल ऑफ इकोनामिक एण्ड सोशल डबलमेंट वाल्यूम 10 न. 1, जुलाई 2014
- राजेश्वर महाराजा और डॉ. जयन्त कुमार (2017) एजुकेशनल स्टेट्स एमांग द पर्टिकुलरली वाल्यूनरेबल ग्रुप्स ऑफ उडीसा इन्टरनेशनल जनरल ऑफ एपलाइड रिसर्च (2017)

अनुज कुमार पाण्डेय
शोधार्थी, शिक्षा विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक (म.प्र.)

डॉ . देवी प्रसाद सिंह
सहायक प्राध्यापक, शिक्षा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ.प्र.)

काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य : संवेदना और शिल्प

—कुमारी रेतू

नई कहानी और अकहानी की धूंध में 1960 से काशीनाथ सिंह ने लिखना प्रारम्भ किया। काशीनाथ की कहानियों में सामाजिक सरोकार व संदर्भ कहीं अधिक गहरे हैं। जहाँ अन्य लेखकों की कहानियों में शहरी मध्यवर्ग है, वहाँ काशीनाथ सिंह ने अपनी कहानियों में लोक चित्रण किया है। किन्तु उनमें लोक के प्रति कोरा रूमानीपन या भावुकता नहीं है। लोक में हो रहे परिवर्तनों, खंडित हो रहे लोक विश्वासों और उनके द्वन्द्व को काशीनाथ ने अपनी कहानियों में सशक्त रूप से व्यक्त किया। काशीनाथ सिंह ने नये-नये विषयों की साहित्य के क्षेत्र में समाविष्ट किया और नये रूप-विधान एवं नयी भाषा शैली का अविष्कार किया। काशीनाथ सिंह बिना किसी खेमेबन्दी के निरन्तर सुजनरत हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने समय के यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया। उनकी कहानियों में व्यवस्था द्वारा आप आदमी के शोषण, ग्रामीण व नगरीय मूल्यों की टकराहट, मानवीय मूल्यों का विघटन और मनुष्य का नैतिक पतन तथा गांवों के बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश के साथ सहज मानवीय संबंधों के निःशेष होते जाने की पीड़ा का बहुत ही मार्मिक व प्रभावी चित्रण किया गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि विचारधारा के अन्तर्वर्ती प्रवाह से आपकी कला कहीं भी आक्रान्त नहीं हुई है और आपका कहानीकार निरन्तर कलात्मक समृद्धि की ओर अग्रसर है।

काशीनाथ सिंह को जनवादी कहानी-आन्दोलन के दौरान उनकी 'सुधीर घोषाल' जैसी कहानी काफी चर्चित हुई। काशीनाथ सिंह का जन्म वाराणसी शहर से तीस-चालीस मील दूर पूर्व दिशा में जीयनपुर गांव में एक जनवरी 1937 ई. को एक निम्न मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री नागर सिंह था जो प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक थे। माता का नाम श्रीमती बागेश्वरी देवी था। इनके बड़े भाई नामवर सिंह व मंजले भाई रामजी सिंह हैं। जुलाई 1953 में पढ़ाई करने के लिए काशीनाथ सिंह जी बनारस आये। 1955 में इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद काशीनाथ जी ने अपनी स्नातक व पी-एच.डी. (1964) उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की तथा सन् 1965 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में 1991 में अध्यक्ष बने और कार्य करके 1997 ई. में सेवानिवृत्त हुए तथा मार्च 1998 ई. में गोवा विश्वविद्यालय में विजिटिंग फेलो के रूप में अपनी सेवायें प्रदान की।

काशीनाथ सिंह ने समाज में व्याप्त जकड़न को तोड़ने का कार्य किया। वह जो कहते हैं वही करने में विश्वास भी रखते हैं, इसलिए उनके चरित्र में दुर्हापन नहीं है। काशीनाथ जी सिद्धान्तों का लबादा देने वाले विद्वान नहीं है। अपितु व्यावहारिक रूप में समाज को देखकर अपनी समझ निर्मित करने वाले व्यक्ति हैं क्योंकि सिर्फ सिद्धान्तों से दुनिया नहीं चलती, दुनिया चल भी जाय तो जीवन नहीं चलता। काशीनाथ के व्यक्तित्व में खुलापन है इसलिए वह किसी पर परिदृष्टि की रौब जमाने की अपेक्षा खुलकर बात करते हैं, सामने वाले की बात को धैर्य से सुनते हैं।

काशीनाथ सिंह का व्यक्तित्व समाज में भोगे हुए अनुभव से निर्मित हुआ है। वास्तविक जीवन में दर्शक कोई नहीं होता सबको जिन्दगी में हिस्सा लेना पड़ता है। इसलिए उनका व्यक्तित्व व कृतित्व जिन्दगी के अनुभव से निर्मित हुआ है। वे मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रहे जिससे उनमें लोक के प्रति गहरी आसक्ति रही। काशीनाथ सिंह का व्यक्तित्व जितना विविधतापूर्ण है, उतना ही उनका कृतित्व भी। उनमें ‘सेन्स ऑफ व्यूमर’ और ‘विट’ (बुद्धि) का अद्भुत संयोग है जिसके कारण जीवन के जटिल रूपों को भी अपनी रचना में सहजता से रख देते हैं। उनमें जीवन के प्रति सहज आकर्षण है जिसके कारण सामान्य दिनचर्या में घटने वाली घटनायें और उनसे सम्बद्ध लोग भी उनकी रचना के विषय बने हैं। वे साम्यवादी, विचारधारा से जुड़े हुए हैं। वे अपनी रचना-धर्मिता के कारण स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गद्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सही कहा जाय तो उनका व्यक्तित्व व कृतित्व एक दूसरे के पूरक है।

काशीनाथ सिंह की पहली प्रकाशित कहानी है ‘संकट है’ जो ‘कृति’ पत्रिका में सितम्बर 1960 में प्रकाशित हुई। 1963 ई. में कल्पना में ‘आखिरी रात’ प्रकाशित हुई। 1964 ई. में कल्पना में ही चर्चित कहानी ‘सुख प्रकाशित’ हुई। आपकी कहानियाँ शुरू से ही ‘नई कहानी’ की प्रवृत्ति से अलग रही जो एक नयी प्रवृत्ति की तरफ ध्यान खींचती हैं। काशीनाथ सिंह व उनके समकालीन कहानीकार नई कहानी के रास्ते को छोड़कर अपने लिये नया रास्ता बना रहे थे, जिसमें दिधा व रोमांस से अपने आप को मुक्त करके नये यथार्थ का साक्षात्कार किया है। इसके विषय में काशीनाथ सिंह कहते हैं, “60 के दौर में मध्यवर्ग और पूँजीवाद का उदय हुआ था और उसका प्रभाव पड़ रहा था परिवार में” इसलिए वह चीजों को अपनी कहानियों में रखते हैं। 1968 में काशीनाथ सिंह को पहला कहानी संग्रह ‘तोग विस्तरों पर’ प्रकाशित हुआ। इसमें कहानीकार

ने मोहभंग से उपजे यथार्थ का चित्रण किया है। इनका दूसरा कहानी संग्रह “सुबह का डर” सन् 1975 ई. में प्रकाशित हुआ। इसी कहानी संग्रह की कहानियों से जनवादी कहानी की चर्चा आरम्भ हुई। ये कहानियाँ आदमी के विरुद्ध होने वाले घटयंत्र को दर्शाती हैं।

तीसरा कहानी संग्रह 1978 ई. में प्रकाशित हुआ, जिसमें आपातकालीन परिस्थितियों को लक्षित करके लिखी गयी कहानी ‘मीसा जातकम और जंगल जातकम’ विशेष सशक्त रही। ‘जंगल जातकम’ किसी नीतिकथा की तरह हमारे सामने सत्ता व समाज के आपसी ताने-बाने को खोलती है। इस कहानी में भ्रष्ट तथा एकाधिकारवादी सत्तातंत्र पर प्रहार किया गया है तथा सत्ता के विकृत रूप को भी दर्शाया गया है। जंगल जातकम के माध्यम से कहानीकार ने प्रकृति व प्राणीमात्र के सहअस्तित्व पर भी जोर दिया है और सम्पूर्ण मानव जाति पृथ्वी का अनियन्त्रित दोहन करते हुए यह बिल्कुल भुलाये बैठी है कि पृथ्वी एकमात्र हमारा घर है और इसका न रहना दरअसल हमारा भी अन्त है। इसी संग्रह में कहानी ‘सुधीर योषात’ नक्सलवादी आन्दोलन पर लिखी गयी सबसे सशक्त कहानी है जिसमें मात्र तीन पात्र हैं और यही काशीनाथ सिंह के कहानी के पात्रों की विशेषता है कि वे अपनी कहानी में पात्रों की भरमार नहीं करते बल्कि सटीक पात्रों के वर्णनों से थोड़े में ही उनकी चरित्र का नक्शा खींच देते हैं। काशीनाथ सिंह के पात्र जीवन्तता से भरपूर और अपने आस-पास के वातावरण से ही लिये गये होते हैं।

अन्य महत्वपूर्ण कहानियों में ‘मुसईचा’, ‘बैल’, ‘अपने लोग’ है। ‘आदमीनामा’ भी उनकी कहानियों का संग्रह है। अगला कहानी संग्रह 1979 में आता है, जिसकी सबसे महत्वपूर्ण कहानी है ‘कविता की नयी तारीख’। यह कहानी सुविधाभोगी होते, निम्न मध्यवर्ग के व्यक्ति द्वारा अपने ही लोगों की उपेक्षा और तिरस्कार की कहानी है। सन् 1980 ई. में काशीनाथ सिंह का कहानी संग्रह ‘कल की फटेहाल कहानियाँ’ प्रकाशित हुआ। काशीनाथ का अगला कहानी संग्रह 1986 में ‘सदी का सबसे बड़ा आदमी’ प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की सबसे प्रमुख कहानी ‘कहानी सराय मोहन’ की है, जिसमें पूँजीवाद के प्रभाव से टूटे सामाजिक ढाँचे एवं नये विकसित होते सम्बन्धों का बयान है। ‘अपना रास्ता लो बाबा’ सिद्ध की सनक आदि इस संग्रह की महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। हिन्दी कथा साहित्य की मूल प्रवृत्ति सदैव से प्रगतिशील व मानवतावादी रही है। परन्तु अगर हिन्दी साहित्य को देखें तो काशीनाथ की कहानियों से कथा साहित्य की एक प्रगतिशील यथार्थवादी धारा

निरन्तर आगे बढ़ती चली आई है जो तत्कालीन समाज में मौजूद विसंगतियों की बात भी करती है और साथ ही शोषित जनों के हक के लिए आवाज भी बुलन्द करती है।

काशीनाथ सिंह साठेतरी पीढ़ी के प्रमुख रचनाकारों में शामिल हैं। इस दौर की कहानियों में काशीनाथ अपने तीक्ष्ण विचार और चुस्त भाषा के साथ देहाती ठाठ लेकर आते हैं और साथ ही वे ग्रामीण जीवन की तमाम विसंगतियों पर भी उंगती उठाते हैं। सामन्ती संस्कार, आतिवाद, उपभोक्तावादी समाज में हो रहे रिश्तों व भावनाओं का व्यवसायीकरण इन सबको लम्बित किया गया है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में इनकी सहजता ही उनके गद्य की सबसे बड़ी विशेषता है और यही उसकी सबसे बड़ी ताकत भी है। काशीनाथ की कहानियों के सामाजिक सरोकार गहरे हैं क्योंकि वे समाज निरपेक्ष नहीं समाज सापेक्ष कहानीकार हैं जिनकी कहानियाँ अपने समय की गहरी रचना यात्रा शुरू करते हैं तो उनकी कहानियों में अकेलेपन का संत्रास मिलता है। वे मनुष्य की अपने परिवेश व प्रकृति से बिलगाव की कथाएँ हैं। काशीनाथ सिंह को सबसे ज्यादा चर्चा कहानीकार के रूप में मिली। काशीनाथ ने विचारों के स्तर पर आधुनिक भावबोध के रचनाकार होते हुए भी कहानियों में अपना खाँटी-देसीपन बचाकर रखा एवं उनकी कहानियों में स्थानीयता व आँचलिकता देखने को मिलती है। उनकी कहानियाँ जीता-बोलता यथार्थवादी परिवेश गढ़ती हैं, जिनके किरदारों को आप सीधे पहचान पाते हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में आम आदमी के जीवन संघर्ष के विविध रूपों का वर्णन किया है। काशीनाथ सिंह हिन्दी के विशिष्ट साहित्यकार हैं। आपने जिस किसी विधा में सृजन किया, अपनी विशिष्ट रचनात्मकता से स्वयं का अलग स्थान बनाया। उनकी इसी विशेषता को ध्यान में रखकर शोधकर्त्री ने “काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य की संवेदना” विषय का चुनाव किया। मानव ज्ञान बहुत व्यापक और बहुमुखी है, उसके विविध क्षेत्रों से संबंधित शोध के स्वरूपों और कार्य प्रणालियों में अन्तर होता है। अन्य विषयों की तरह हिन्दी साहित्य के लिए एक निश्चित

शोध प्रविधि का प्रयोग नहीं होता। साहित्य के शोध प्रविधि में सर्वाधिक व्यापक प्रयुक्त पद्धति मननात्मक शोध व व्याख्यात्मक शोध है। इसमें सभी प्रकार के तथ्यात्मक और सृजनात्मक सामग्री का अध्ययन करके विश्लेषण व्याख्या और मनन द्वारा निश्चित निर्णयों पर पहुँचा जाता है।

साठेतरी पीढ़ी के जिन कथाकारों ने नयी जमीन सौंपने का काम किया है, काशीनाथ सिंह का नाम उनमें विशेष महत्व रखता है। धस्त होते पुराने समाज, व्यक्ति, मूल्यों तथा नयी आकांक्षाओं के बीच जो अन्तर्द्वन्द्व समाज झेल रहा है उसका सजीव चित्रण काशीनाथ सिंह की कहानियों में मिलता है। उन्होंने राजनीतिक क्षरण और जीवन मूल्यों की पतनशीलता को भी दर्शाया है।

काशीनाथ सिंह ने अपनी कहानियों में मार्क्स के कथन को ‘मार्क्सवाद लोकहितकारी सिद्धान्त हैं’ को प्रत्यक्षतः उतारा है। उन्होंने अपनी कहानियों में समाजवादी यथार्थ को अधिक अपनाया है। उनका सृजन समाज सापेक्ष है। वे पूँजीवाद को कला का शत्रु मानते हैं। उनका कथा साहित्य आम जनता के साथ जुड़ा हुआ है और उनके पात्र भी उनके आसपास के वातावरण के लोग ही हैं। उनकी कहानियाँ शोषण, पूँजीवाद व मशीनी तंत्र की जड़ों तक पहुँची हैं।

काशीनाथ सिंह ने अपने सम्पूर्ण कथा साहित्य में पात्रों के माध्यम से अशिक्षा, प्रेम, नारी की असहाय स्थिति, साम्प्रदायिकता, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक विचारों के बीच द्वन्द्व, शोषण-पोषित, समाज और व्यवस्था, जनसंख्या विस्फोट आदि समस्याओं को हमारे समक्ष उद्घाटित किया है। मानवीय मूल्यों व शोषित प्रताड़ित वर्गों के प्रति लेखक द्वारा गहरी संवेदना व्यक्त की गयी है। लेखक की कहानियों में पात्रों के माध्यम से मुख्य रूप से निम्न वर्ग, मध्यम वर्ग की समस्याओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

-कुमारी रेनू

(मानदेय प्रवक्ता)

बाबा भृगु स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊ

मुक्तिबोध की कविता ‘अंधेरे में’ और ‘ब्रह्मराक्षस’ में फैटेसी

—पूरन कुमार

फैटेसी पर आधारित मुक्तिबोध की अनेक कविताएँ ('एक अंतर्कथा', 'चकमक की चिंगारियाँ', 'एक स्वप्न कथा', 'अंधेरे में', 'ब्रह्मराक्षस', 'लकड़ी का रावण', 'भूल-गलती' आदि) हैं जिसमें मुक्तिबोध ने फैटेसी का सहारा लेकर काव्य की रचना की है। इनमें से कुछ कविताओं में फैटेसी का उपयोग कुछ अधिक हुआ है, तो किसी में फैटेसी का आंशिक रूप ही दिखाई देता है। हिंदी कवियों में फैटेसी का सर्वाधिक प्रयोग किसी ने किया है तो वे हैं—गजानन माधव मुक्तिबोध। मुक्तिबोध 'ब्रह्मराक्षस' (यथार्थवादी) कविता में फैटेसी की सुंदर झलक उपलब्ध है तो वहीं इनकी 'अंधेरे में' कविता में तो फैटेसी अपनी चर्मात्कर्ष पर नजर आती है। फैटेसी के अतिरिक्त मुक्तिबोध ने अपने काव्य में नाटकीयता एवं कथातत्व को भी अपनी काव्य में समाहित किया है। कई बार यह फैटेसी नाटकीयता के भीतर होती है, तो कई बार यह बाहर। लंबी कविताओं में अब नाटकीयता अनिवार्य गुण बन गया है नहीं तो कविता में उबाऊपन या एकरसता आ जाने का खतरा रहता है। मुक्तिबोध की समस्त कविताओं का केंद्र फैटेसी है। वे अपनी समस्त कविताओं में निजी-विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करते हैं और यथार्थ का गोचर करने के कारण मुक्तिबोध की कविताएँ अपेक्षाकृत लंबी होती चली गई हैं। उन्हीं के शब्दों में—“यथार्थ के तत्व परस्पर गुफित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है, वह भी ऐसा ही गतिशील है और उसके तत्व भी परस्पर गुफित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती है, वह वस्तुतः छोटी ना होकर अधूरी होती है।”¹

ग्रीक शब्द फैटेसिया से फैटेसी शब्द की उत्पत्ति हुई है जिसका अभिप्राय है, अमूर्त या यथार्थहीन को दृश्य बनाना। मनोविज्ञान का यह शब्द है, फैटेसी। स्वप्न और अवचेतन मन में विघटित होने वाले बेतरतीब घटना का संबंध फैटेसी से होता है। साहित्य में काव्य रचना करने के लिए फैटेसी का प्रयोग टेक्नीक या प्रविधि के रूप में प्रयुक्त की जाती है। सिगमंड फ्रायड ने अपने आलेख 'कवि और दिवास्वप्न' विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए फैटेसी और उसके विचारों के संबंध को स्पष्ट

किया है। वह है—“अतृप्त इच्छाएं फैटेसी की प्रेरक शक्तियां हैं, कवि दिवास्वनों को जो कलात्मक रूप प्रदान करता है, वह भी इन्हीं अतृप्त इच्छाओं का ही परिणाम होता है, जो माध्यम रूप में प्रचञ्चन होता है।”² केवल कोरी कल्पना करना फैटेसी का अर्थ बिल्कुल नहीं है। फैटेसी का एक निश्चित भौतिक आधार होता है, जहाँ से कविता जन्म लेती है और उस कविता पर फैटेसी प्रभाव भी डालती है। फैटेसी का समापन अक्सर दुखांत ही होता है। मुक्तिबोध के ही शब्दों में—‘पिस गया व भीतरी औ’ बाहरी दो कठिन पाटों के बीच/ऐसी ट्रेजेडी है नीच।’³ ‘विश्व साहित्य कोश’ के अनुसार—“फैटेसी की क्रियाशीलता में ऐसा वातावरण या चरित्र उपस्थित होते हैं जो मनुष्य जीवन की सामान्य परिस्थितियों में असंभव माने जाते हैं... फैटेसी में भौतिक शास्त्र के नियमों की सीमा टूट जाती है, पशु या मानवजीवन का अंतर मिट जाता है, मनुष्य स्वभाव की आधारशिला डगमगा जाती है और काल्पनिक जीव समस्त काल्पनिक मूल्यों को व्यवस्थित कर देते हैं...। विचित्र और अमानवीय तत्वों से युक्त प्रत्येक कार्य फैटेसी की सीमा में नहीं आता। उनमें आज के संभावित या परिचित इतिहास से अलग कुछ ऐतिहासिक तत्व हो सकता है किंतु यदि वह यथार्थता पर आधारित है तो वह फैटेसी में नहीं गिना जाएगा। यदि उनमें ऐसे धार्मिक विश्वास हैं जो फैटेसी के निर्मित काल में स्वीकृत थे या ऐसे रहस्यमय तत्वों से युक्त हैं जो ‘एज्नार्मल’ मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए यथार्थ हैं तो वह फैटेसी की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता।”⁴

मुक्तिबोध ने अपनी कविता में यथार्थ को चित्रित करने के लिए फैटेसी जैसे यथार्थीन प्रविधि का प्रयोग किया है। ऐसा नहीं है कि मुक्तिबोध फैटेसी की खामियों को नहीं जानते थे फिर भी उन्होंने फैटेसी को अपने काव्य में अपनाया है। फैटेसी की सुविधाओं के साथ मुक्तिबोध ने फैटेसी की असुविधाओं को भी बताया है। मसलन—“फैटेसी में कभी-कभी जीवन-तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत होते हैं कि... कभी-कभी उनका क्रम स्थापित करने में अड़चन होने लगती है।”⁵ फैटेसी एक बुर्जुआ शिल्प है जिसमें कविता के अर्थ विस्तार क्षेत्र में कोई भी बंधन नहीं होता है। मूलतः यह भावना प्रधान शिल्प है। अपनी कविताओं के माध्यम से मुक्तिबोध अपने पाठकों पर कविता का गहरा असर देखना चाहते थे जिसके लिए मुक्तिबोध ने फैटेसी का सहारा लेकर भयावहता को अति यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया है ताकि उस भयावह यथार्थ को पाठक बदलने के प्रति सजग हो। मुक्तिबोध केवल फैटेसी के भयावह यथार्थ का गोचर नहीं करते बल्कि उस यथार्थ के प्रति जन-क्रांति

के लिए एक माहौल भी तैयार करते हैं। फैटेसी की दुनिया में कविता को जैसा चाहे वैसा माहौल, वातावरण, विष्व, प्रतीक मिलता है और ऐसी दुनिया केवल फैटेसी में ही खड़ी हो सकती थी।

मुक्तिबोध की फैटेसी से संबंधित सर्वाधिक चर्चित व लंबी कविता है—‘अंधेरे में’। यह कविता लगभग चालीस पृष्ठों की है, जिसमें मार्शल लॉ का वृहद वर्णन है। इस कविता के विषय में डॉ. नामवर सिंह कहते हैं—“मुक्तिबोध के प्रतिनिधि काव्य-संकलन ‘चाँद का मुंह टेढ़ा है’ की अंतिम कविता ‘अंधेरे में’ कदाचित उनकी अंतिम रचना भी है, जिसे कवि-कर्म की चरम परिणति भी कहा जा सकता है। कुल मिलाकर उसे यदि नयी कविता की भी चरम उपलब्धि कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।”⁶ ‘अंधेरे में’ कविता इसके प्रकाशन को लेकर मतभिन्नता है। 1957 से 1962 तक नेमिचंद्र जैन ने इस कविता का रचनाकाल संभावित बताया है। शमशेर बहादुर सिंह ने ‘चाँद का मुंह टेढ़ा है’ की भूमिका में लिखा है कि मुक्तिबोध ‘अंधेरे में’ कविता को राजनांदगांव में लिखा था। वे जुलाई, 1958 में राजनांदगांव पहुँचे थे और वहाँ उन्होंने 1961 में अपनी तीन बहुत लंबी व लाजवाब, बहुत चर्चित कविताएँ सुनाई थीं जिनमें से एक था—‘अंधेरे में’। इसकी भूमिका में शमशेर ने लिखा है कि मुक्तिबोध रिपोर्टर की हैसियत से नागपुर एप्रेस मिल में, जब मजदूरों पर गोली चली थी तब घटनास्थल पर मौजूद थे। वहाँ मजदूरों के सिरों का फूटना और खून का बहना मुक्तिबोध ने अपनी आँखों से सारा दृश्य देखा था। नागपुर के गोलीकांड के अनुभव को मुक्तिबोध ने अपनी कविता ‘अंधेरे में’ व्यक्त किया—जब वह अनुभवों से परिपक्व हो गए। प्रारंभ में इस कविता का नाम ‘आशंका के दीप—अंधेरे में’ रखा गया था किंतु मुक्तिबोध की इच्छा पर बाद में इस कविता का शीर्षक सिर्फ ‘अंधेरे में’ ही रहने दिया। “मारो गोली, दागो स्साले को एकदम/ दुनिया की नजरों से हटकर/ छुपे तरीके से हम जा रहे थे कि/ आधी रात अंधेरे में उसने/ देख लिया हमको व जान गया वह सब मार डालो/ उसको खत्म करो एकदम।”⁷

मुक्तिबोध ने अपने युग के सामाजिक विषम परिस्थितियों की यथार्थ घटनाओं को देखा ही नहीं बल्कि उस समाज में रहकर उसमें जीया भी है। कहीं भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व अन्य आंदोलन हो मुक्तिबोध खुद को उनके बीच रखते थे। उस घटना का आत्मसाक्षात्कार करते थे और वह समझते थे कि यह सब मेरे कारण हुआ है, इसकी वजह में हूँ। डॉ. जनक शर्मा का कथन है—“मुक्तिबोध आत्म साक्षात्कार के कवि हैं। समाज में होने वाली दुर्घटनाओं,

अन्याय, अत्याचारों में वे स्वयं को भी कहीं शामिल देखते हैं। स्वयं को कठघरे में खड़ा करके जांचते परखते हैं। मुक्तिबोध में गहरा दायित्वबोध था देश के प्रति, अपने समाज के प्रति अतः देश में या समाज में कहीं और अधट घटता तो वे स्वयं को भी अपराधी मानते थे।⁸ प्रगतिशील कवियों की तुलना में मुक्तिबोध की कविता की एक अलग ही विशेषता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ‘अंधेरे में’ को विभाजित व्यक्तित्व की कविता कहा है, तो डॉ. नामवर सिंह ने अस्मिता की खोज की कविता।⁹ वे सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का वर्णन करते हैं तो भी व्यक्ति विशेष को छोड़कर नहीं करते। उनकी मान्यता रही है कि वह व्यक्ति को महत्व देते थे क्योंकि व्यक्ति से ही समाज बनता है यदि व्यक्ति को महत्व नहीं देते हैं तो कविता के चित्रण में सामान्यीकृत होते हुए भी कविता प्रभावहीन होकर ही रह जाएगी। ‘अंधेरे में’ कविता में यही कारण है कि फासिज्म की आशंका और इससे खत्म होने वाली जन-क्रांति का वर्णन है जिसमें एक व्यक्ति भी है, जो काव्य में नायक के रूप में चर्चा हुई है, इसी काव्य नायक को माध्यम बनाकर पूरी कविता को आगे बढ़ाया गया है इसलिए उस व्यक्ति को इस काव्य का नायक कहना उचित है। मुक्तिबोध ने अपनी बेचैनी को ‘अंधेरे में’ कविता के माध्यम से इस तरह व्यक्त किया है—‘मेरा सिर गरम है/इसलिए भरम है/सपनों में चलता है आलोचन/विचारों को चित्रों की अवली में चिंतन/ निजत्व-भाफ है बेचैन/क्या करूं, किससे कहूं/कहां जाऊं, दिल्ली या उज्जैन ?’¹⁰

मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता में से एक है—ब्रह्मराक्षस। मुक्तिबोध एक ज्ञानी ब्रह्मराक्षस का शिष्य बनना चाहते थे। ‘मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य होना चाहता/जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य/उसकी वेदना का स्रोत/संगतपूर्ण निष्कर्षों तलक पहुंचा सकूं।’¹¹ स्वच्छंद रूप से मुक्तिबोध ने प्राकृतिक-वर्णन प्रायः कम या नहीं के समान ही किया है किंतु ब्रह्मराक्षस कविता में प्रकृति का एक बहुत सुंदर चित्र है—“बावड़ी की इन मुड़ेरों पर/मनोहर हरी कुहनी टेक/बैठी है टगर/ले पुष्प-तारे श्वेत।”¹² मुक्तिबोध की कविता में एक तरफ तो सुंदर, बिम्ब, प्रतीक का चित्रण है तो वहीं दूसरी तरफ भयोत्पादक चित्रण हैं। एक आलोचक ने उनकी कविता की यही सब स्थिति को देखते हुए यहाँ तक कह दिया कि—मुक्तिबोध की कविता भयानक खबर की कविता है। प्रमाणस्वरूप एक मसलन देखा जा सकता है—‘तालाब के आस-पास, अंधेरे में वन-वृक्ष/चमक-चमक उठते हैं हरे-हरे, अचानक वृक्षों के शीश पर नाच-नाच उठती हैं बिजलियां/ शाखाएं, डालियां, झूमकर,

झपटकर/चीख, एक दूसरे पर पटकती हैं सिर कि अकस्मात् वृक्षों के अंधेरे में छिपी हुई किसी एक तिलिस्मी खोह का शिला-द्वार/खुलता है धड़-से।’¹³ मुक्तिबोध को जितनी बार भी पढ़ोगे उतनी ही बार उनको एक नए सिरे से, एक नए रूप में देखोगे और हर बार मुक्तिबोध को जानने की जिज्ञासा बढ़ती ही जाएगी।

संदर्भ

1. ब्रिजपाल सिंह, गहलोत, मुक्तिबोध के काव्य में युग चेतना, गोवा विश्वविद्यालय तालेगाँव, गोवा, 1998, पृ. 150.
2. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, सातवाँ संस्करण 2021, पृ. 246
3. नवल, नंदकिशोर, निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएँ, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दसवाँ संस्करण 2017, पृ. 109.
4. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, सातवाँ संस्करण 2021, पृ. 245
5. राय, रामजी, मुक्तिबोध स्वदेश की खोज, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, नवारुण, पहला संस्करण, 2022, पृ. 75
6. नवल, नंदकिशोर, निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएँ, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दसवाँ संस्करण 2017, पृ. 116.
7. वही, पृ. 136.
8. चक्रधर, अशोक, मुक्तिबोध की कविताई, जगतपुरी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहली आवृत्ति, 2003, पृ. 46.
9. नवल, नंदकिशोर, निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएँ, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दसवाँ संस्करण 2017, पृ. 133
10. वही, पृ. 112.
11. चक्रधर, अशोक, मुक्तिबोध की कविताई, जगतपुरी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पहली आवृत्ति 2003, पृ. 63
12. नवल, नंदकिशोर, निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएँ, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दसवाँ संस्करण 2017, पृ. 142
13. वही, पृ. 172

पूरन कुमार

शोधार्थी (हिंदी)

कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय

सेक्टर-7, भिला-नगर, जिला-दुर्ग (छ.ग.)

मो. 8085173374

महिला सशक्तिकरण और अम्बेडकर के विचार : एक अवलोकन

—डॉ. जितेन्द्र कुमार

महिलाओं के प्रति होने वाले लैंगिक भेदभाव और उनकी अस्मिता का प्रश्न भारत सहित सम्पूर्ण विश्व के लिए चिंता का विषय रहा है जिसका प्रभाव वर्तमान में भी किसी न किसी रूप में परिलक्षित हो रहा है। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ एक तरफ पाश्चात्य देशों में महिला अधिकारों विशेषकर महिला मताधिकार को लेकर आन्दोलन तीव्र था, वहीं भारत में प्रारम्भ हुए स्वतन्त्रता आन्दोलन में महिलाओं की सहभागिता तो निरन्तर बढ़ रही थी लेकिन समाज में महिलाओं के प्रति विद्यमान रुद्धिवादी संकीर्णता और शोषणकारी गतिविधियाँ समानान्तर चल रही थीं। यद्यपि इन कुरीतियों और रुद्धिगत संकीर्णताओं को समाप्त करने के लिए अनेक समाज सुधारकों ने अपने विचारों से अनेक सुधारवादी आन्दोलनों की अलख जगायी, फिर भी ये महिला शोषण की तह तक नहीं पहुँच पायें। डॉ. अम्बेडकर सम्भवतः पहले ऐसे भारतीय सामाजिक चिन्तक हुए जिन्होंने महिलाओं की समस्याओं को लैंगिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया। डॉ. अम्बेडकर के महिलाओं सम्बन्धी चिन्तन के केन्द्र में भारतीय समाज की सभी महिलायें थीं। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में जब भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक असमानताओं और उनमें सुधारों के बिन्दुओं पर चिन्तन होता है तो डॉ. अम्बेडकर के विचारों को सम्मिलित किये बिना बात पूरी नहीं होती।

वास्तव में पितृसत्ता के कार्य करने के तरीकों, महिलाओं के शोषण, सामाजिक न्याय तथा हिन्दू सामाजिक व्यवस्था पर अम्बेडकर के विचारों को आधुनिक नारीवादी दर्शन के उद्घार के लिए आदर्श माना जाता है। भारतीय महिलाओं को शोषण से मुक्त करने तथा व्यवस्थागत समाज में सहभागी बनाने के उद्देश्य से डॉ. अम्बेडकर ने एक नारीवादी एजेण्डा तैयार किया। डॉ. अम्बेडकर के विचारों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि महिला अधिकारिता के सन्दर्भ में भारत को किन मूल्यों का विकास करना चाहिए तथा किस प्रकार भारत अपने सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थानों का आधुनिकीकरण करे जिससे महिलाओं के प्रति होने वाली दमनात्मक व शोषणकारी नीतियों से सामाजिक व्यवस्था को मुक्ति प्राप्त हो सके। डॉ. अम्बेडकर का सम्पूर्ण जीवन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान संकीर्णताओं, रुद्धिवादिता और अन्धविश्वास

से भरी विकृतियों को समाप्त करने पर ही समर्पित रहा था। डॉ. अम्बेडकर ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान सामाजिक परिवर्तन की लहर को प्रवाहमान कर हजारों वर्षों से पीड़ित दलित एवं हाशिये में रहे रहे वंचित लोगों को स्वतन्त्रता व समानता से जोड़ने का कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर एक ऐसे वर्गहीन समाज की रचना के पक्षधर थे जो समस्त सामाजिक बुराइयों यथा-जातिवाद, वर्गवाद, सम्प्रदायवाद, लैंगिक असमानता तथा ऊँच-नीच के भेद से पूर्णतया मुक्त हो और प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में अपनी योग्यता के अनुसार अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए सम्मानपूर्ण जीवन जी सके।

महिला अधिकारिता और उनके सशक्तीकरण के सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर के विचार तत्कालीन अनेक समाज सुधारकों जैसे राजा राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महात्मा गांधी आदि से सर्वथा भिन्न थे, क्योंकि इन समाज सुधारकों ने धार्मिक परम्पराओं और सामाजिक श्रेणीबद्धता में अर्थशक्ति परिवर्तन लाकर ही महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। इसके विपरीत, डॉ. अम्बेडकर का मुख्य उद्देश्य उस जातीय और शोषणकारी अनुक्रम को तोड़ना था जिसमें महिलाओं की स्वतन्त्रता, समानता और मानवीय गरिमा से वंचित कर दिया था। इस सामाजिक और जातीय अनुक्रम के कारण भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी क्योंकि इस सामाजिक व्यवस्था का आधार पितृसत्तात्मक सत्ता व मनुवादी संस्कृति थी। इसी कारण महिलाओं का धार्मिक व सांस्कृतिक कुरीतियों के आधार पर शोषण किया जा रहा था। मनुस्मृति के अध्याय 9, 2-3 में वर्णित है—“बाल्ये पितुविषि तिष्ठेत पाणिग्राहस्य यौवने पुत्राणा भर्तीर प्रेते न भजेत स्त्री स्वतन्त्रताम//” अर्थात् रात और दिन कभी भी स्त्री को स्वतन्त्र नहीं होने देना चाहिए। उन्हें लैंगिक सम्बन्धों के द्वारा अपने वश में रखना चाहिए। बालपन में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र उसकी रक्षा करे। स्त्री स्वतन्त्र होने लायक नहीं है।

इस प्रकार हमारे धार्मिक ग्रन्थों ने महिलाओं को जड़, मूर्ख और कपटी स्वभाव का घोषित करते हुए उन्हें शूद्रों के समानुरूप स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों से वंचित रखते हुए महिलाओं को दोयम दर्जे का स्तर प्रदान किया। डॉ. अम्बेडकर के महिला चिन्तन का आधार इन्हीं धार्मिक ग्रन्थों से आबद्ध पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही थी क्योंकि यह व्यवस्था निरन्तर महिलाओं को पुरुषों के आधीन बनाये रखने की पक्षधर थी लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने राजनीति और संवैधानिक नियमों के माध्यम से भारतीय समाज में

स्त्री-पुरुष के मध्य मौजूद असमानता की खाई को पाटने का सार्थक प्रयास किया। उन्होंने माना कि महिलायें किसी भी रूप में पुरुषों से कम नहीं हैं। उनका कथन है—“नारी राष्ट्र की निर्मात्री है, प्रत्येक व्यक्ति नारी की गोद में पलकर बड़ा होता है, नारी को जागरूक किये बिना राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है।” डॉ. अम्बेडकर महिलाओं को संवैधानिक अधिकार दिलाकर महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक व राजनीतिक स्तर पर उनकी उन्नति और विकास को बढ़ाना चाहते थे। डॉ. अम्बेडकर स्त्री शिक्षा के प्रबल पक्षकार थे और इसीलिए उन्होंने तत्कालिक शैक्षिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे जिससे महिलाओं को पूर्णतः वंचित रखा गया था। डॉ. अम्बेडकर ने स्त्री शिक्षा का प्रारम्भ स्वयं अपने घर से किया। महिला शिक्षा तथा उनकी स्वतन्त्रता व समानता की आवाज को मुखर करने के लिए 1920 व 1927 में क्रमशः ‘मूकनायक’ व ‘बहिष्कृत भारत’ जैसे समाचार पत्रों का प्रकाशन किया। इन पत्रों के माध्यम से महिला स्थिति में सुधार लाने के लिए शिक्षा व्यवस्था जैसे मुद्रदारों पर चर्चा प्रारम्भ की।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने सम्पूर्ण जीवन में शूद्रों के साथ-साथ महिलाओं की दयनीय स्थिति में परिवर्तन लाने का निरन्तर प्रयास किया। उन्होंने भारतीय महिलाओं की अनेकानेक समस्याओं को लेकर बास्बे लेजिस्लेटिव कांउसिल में ड्राफिटिंग कमेटी के अध्यक्ष के रूप में तथा स्वतन्त्र भारत के प्रथम विधि मन्त्री की हैसियत से संसद में चर्चा की तथा उनकी शोचनीय स्थिति के समाधान की मांग की। 18 फरवरी, 1927 को बम्बई विधान सभा में प्रस्तुत ‘मैटरनिटी बेनिफिट बिल’ तथा ‘बर्थ क्रिटिकल’ पर उनके विचार महिलाओं की गरिमा को पहचानने में काफी प्रासंगिक थे। उन्होंने मातृत्व विधेयक का पुरजोर समर्थन किया। उनका मानना था कि “यह राष्ट्र के हित में है कि प्रसव पूर्व अवधि के दौरान और बाद में भी माँ को एक निश्चित मात्रा में आराम मिलना चाहिए और विधेयक का स्वरूप पूरी तरह इसी धारणा पर आधारित है।” भारत में स्त्री-पुरुष भेदभाव को समाप्त करने के लिए उन्होंने महिलाओं की आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी को पूर्णता उचित माना। उन्होंने स्वीकार किया कि भारत में जब तक हिन्दू परिवारों में महिलाओं का स्थान सलाहकार, मित्र, प्रबन्धक और सहभागी का रहा तब तक भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुखकर और स्वावलम्बी रही लेकिन सामन्ती मानसिकता ने पुरुषों को प्रधानता दी जिससे पारिवारिक अर्थव्यवस्था असंतुलित हो गयी। परिवार की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की नींव है। अतः पारिवारिक अर्थव्यवस्था को मजबूती

प्रदान करना प्रथम जिम्मेदारी है और पारिवारिक अर्थव्यवस्था की उन्नति के लिए महिलाओं का आर्थिक क्षेत्र में योगदान बढ़ाना अनिवार्य है। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि “सही मायने में प्रजातन्त्र तब आयेगा जब महिलाओं को पिता की सम्पत्ति में समान हिस्सा मिलेगा, उन्हें पुरुषों के समान अधिकार मिलेंगे। महिलाओं की उन्नति तभी होगी, जब उन्हें परिवार व समाज में समानता का दर्जा प्राप्त होगा। शिक्षा और आर्थिक उन्नति उनके इस कार्य में मद्द करेंगी।” उनका मानना था कि विवाह शिक्षा और सम्पत्ति पर अधिकार सम्बन्धी प्रचलित कानूनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये बिना महिलाओं की शोषण से मुक्ति सम्भव नहीं है। अपने इसी विश्वास को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से उन्होंने एक व्यापक सामाजिक विधान की रूपरेखा निर्मित की, जिसे ‘हिन्दू कोड बिल’ के नाम से जाना जाता है। 1948 में संसद में प्रस्तुत इस बिल के खिलाफ विपक्ष काफी मजबूत था फिर भी डॉ. अम्बेडकर ने स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व के संवैधानिक सिद्धान्तों की ओर इशारा करते हुये इस बिल का बचाव किया और कहा कि सामाजिक परिवर्तन के लिए एक कानूनी ढाँचा आवश्यक है जिसमें महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हो। पुरुष प्रधान संस्कृति पर प्रहार करते हुये इस बिल में भारतीय महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष कानूनी अधिकारों का सुजन किया गया और हिन्दू महिलाओं को विवाह और तलाक जैसे मुद्रों पर पुरुषों के समान हक देने की बात रखी गयी थी। इस बिल में आठ अधिनियम बनाये गये जो इस प्रकार हैं-

1. हिन्दू विवाह अधिनियम
2. विशेष विवाह अधिनियम
3. गोद लेना दत्तक ग्रहण अन्याय संरक्षण अधिनियम
4. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम
5. निवाल एवं साधनहीन परिवार का भरण-पोषण अधिनियम
6. अप्राप्त व्यय संरक्षण अधिनियम
7. उत्तराधिकारी अधिनियम और विधवा विवाह को पुनर्विवाह अधिकार अधिनियम
8. पिता की सम्पत्ति में अधिकार अधिनियम

उपरोक्त बिन्दुओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि यह विधेयक पितृसत्ता के लिए खतरा था जिस पर पारिवारिक संरचना बंधी हुई थी और भारतीय महिलाओं के लिए यह समस्त बीमारियों की दवा था। इस बिल के माध्यम से डॉ. अम्बेडकर समाज की मानसिक सोच में बदलाव लाकर व्यवहारिक सोच को विकसित करना चाहते थे। यह विधेयक हिन्दू रूढिवादियों के विरोध का सामना नहीं कर सकता

और भारी विरोध के कारण संसद में पारित नहीं हो पाया; इसी कारण डॉ. अम्बेडकर ने विधि मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया। इस बिल की सार्थकता इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि इस बिल ने भारत में नारीवादी आन्दोलनों के पुनरुत्थान में मदद की। यह महिलाओं को अपनी स्थिति को पहचानने तथा अपनी ताकत हासिल करने के लिए प्रेरित करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. जोशी, गोपा (2016), ‘भारत में स्त्री असमानता’, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली
2. डॉ. सुमन, मंजू (2013), ‘दलित महिलायें’, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
3. प्रो. शुक्ला, आशा (2014), ‘स्त्री संघर्ष के मुद्रदे (भारतीय एवं पाश्चात्य सन्दर्भ)’, महिला अध्ययन विभाग, बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल
4. डॉ. सिंह, रामगोपाल (2012), ‘डॉ. अम्बेडकर का विचार दर्शन’, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
5. डॉ. तेज सिंह (2012), ‘अम्बेडकर वादी विचारधारा’; लोकमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद।
6. शर्मा, संजय प्रकाश (2018), ‘डॉ. बी.आर. अम्बेडकर सामाजिक न्याय के योद्धा’, तत्व बोधिनी प्रकाशन, बनारस।
7. आर्व सुधा (2017), ‘महिला लैंगिक समानता’ और राज्य, दीप और दीप प्रकाशन, नई दिल्ली
8. श्रीवास्तव, सुचित्रा (2016), ‘हिन्दू महिलाओं का उदय और पतन’, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली
9. गुप्ता, चारू (2019), ‘मर्दों से आगे थी, मर्दानी महिलायें’, दैनिक हिन्दुस्तान, सम्पादकीय जुलाई-17
10. डॉ. मीणा, चैन सिंह (2016), ‘स्त्री सशक्तीकरण का प्रश्न और डॉ. अम्बेडकर की भूमिका’, सामाजिक न्याय संदेश पत्रिका, उज्जैन
11. निमसडकर, अमोल (2017), ‘डॉ. अम्बेडकर का स्त्रीवाद’, स्त्रीकाल पत्रिका, नई दिल्ली
12. गुप्ता, मनोज कुमार (2016), ‘डॉ. अम्बेडकर का नारीवादी चिन्तन’, सामाजिक न्याय संदेश पत्रिका, उज्जैन।
13. www.proutjournal.com
www.legalserviceindia.com
www.sam Yukta.info.org
www.mgfps.blogspot.com

—डॉ. जितेन्द्र कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
जे. एस. हिन्दू (पी.जी.) कॉलेज, अमरोहा (उ.प्र.)
e-mail : dr jitendrakumar19@gmail.com
Mobile : 7007031490

भिक्षावृत्ति का समाजशास्त्र

—विनय कुमार सिंह

यह शोध पत्र भारत में भिक्षावृत्ति के समाजशास्त्र से संबंधित है। इस शोधपत्र में भिक्षावृत्ति के सामाजिक, आर्थिक तथा विधिक अर्थों को स्पष्ट करते हुए इसके सामाजिक व आर्थिक कारकों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें भिक्षावृत्ति से संबंधित जनसंख्यात्मक आंकड़ों को प्रस्तुत करते हुए भिक्षावृत्ति में सम्मिलित कमजोर वर्ग जैसे बच्चे, महिला, दिव्यांग, इत्यादि के उत्थान हेतु सरकार व गैर सरकारी संगठनों द्वारा किए गए प्रयासों का उल्लेख भी किया गया है। यह शोध पत्र मुख्यतः द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित है। शोध पत्र में मुंबई भिक्षावृत्ति अधिनियम, दिल्ली हाईकोर्ट निर्णय, जनगणना 2011 पीआईबी 2021 के आंकड़े, कुछ संदर्भ पुस्तकों एवं अंतरराष्ट्रीय शोध पत्रों जैसे अनेक द्वितीयक तथ्यों के संदर्भ लिए गए हैं। उक्त शोध पत्र में भारतीय भिक्षुकों के सामाजिक, आर्थिक प्रस्थिति व इसमें आए परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। आधुनिकता के इस भीड़ भाड़ युक्त समाज में यातायात चौराहों पर जब भी कोई गाड़ी खड़ी होती है तो अचानक कोई बच्चा, गरीब, विकलांग, महिला इत्यादि स्वरूपों में कोई व्यक्ति गाड़ी के शीशे के सामने आ जाता है। गाड़ी की खिड़की खटखटा कर भीख मांगता है। भीख मांगने की इस प्रवृत्ति पर हमारी प्रतिक्रिया कभी सकारात्मक तो कभी नकारात्मक रूप में परिलक्षित होती है। कई बार उन्हें देखकर व्यक्ति दया भाव से कुछ दे देता है और व्यक्ति आध्यात्मिक संतुष्टि प्राप्त करता है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति उन्हें नकारात्मक दृष्टिकोण से देखता है और यह मानता है कि इस प्रवृत्ति से तो भिक्षावृत्ति को बढ़ावा ही मिलेगा। उन्हें इस प्रकार की भिक्षा देकर अपांग क्यों बनाया जाए? व्यक्ति की यह तिरस्कार की प्रवृत्ति सिर्फ भिक्षुकों के प्रति ही नहीं बल्कि कूड़ा बीनने वाले, रेहड़ी पटरी वाले, बेघरों, बेसहारों के प्रति भी रहती है। व्यक्ति यह भूल जाता है कि यह समुदाय तो समाज में पहले से ही तिरस्कृत है। समाज में तिरस्कार के साथ ऐसे समुदाय को राज्य सरकारें अपराधी की श्रेणी में स्वीकार करती हैं, उदाहरणार्थ बॉम्बे प्रिवेंशन आफ बेंगिंग एक्ट 1959 किंतु बाद में इस संदर्भ में दिल्ली हाईकोर्ट द्वारा राम लखन बनाम राज्य 2006 के निर्णय में भिखारी समाज को अपराध व तिरस्कार की श्रेणी से बाहर निकाला गया।

प्रारंभिक सभ्यताओं में दान देना एक पवित्र एवं सम्मान जनक कार्य माना जाता था। धार्मिक कार्यक्रमों में भी भिक्षा देने की एक प्रथा थी, किंतु भिक्षावृत्ति का वर्तमान स्वरूप प्राचीन सभ्यताओं में परिलक्षित नहीं होता। भिक्षावृत्ति की मूल

समस्या सामाजिक आर्थिक प्रणाली की संरचना में अंतर्निहित है। भारत में संगठन के स्तर पर कुछ अराजक तत्वों ने भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहित किया है। भिक्षावृत्ति विषय वस्तु पर अध्ययन के संदर्भ में पूर्व में कई विमर्श हुए हैं जैसे कुमार अप्पा (1945) द्वारा मार्मिक समस्या के रूप में, तिरुमलाई (2004), आजाद इंडिया फाउंडेशन (2010), साहनी (2011) इत्यादि। भीख मांगने की समस्या बहुत ही भयावह है, विशेषकर विकासशील देशों में। विकासशील देशों में भारत का स्थान सर्वोपरि है। यहां जनसंख्या का बड़ा हिस्सा भीख मांगने में शामिल होता है, जिससे देश की प्रगति अवरुद्ध रहती है।¹ भिक्षावृत्ति को सामान्यतः एक कला धननिपुणता के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसमें संबंधित व्यक्ति बिना कोई श्रम किए धन अर्जित करता है। बॉच्चे प्रिवेंशन आफ बैगेंग एक्ट 1959 में भीख शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि भीख का अर्थ है सार्वजनिक स्थान पर भिक्षा मांगना या प्राप्त करना। यह कार्य गायन, नृत्य किसी भी चौट, अपंगता, बीमारी या किसी जानवर का प्रदर्शन इत्यादि द्वारा हो सकता है। भीख का कार्य ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा होता है जिसके पास निर्वाह या भटकने का कोई दृश्य साधन ना हो।² उत्तर प्रदेश भिक्षावृत्ति निषेध अधिनियम 1975 में भी भिखारियों की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भीख संज्ञानात्मक व्यक्तियों और व्याकरणीय विविधताओं के साथ याचना करना है। इसमें सार्वजनिक स्थान पर भिक्षा प्राप्त किया जाता है।³ कुछ अपवादों को छोड़कर भिक्षावृत्ति में सम्मिलित व्यक्ति सामान्यतः शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ होते हैं। वह अनेक प्रकार के रूपकों द्वारा ढोंग करते हैं जिससे समुख खड़े व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा उसे दया की दृष्टि से देखा जाए और कुछ आर्थिक मदद दी जाए। भिक्षुकों में ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रभाव देखे जाते हैं, जिससे वह दूसरों को प्रभावित कर लेते हैं। भिक्षावृत्ति करने वाले व्यक्ति में स्वावलंबन की अपेक्षा परावलंबी की प्रवृत्ति देखी जाती है। भिक्षावृत्ति करने वाला व्यक्ति किसी शारीरिक व मानसिक समस्या, पारिवारिक समस्याओं, धार्मिक आयोजनों, प्राकृतिक आपदा जैसे बाढ़ भूकंप इत्यादि को आधार बनाकर यह कार्य करते हैं।

भारत सरकार ने भी भिखारियों पर नेशनल डेटाबेस बनाने के लिए तैयारियां शुरू कर दी है। नगरपालिका के माध्यम से भिखारियों की संख्या का अनुमान लगाने के लिए बड़े पैमाने पर तैयारी की जा रही है। भारत सरकार के सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय द्वारा 2016

के लोकसभा में पूछे गए प्रश्न के उत्तर में भारत में भिक्षावृत्ति करने वाले लोगों का जनसंख्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया। इस आंकड़े को प्रेस इनफॉरमेशन ब्यूरो (पीआईबी) ने 14 दिसंबर, 2021 को प्रकाशित किया। पीआईबी की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 2011 की जनगणना के अनुसार 413670 भिखारी हैं। इनमें महिलाओं की संख्या 191997 है तथा पुरुषों की संख्या 221673 है। इस आंकड़े में अभी ट्रांसजेंडर भिखारियों की संख्या को शामिल नहीं किया गया है। प्रादेशिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो भिखारियों की सर्वाधिक संख्या 65835 उत्तर प्रदेश में है। प्रेस इनफॉरमेशन ब्यूरो द्वारा जारी किया गया आंकड़ा निम्नवत है।⁴

साधारणतया सामान्य व्यक्ति द्वारा भिक्षुकों को कई वर्गों में विभाजित किया जाता है जैसे विकलांग, बच्चे, गरीब इत्यादि पश्चिमी देशों में भिक्षावृत्ति को भारत व चाइना की तरह समस्या नहीं माना जाता इरविन सेंट जॉन ट्रकर ने पाश्चात्य देशों के संदर्भ में भिक्षुक समुदाय को मुख्यतः 3 समूहों में विभाजित किया है-1. होबो (प्रवासी मजदूर), 2. ट्रंप (प्रवासी गैर मजदूर), 3. बम्स (स्थिर गैर कार्यकर्ता)

उक्त प्रकारों की भाँति नेल्स एंडरसन ने अपनी पुस्तक “होबो” के पृष्ठ संख्या 265 में बम्स को सबसे निचले स्तर का गृहविहीन भिक्षुक माना है।⁵ भारतीय संदर्भ में भिक्षुकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, बच्चे भिखारी, द्वितीय, शारीरिक अपांग भिखारी, तृतीय, बोगस धार्मिक भिखारी, चतुर्थ, जनजाति भिखारी, पंचम, बेरोजगार भिखारी, षष्ठ, छोटे व्यापार से जुड़े भिखारी, सप्तम, रोजगार योग्य बेरोजगार भिखारी इत्यादि।⁶ भिक्षावृत्ति के संदर्भ में कोई केंद्रीय कानून नहीं है, किंतु मुंबई भिक्षावृत्ति निरोधक कानून 1959 मुंबई विधानसभा में 1960 में पारित हुआ और इसका विस्तार 20 राज्यों व 2 केंद्र शासित प्रदेश तक हुआ। केंद्र शासित प्रदेशों में एक दिल्ली भी इसके अंतर्गत था। इस अधिनियम के अनुसार “भीख मांगना एक अपराध है”। इस अधिनियम में स्पष्ट प्रावधान है कि सरकार किसी भी व्यक्ति को इस आधार पर गिरफ्तार कर सकती है कि वह भिखारी जैसा दिखता है। इस अधिनियम का दुष्परिणाम यह हुआ कि कई ऐसे लोगों की गिरफ्तारियां हुईं जो रंग में सांवले, गरीबी के कारण गंदे कपड़े पहने हुए थे किंतु गिरफ्तार व्यक्ति भिक्षावृत्ति के कार्य में शामिल नहीं थे।⁷ भिक्षावृत्ति का मामला वैसे तो कई बार न्यायालय के संज्ञान में आया किंतु दिल्ली हाईकोर्ट का 5 दिसंबर, 2006 का “राम

लखन बनाम स्टेट मामला’ कई मायनों में महत्वपूर्ण है। दिल्ली हाई कोर्ट के निर्णय से पूर्व में छापेमारी के दौरान एक भिखारी गम लखन को गिरफ्तार कर दोषी करार दिया गया तथा किसी संस्था में भेजने के स्थान पर तिहाड़ जेल में डाला गया। दिल्ली हाईकोर्ट के न्यायाधीश बदर दुरेज अहमद ने पाया कि कई मामलों में कोर्ट भिखारियों को गिरफ्तार करने के पश्चात् उचित न्यायिक प्रक्रिया का पालन नहीं कर रहा। मुंबई प्रीवेंशन आफ बेगिंग एक्ट (बीपीबीए) 1959 में प्रावधान था कि भिखारी को प्रथम बार पकड़े जाने पर 3 वर्ष एवं अगली बार पकड़े जाने पर 10 वर्ष का कारावास होगा। दिल्ली उच्च न्यायालय ने उक्त पूर्ववर्ती निर्णयों को खारिज कर दिया, किंतु राम लखन के निर्णय में कोर्ट ने यह स्वीकार किया कि जबरन भीख मंगवाने वालों पर कड़ी कार्याही होगी। दिल्ली हाईकोर्ट ने स्पष्ट कहा कि भिखारी भी इंसान हैं और उनके साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। कोर्ट ने स्पष्ट किया कि भिखारियों को भी अनुच्छेद 14ए अनुच्छेद 19ए अनुच्छेद 21 के तहत संविधान मौलिक अधिकार देता है तथा कल्याणकारी राज्य की संकल्पना भिखारियों पर भी लागू होती है। न्यायालय ने भिखारी व भीख मांगने जैसे शब्दों का स्पष्टीकरण किया तथा याचिका में बॉम्बे प्रिवेंशन ऑफ बेगिंग एक्ट 1959, पंजाब प्रिवेंशन ऑफ बेगरी एक्ट 1971, हरियाणा प्रिवेंशन ऑफ बेगिंग एक्ट, 1971 और बिहार प्रिवेंशन ऑफ बेगिंग एक्ट, 1951 के कुछ धाराओं को छोड़कर सभी प्रावधानों को ‘‘गैरकानूनी और शून्य’’ घोषित करने के निर्देश दिये गए हैं।⁸

भिक्षावृत्ति जैसी समस्या के संदर्भ में हिंदी साहित्य के मूर्धन्य कवि अब्दुल रहीम खान-ए-खाना (रहीम दास) ने लिखा है कि भिक्षावृत्ति करने वाले मनुष्य मृत समान हैं। आगे उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि यदि कोई व्यक्ति भिक्षावृत्ति के लिए हाथ फैला ही दे तो प्रत्युत्तर में उसे कुछ देने से मना करने वाला मनुष्य उससे भी निम्न कोटि का है। इसी संदर्भ में वे कहते हैं—

“रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनसे पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥”

भारत के भिखारी कई समस्याओं से भी ग्रसित हैं जैसे भोजन और आश्रय का अभाव, खराब स्वास्थ्य स्थिति, स्वच्छता का पर्याप्त अभाव, चिकित्सा सुविधाओं का उपलब्ध ना होना, निरक्षरता इत्यादि। भारतीय संदर्भ में भीख मंगवाने वाली संस्थागत समस्याओं (रेकेट) को भी देखा जाता है। संस्थागत भिक्षावृत्ति को मानव तस्करी के

समकक्ष माना जाए और इसके निदान हेतु अंतरराज्यीय प्रयास की आवश्यकता है। शारीरिक मानसिक आर्थिक अक्षमताओं की वजह से भिक्षावृत्ति में शामिल व्यक्तियों का पुनर्वास एवं रोजगार प्रदान कर आत्मनिर्भर बनाने की आवश्यकता है। दिल्ली हाईकोर्ट भी मानता है कि ऐच्छिक भिक्षावृत्ति और संस्थागत भिक्षावृत्ति में भेद किया जाए तथा इनके निदान हेतु अलग-अलग वृष्टिकोण से कार्य किया जाए। केंद्र सरकार द्वारा 2016 में द पर्सन इन डेस्टीट्यूशन प्रोटेक्शन केरार रिहैबिलिटेशन बिल 2016 लाया गया किंतु बिल को अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी। इस संदर्भ में पुनः प्रयास करने की आवश्यकता है।

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय ने दिनांक 14 जनवरी, 2020 को कुछ महत्वपूर्ण गैर सरकारी संगठनों एवं विशेषज्ञों से चर्चा के उपरांत सात शहरों यथा दिल्ली, बैंगलोर, हैदराबाद, इंदौर, लखनऊ, नागपुर और पटना में भीख मांगने के कार्य में लगे व्यक्तियों के व्यापक पुनर्वास पर प्रयत्न परियोजना शुरू की। यह कार्य राज्य सरकारों संघ राज्य क्षेत्रों, स्थानीय शहरी निकायों और स्वैच्छिक संगठनों आदि के सहयोग से कार्यान्वित किया जा रहा है, जो सर्वेक्षण और पहचान, लामबंदी, पुनर्वास, चिकित्सा सुविधाओं के प्रावधान, जागरूकता सृजन, परामर्श, शिक्षा, कौशल विकास सहित व्यापक उपाय प्रदान करते हैं। मंत्रालय ने एक योजना “मुस्कान - आजीविका उद्यम के लिए सीमांत व्यक्तियों के लिए समर्थन” तैयार की है, जिसमें एक उप-योजना—‘भीख मांगने के कार्य में लगे व्यक्तियों के व्यापक पुनर्वास के लिए केंद्रीय क्षेत्र योजना शामिल है। इस योजना में कई व्यापक उपाय शामिल हैं जिनमें भीख मांगने के कार्य में लगे व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी उपाय शामिल हैं।⁹

वैसे तो कई प्रदेश सरकारों ने भिखारियों के कल्याण हेतु अनेक प्रयास किए किंतु उन प्रयासों में राजस्थान सरकार द्वारा दिसंबर, 2020 में लाया गया प्रोजेक्ट BHOR (भिक्षुक औरियंटेशन एंड रिहैबिलिटेशन मिशन) अत्यंत सराहनीय है। यह राजस्थान सरकार के कौशल विकास और उद्यमिता मंत्रालय का संकल्प कार्यक्रम है। भोर एक बहुस्तरीय योजना है, जिसके अंतर्गत पुलिस भिखारियों की पहचान कर, संकट से बचाकर भोर केंद्र पर लाते हैं। फलतः यहां उन्हें स्वास्थ्य जांच, कौशल विकास प्रशिक्षण, नशा मुक्ति कार्यक्रम जैसी अनेक सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। प्रशिक्षण के दौरान उन्हें प्रधानमंत्री सुरक्षा बीमा योजना का भी लाभ दिया जाता है। इस कार्यक्रम ने भिखारियों को

जीवन यापन करने और एक सभ्य जीवन जीने का अधिकार दिया है। प्रशिक्षण के परिणाम स्वरूप भिखारियों में आत्मविश्वास, आजीविका हेतु सम्मान प्रतिबद्धता देखी जा रही है।¹⁰

प्राचीन सभ्यता का पवित्र शब्द “दान” कालांतर में समय के साथ एक समस्या मूलक अवधारणा “भिक्षावृत्ति” के रूप में परिलक्षित हुआ। वैसे तो आधुनिक समाज में भिक्षावृत्ति को एक समस्या, निरीह कार्य के रूप में देखा जाता रहा है किंतु 1959 के मुंबई बेगिंग एक्ट ने भिक्षुक समाज को औपचारिक व कानूनी तौर पर अपराधी घोषित कर दिया। फलतः भिक्षुक समाज की प्रस्थिति में लंबवत अधोमुखी सामाजिक गतिशीलता (downward vertical social mobility) देखी गयी। लगभग 45 से 50 साल तक कानूनी दृष्टि से इन्हें समाज इसी रूप में देखता रहा किंतु 2006 में दिल्ली हाई कोर्ट के निर्णय के बाद इनकी प्रस्थिति में सकारात्मक बदलाव ऊर्ध्वमुखी लंबवत सामाजिक गतिशीलता (upward vertical social mobility) देखा गया। इन्हें समाज में सम्मान के साथ जीवन जीने का अधिकार मिला। केंद्र, राज्य व गैर सरकारी संगठनों के विभिन्न प्रयासों से भिक्षुक समाज शारीरिक, मानसिक, और आर्थिक स्तर पर सशक्त हुआ परिणामतः इनके व्यापक पुनर्वास व रोजगार के संदर्भ में गतिशीलता देखी जा रही है। फिर भी अभी इनके विकास की असीम संभावनाएं हैं। साथ ही भिक्षुक समाज के ट्रांसजेंडर समुदाय को चिन्हित कर जनांकीकीय आंकड़े एकत्र कर इन्हें भी विकास की मुख्यधारा से जोड़ने की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

- इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मैनेजमेंट एंड सोशल साइंसेज रिसर्च (आई.जे.एम.एस.आर.), दिसंबर 2013
- वॉम्बे प्रिवेंशन आफ बेगिंग एक्ट 1959 (मुंबई एक्ट एक्स ऑफ 1960, 2 जून, 1960 को भारत के गजट में प्रकाशित)
- उत्तर प्रदेश भिक्षावृत्ति निषेध अधिनियम 1975 के प्रथम अध्याय से उद्धृत
- दिनांक 08 मार्च, 2016 को लोकसभा में पूछे गये प्रश्न संख्या 1831 के संदर्भ में प्रेस इनफार्मेशन ब्यूरो (PIB) की रिपोर्ट (आंकड़े 2011 की जनगणना पर आधारित)
- कुमारपा जे. एम. द्वारा संपादित पुस्तक, “आवर बेगर प्रॉब्लम-हाउ टू ट्रेकल इट”, में उल्लिखित एंडरसन, नेल्स. होबो, पृष्ठ 265
- कुमारपा जे एम द्वारा संपादित पुस्तक “ऑवर बेगर प्रॉब्लम : हाउ टू ट्रेकल इट” में कात्यायन एच कामा द्वारा लिखित प्रथम अध्याय से उद्धृत
- वॉम्बे प्रिवेंशन आफ बेगिंग एक्ट 1959 (मुंबई एक्ट एक्स ऑफ 1960, 2 जून, 1960 को भारत के गजट में प्रकाशित)
- राम लखन बनाम राज्य का निर्णय, 5 दिसंबर, 2006 (बंच, बीड़ी अहमद, दिल्ली हाईकोर्ट)।
- प्रेस इनफार्मेशन ब्यूरो (पीआईबी) द्वारा प्रकाशित 14 दिसंबर, 2021 की रिपोर्ट
- प्रोजेक्ट BHOR (भिक्षुक ओरियेंटेशन एंड रिहैबिलिटेशन मिशन), राजस्थान सरकार, दिसंबर 2020, सरोकारय राज्य सभा टी.वी. सितंबर 2018, एंडरसन, नेल्स होबो : द सोशियोलॉजी ऑफ द होमलेस मैन

—विनय कुमार सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर समाजशास्त्र,
एच.आर.पी.जी. कॉलेज, खलीलाबाद
संतकबीर नगर, उत्तर प्रदेश-272175
मोबाइल नंबर- 919818688325
ईमेल : VINAYS635@GMAIL.COM

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री मुकित के प्रसंग : एक दृष्टि

—डॉ. अखिलेश कुमार

कृष्णा जी का परवर्ती लेखन स्त्रियों के सामाजिक उत्थान और उनमें अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने की लालसा एवं क्षमता पर केन्द्रित रहा है। ‘मित्रो मरजानी’ की मित्रो, ‘दिलोदानिश’ की छुत्रा, ‘समय सरगम’ की आरण्या, ‘यारों के यार’ की तमन्ना और तमाशा, ‘ऐ लड़की’ की अम्मू और लड़की, ‘जैनी मेहरबान सिंह’ की जैनी, ‘सूरजमुखी अँधेरे के’ की रत्ती आदि पात्रों में स्त्री-मुकित के विभिन्न पक्ष जीवन्त रूप में मुखरित होते दिखाई पड़ते हैं। सुविधा की दृष्टि से कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री-मुकित के प्रसंगों को कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं के अन्तर्गत निम्नलिखित रूप में विवेचित किया जा सकता है—(1) निर्णय का अधिकार, (2) अस्तित्व की पहचान का अधिकार, (3) मातृत्व सम्बन्धी निर्णय का अधिकार, (4) स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार। सामाजिक रूप से स्त्री को व्यक्तिगत अथवा सामाजिक-किसी भी प्रकार का निर्णय लेने से अलग रखा गया है। उसके आचार-विचार, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, विवाह, प्रेम-सम्बन्ध आदि सभी विषयों पर पारिवारिक और सामाजिक प्रतिबंध जारी हैं। स्त्री-मुकित के संदर्भ में इन सभी विषयों पर स्त्री को अपनी इच्छानुसार निर्णय लेने का अधिकार मिलना चाहिए। कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों में इन सभी विषयों को परम्परा और प्रगति-दोनों रूपों में चित्रित किया है। उदाहरण के लिए स्त्री के विवाह सम्बन्धित अधिकार को उन्होंने एक ओर तो परम्परा के आइने में दर्शाया है और दूसरी ओर आधुनिक समाज में विकसित हो रही स्त्री-चेतना को स्वीकृति के आधार पर प्रस्तुत किया है। कृष्णा सोबती ने विवाह को एक आदर्श पारिवारिक व्यवस्था का आधार माना है और इसीलिए उनके उपन्यासों में अधिकांश में दाम्पत्य के आदर्श रूप का चित्रण हुआ है तथापि यथार्थ स्थिति को दिखाने के लिए उन्होंने पाशों जैसे नारी पात्र का सुजन किया है। पाशों एक ऐसी परम्परागत स्त्री है जिसका जीवन आत्मनिर्णय और विवेकाधिकार से सर्वथा रहित है, जो लगातार एक पुरुष से दूसरे पुरुष के साथ बाँधी जाती रहती है। चोट पर चोट खाकर भी अपने भाग्य को कोस कर रह जाती है। उसके विचारों में स्त्री को दिये गये परम्परागत भाग्यवादी संस्कार स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—“मुझ खोटी के नक्षत्र ही बुरे हैं तो क्या दोष बरकत दीवान का और क्या दोष मेरे बैरियों का”¹ पाशों आगे कहती है—“पिछले जन्म पाप

किये होंगे, दुःखियारों को और दुःखाया होगा, सताये हुए को और सताया होगा, नहीं तो जीते जी दीवानों की घर वाली की यह हालत होती ।”² कुटुम्बप्यारी, शाहनी, धनवंती, सुहागवंती, फूलावंती, दादी माँ, अम्मू, जनको आदि सभी नारी पात्रों को विवाहिता दिखाया गया है और इनमें से किसी के लिए भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने अपनी पसंद से विवाह किया था अर्थात् सभी का विवाह पारम्परिक रूप से परिवार वालों की इच्छा से ही हुआ था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि इन सभी का जीवन अधिकांश में संतुष्टिपूर्ण दिखाया गया है, विशेष रूप से शाहनी (जिन्दगीनामा) और धनवंती (मित्रो मरजानी) का दाम्पत्य जीवन आदर्श दाम्पत्य का उदाहरण है, जिसमें पति-पत्नी दोनों एक-दूसरे के प्रति दायित्वबोध से समर्पित हैं और अपनी-अपनी व्यवहार सीमा में हर प्रकार के निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हैं। यह लेखिका का परिवार व्यवस्था के प्रति निजी आदर्शात्मक दृष्टिकोण है जिसे उसने ‘ऐ लड़की’ की प्रमुख पात्र अम्मू के माध्यम से व्यक्त किया है। अम्मू में नये और पुराने जीवन मूल्यों का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है। वह स्त्री स्वार्त्य की पक्षधर है और अपनी पुत्री को अपनी पसंद से विवाह कर लेने के लिए कहती है। उसने अपने बच्चों को पढ़ाया-लिखाया है और पुत्री के आत्मनिर्भर हो जाने पर बहुत संतोष का अनुभव करती है लेकिन पुत्री का अविवाहित रहने का निर्णय उसे चिंता और अवसाद से भर देता है। उसकी दृष्टि में स्त्री की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि वह आजादी के बहाने परिवार-व्यवस्था को ही त्याग दे। वह परिवार-व्यवस्था को सामाजिक विकास का सर्वोत्तम रूप मानती हैं और पति-पत्नी के रूप में स्त्री-पुरुष के सहयोग, प्रेम और उत्तरदायित्व से निर्यन्त्रित पारस्परिक व्यवहार को श्रेयस्कर बताती हैं। अम्मू अपने परिवार को एक ऐसी नरसरी के रूप में दिखाती है जहाँ स्त्रियों को स्वतंत्रता देने और अधिकारयुक्त बनाने का बीजारोपण चल रहा था, “जी मैं खुशी हुई कि ढाँग से निभ पायेगी। तुम्हारे पिता स्वभाव के नर्म और संयम वाले थे। मुझ पर बेकार ही रोक-टोक नहीं थी। हाँ, परिवार की जो अपनी मान-मर्यादा थी, उसे काटने-छाँटने की कोई छूट नहीं थी। बराबरी की बात मैंने इनके घर में आकर सीखी-समझी। इनके घर में लड़की-लड़के में कोई भेदभाव नहीं था।”³ अम्मू के रूप में कृष्णा सोबती ने एक ऐसी स्त्री को प्रस्तुत किया है जिसे निर्णय लेने के अधिकार प्राप्त तो हैं किन्तु परिवारिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने वाले निर्णय उसे पसन्द नहीं हैं।

अम्मू के विपरीत उसकी लड़की विशुद्ध आधुनिकतावादी

है जिसे अपने जीवन में किसी की कोई दखलअन्दाजी स्वीकार नहीं है। उसके रूप में लेखिका ने आधुनिक युग की एक ऐसी नारी को सामने रखा है जो उन्मुक्त और स्वतंत्र जीवन जीने की पक्षधर है। लड़की जीवन भर अकेली रहने का निश्चय करती है। वह आधुनिक कामकाजी कमाऊ नारी की प्रतिनिधि है जो विवाह न करके जीवन की सार्थकता तलाशती है। डा. आशा दत्तात्रेय कॉम्बले के विचार अम्मू की लड़की की जीवन दृष्टि के सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं जो आधुनिक स्त्री के विवाह और परिवार व्यवस्था के प्रति लिए जाने वाले निर्णय और उसके लिए अपेक्षित अधिकारों को स्पष्ट करते हैं—‘लड़की स्त्री स्वतंत्रता की पक्षधर है। स्त्री के भीतर एक स्त्री की खोज। परम्परागत रुढ़ियों और मान्याओं के नीचे दबी हुई स्त्री मन की समस्त वर्जनाओं को नकारती है। एक नये आत्मविश्वास की दृढ़ता के साथ अपने नये सुखद जीवन को गढ़ने में संघर्षरत लड़की दिखाई देती है।’⁴ विवाह के निर्णय के सम्बन्ध में कृष्णा सोबती का ‘समय सरगम’ उपन्यास भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपन्यास की नायिका आरण्या आत्मनिर्भर स्त्री है। उसने भी अविवाहित जीवन बिताने का निर्णय लिया है और एकाकी रहते हुए वृद्धावस्था में पहुँच गई है। अपने जीवन को लेकर न तो उसे कोई पछतावा है और न ही कोई संकोच। वह अपने एकाकी जीवन से पूर्णतः संतुष्ट है। प्रकृति के सानिध्य में वह अपने जीवन को किसी फुलवारी के समान गुंजायमान रखने का प्रयास करती है। उसका स्वगत चिंतन उसके अपने जीवन के प्रति संतुष्टि भाव को व्यक्त करता है, “अपने आगे किसी के न होने के बहाने इस दुनिया का शृंगार, धूप-छाँह, हवा-पानी, चाँद-सूरज सब अपनी स्थिति में हैं और लिखित की पंक्ति में भी। देखने को क्या नहीं। आरण्या ने हाथ बढ़ाकर खिड़की खोली। बहती रहे धूप-सनी हवाओं! जब तक जीती हूँ मुझ तक पहुँचती रहो! मैं अपने निज के समय को गुंजायमान रखना चाहती हूँ। जो भी प्रतिफलित है, सृजित है, अक्षरों की क्यारी में उसी को अंकित करना चाहती हूँ।’⁵ इसीलिए जब ईशान उससे परिवार की महत्ता और आवश्यकता पर अपने अनुभवसिद्ध तर्क रखता है तो वह उन तर्कों को स्वीकार नहीं करती और अपने एकाकी जीवन को औचित्यपूर्ण बताती है, “मेरे आस-पास मेरा परिवार नहीं फैला हुआ कि मैं अपने में माँ, नानी, दादी की बूढ़ी छवि को देखने लगूं ईशान, मुझे मेरा अपनापन निरन्तरता का एहसास देता है।’⁶ ‘दिलोदानिश’ की छुत्रा और ‘जैनी मेहरबान सिंह’ की जैनी—ये दोनों नारी पात्र भी विवाह के सम्बन्ध में भी स्वयं निर्णय लेते हैं। दोनों ही अपनी पसन्द

के पुरुषों से विवाह करती हैं। जैनी का विवाह तो उसके पैतृक खानदान के शत्रु परिवार में होता है जो माता-पिता की इच्छा के अनुसार कदापि सम्भव नहीं था। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि कृष्णा सोबती ने स्त्री-मुक्ति के पक्षधर के रूप में लेखन किया है। उन्होंने आधुनिक समाज में स्त्रियों को विवाह और वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित विषयों में स्वयं निर्णय लेने के अधिकार की वकालत की है। यह भी ध्यातव्य है कि उन्होंने परिवार-व्यवस्था का समर्थन किया है और पति-पत्नी के बीच प्रेम, सहयोग, समर्पण और एक-दूसरे की भावनाओं को समझते हुए उदात्त व्यवहार करने का आग्रह सामने रखा है। बराबरी और अधिकार के नाम पर परिवार में कलह का वातावरण उत्पन्न करना उन्हें प्रयोज्य नहीं है।

समाज में स्त्रियों की जिन समस्याओं का चित्रण साहित्यकारों ने बार-बार किया है उनमें से एक बहुत बड़ी समस्या है—स्त्री के अस्तित्व की पहचान। आधुनिक युग में समाज सुधारकों और चिंतकों के साथ-साथ स्वयं नारियों ने भी इस बात पर जोर देना शुरू किया है, ‘‘जब तक नारी स्वयं अपने हितों की रक्षा के लिए आगे नहीं आयेगी तब तक न समाज में नारी जागृति की बातों को व्यापक समर्थन मिल सकता है और न राष्ट्र स्त्रियों का सहयोग पाने की आशा कर सकता है।’’⁷ कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों में स्त्री के अस्तित्व की पहचान और उसे सामाजिक जकड़नों से मुक्ति दिलाने का पूर्ण प्रयास किया है। उनके नारी-पात्र पुरुषों के हाथों की कठपुतली नहीं हैं बल्कि वे अपने अस्तित्व को पहचानने और उसे अलग रूप देने में लगे हुए हैं। ‘‘दिलोदानिश’’ की नायिका महकबानों अपनी पूरी जिन्दगी अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए संघर्ष करती दिखाई देती है। वह इस बावजूद पूरी तरह से वाकिफ है कि बिना संघर्ष किये स्त्रियों को कुछ मिलने वाला नहीं है। अस्तित्व के प्रति उसका सार्थक चिंतन उसके इन शब्दों में द्रष्टव्य है, ‘‘आज से पहले तो हम औरत भी तो नहीं थे। ओढ़नी थे, अमियाँ थे, सलवार थे। जूरी अपनी थी और पाँव किसी को सौंप रखे थे।’’⁸ अपने बारे में, अपने हकों के बारे में लगातार सोचते और संघर्ष करते-करते उसमें इतना साहस आ जाता है कि वह अपने बेटे को डाँटते हुए कहती है, ‘‘अपनी समझ अपने पास ही रखिए। दौड़कर जाइये और हमारा पैगाम खाँ साहिब को दीजिए। कुछ घपला किया तो हमसे बुरा कोई न होगा? हक माँगना अगर लड़ाई है तो दूसरों का हक मारना भी बैइंसाफी है।’’⁹ दिलोदानिश में महकबानों को न केवल अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाए रखने के लिए

संघर्ष करते दिखाया गया है बल्कि उसे अपनी पुत्री के भविष्य को भी सुरक्षित रखने की चिंता में तत्पर दिखाया गया है। जब कृपानारायण उसके सामने प्रस्ताव रखते हैं कि मासूमा को भी गीत संगीत और नृत्य में कुशल होकर अपनी माँ की विरासत सम्भालनी चाहिए तो वह उसका प्रतिकार करते हुए कहती है, ‘‘नहीं, हम अपने बच्चों की खातिर हरगिज ऐसा न करेंगे।’’¹⁰

स्त्री के अस्तित्व की पहचान का मुद्रा उसके जीवन के बहुत सारे क्षेत्रों में फैला हुआ है। इसे लक्षित करता हुआ यह कथन द्रष्टव्य है, ‘‘मालिक जो करे सो ठीक और बोले तो उसे औरतों के कायदे-कानून, धर्मशास्त्र, रस्मों-रिवाज और खानदानी परम्परा, मर्यादा, इज्जत और खानदानी मान-सम्मान के पाठ पढ़ा दिये जायेंगे, जो हवेती के मर्दों में न जाने कब से सम्भाल कर रखे हुए हैं?’’¹¹ कृष्णा सोबती के उपन्यासों में यह स्थिति तो दिखाई गई है कि नारी के हिस्से में अधिकांश में शोषण, परतंत्रता और पीड़ा ही आई है परन्तु उनके उपन्यासों की अधिकांश नायिकाएँ एवं अन्य स्त्री-पात्र मात्र रोते-कलपते नहीं बल्कि वे अपने को सबके सामने रखने के लिए और अधिकारपूर्ण जीवन जीने के लिए संघर्ष करते हैं। ‘‘दिलोदानिश’’ की महकबानों अपनी पुत्री का विवाह करके उसे एक सुरक्षित भविष्य देना चाहती है परन्तु जब उसके सामने यह शर्त रखी जाती है कि विवाह के बाद उसकी पुत्री उसके घर नहीं आयेगी। वकील कृपानारायण का घर ही उसका मायका माना जायेगा। इस पर महकबानों विरोध की मुद्रा में आ जाती है और कहती है, ‘‘हम अपनी बेटी की माँ हैं। हर माँ को अपने बच्चों के लिए ममता होती है। हमसे ये उम्मीद करना कि मासूमा की शादी के बाद उसे हम देख ही न पाये...।’’¹² स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता की पहचान का मुद्रा कृष्णा सोबती के उपन्यास ‘‘मित्रो मरजानी’’ में भी दिखाई पड़ता है। मित्रों का जीवन एक ऐसी संघर्षशील और प्रतिरोध करने वाली साहसी नारी का जीवन है जो अपनी सत्ता और अपने अधिकारों को लेकर उस सीमा तक सजग है जिसे सामान्य शब्दों में ‘‘बोल्डनेस’’ कहा जाता है।

स्त्री की स्वतंत्र पहचान को लेकर लिखी गई फिल्मी पटकथा ‘‘जैनी मेहरबान सिंह’’ भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें जैनी के रूप में एक ऐसी स्त्री को उपस्थित किया गया है जो समाज में वैसा ही अधिकार और मान-सम्मान रखती है जैसाकि परिवार के पुरुष पात्र रखते हैं। उसकी पृष्ठभूमि भारतीय है परन्तु शिक्षा और संस्कार कनाडा के हैं। उसे अपने परिवार से बहुत लगाव है और पारिवारिक सम्बन्धों को मजबूत करने की ललक भी उसमें है।

आवश्यकता पड़ने पर वह सिर पर पल्लू भी रखती है लेकिन उसे दोस्तों के साथ गाँव के किनारे बहती नहर में नहाने और तैरने में भी कोई हिचक नहीं है। एक आदर्श पुत्री की भाँति वह पिता की इच्छाओं का सम्मान करती है साथ ही स्वतंत्रतापूर्वक अपने बारे में सारे निर्णय भी स्वयं लेती है। उसके व्यक्तित्व को दर्शाते दो चित्र दृष्टव्य हैं, “अजीब बात है जिस घर जिस धरती को हमेशा पापा की आँखों से देखा, वह सचमुच में पराई नहीं लगती। मुझे यहाँ पराया नहीं लगेगा, पापा जरूर इतना जानते होंगे। दिल के अन्दर झाँकती हूँ तो लगता है कि पापा की बेटी हूँ, बाहर देखती हूँ तो महसूस होता है कि दादी जी की बच्ची हूँ, सिर्फ यहाँ का आसमान नया लगता है।”¹³ सोबती जी आगे लिखती है—“सुनहरे बालों वाली लड़की के करतब देख-देख पट्टीवाल और आसपास के इलाके में तहलका मच गया। जैनी कभी चुस्त पोशाक में घोड़ा दौड़ाती निकलती, कभी जीप चलाती, कभी खेत पर ट्रैक्टर और कभी स्विमिंग के लिए नहर की ओर निकल जाती। हर कुछ करने में एक अन्दाज, एक अदा।”¹⁴

स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व और अस्मिता को चित्रित करने की दृष्टि से ‘समय सरगम’ उपन्यास की नायिका आरण्या का व्यक्तित्व भी उल्लेखनीय है। वृद्धावस्था की ओर बढ़ चुकी आरण्या को बुढ़ापे की तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह वर्तमान में जीने वाली स्त्री है। बुढ़ापा, रोग, शोक आदि की बातों से उसे ऊब होती है। वह ईशान से बातचीत के क्रम में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहती है, “हम हैं तो समय है। हमारी ही चेतना में संचित है हमारा काल-आयाम। हम हैं क्योंकि धरती है, हवा है, धूप है, जल है और है यह आकाश। इसलिए हम जीवित हैं। भीतर और बाहर सब कुछ, सब कुछ को अपने में सँजोए विलीन हो जाने को पल-पल अनन्त में।”¹⁵ आरण्या स्त्री-स्वतंत्रता की प्रबल पक्षधर है। उसकी निजता ही उसकी अपनी पहचान है। वह अपने व्यक्तित्व को किसी के साथ विलीन होते नहीं देख सकती। यहाँ तक कि उसे परिवार भी स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए बाधक लगता है। इसीलिए वह अपना स्वतंत्र जीवन बिताने का निर्णय लेती है। ईशान, आरण्या को परिवार का महत्व समझाते हुए कहता है कि परिवार सुरक्षा का एक नीड़ है और एक-दूसरे को सहारा देने वाली घनी ज्ञाड़ भी। इसका प्रतिकार करते हुए आरण्या कहती है कि, “जो संरक्षण आत्मविश्वास कुरेदता चले उसे सराहने में क्या तुक है भला!”¹⁶ आरण्या ईशान से लगाव रखती है और उसका साथ पसन्द करती है परन्तु उसे अपने व्यक्तित्व का अंग नहीं बनाना चाहती।

अपने जीवन के सारे निर्णय वह स्वयं लेती है। उसने अपने उद्यम से फ्लैट खरीदा था और उसे बेचने का निर्णय भी इस प्रकार अचानक किया कि उसके बहुत करीब रहने वाले ईशान को भी इसकी भनक नहीं लगने पाई। स्त्री की स्वतंत्रता और उसकी अपनी पहचान पर विमर्श प्रस्तुत करने वाली रचना ‘ऐ लड़की’ भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें एक वृद्धा माँ और उसकी विवाह योग्य हो चुकी लड़की चित्रा के वैचारिक वार्तालाप ही आद्योपान्त है। वृद्धा माँ अस्वस्थ है और वह चाहती है कि उसकी बेटी विवाह करके अपना घर बसा ले। माँ की दृष्टि में लड़की को विवाह करके अपने परिवार की देखभाल करनी चाहिए। घर-गृहस्थी, माप-तौल सिखा दी है, लड़की स्वतंत्र जीवन जीने पर अडिग है, वह विवाह के बंधन में पड़कर अपने को किसी पुरुष के वर्चस्व की अधीनता में रहने के लिए तैयार नहीं। वह कहती है, “पुरुष के बदले अब स्त्री का वर्चस्व पुरुष पर स्थापित होना चाहिए। जरूरत तो इस बात की है कि स्त्री को स्वयं अपने बारे में सोचने-विचारने एवं निर्णय का अधिकार मिले।”¹⁷

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों में स्त्री के अस्तित्व की रक्षा के प्रश्न को बहुत अहमियत के साथ उठाया है और विभिन्न नारी पात्रों के क्रिया-कलापों के माध्यम से यह दर्शाया है कि अब समय बदल चुका है। स्त्री अब घर की चहारदीवारी में घुट-घुट कर जीने वाली अबला नहीं बल्कि समाज में पूरे स्वाभिमान और अधिकार के साथ जीने वाली सत्ता है। वह पुरुष की अनुगामिनी नहीं बल्कि उसके साथ बराबरी के दर्जे से चलने वाली सहयोगिनी है जो अवसर मिलने पर हर क्षेत्र में पुरुष से आगे निकलने को तत्पर है।

कृष्णा सोबती ने अपने कई उपन्यासों में स्त्री की मातृत्व शक्ति की खुलकर प्रशंसा की है, साथ ही, भारतीय स्त्रियों के मन में मातृत्व प्राप्त करने की अदम्य लालसा का चित्रण भी किया है। उनके अधिकांश नारी पात्र आदर्श माँ का दायित्व निभाते देखे जा सकते हैं। पाशों, साहनी, धनवंती, कुटुम्बप्यारी, महकबानो आदि सभी पात्र मातृत्व से तृप्त हैं। इन सबमें संतान-प्राप्ति की उत्कट लालसा है और प्राप्त संतानों के प्रति अपार ममता का भाव भी। ‘दिलोदानिश’ की महकबानो अपने रक्षक वकील से कहती है, “दुनिया में दो ही नेमतें हैं साहिब, बेटा और बेटी। आप ने हमें दोनों दिये।”¹⁸ ‘जिन्दगीनामा’ की शाहनी पुत्र-प्राप्ति के लिए पीर फरीद शाह की मजार पर मनौती माँगने जाती है। ‘मित्रो मरजानी’ की मित्रो मातृत्व के चक्कर में पर-पुरुष सम्बन्ध से भी नहीं हिचकिचाती। अपनी गोद में सो रहे

शिशु के सुखद भविष्य के प्रति पाशों का यह ममत्व-भाव भी दृष्टव्य है—‘क्यों जी छोड़ूँ! सिद्धक करूँ तो पलक झपकते लाल मेरा घोड़ी जा चढ़ेगा। आज गोद में है, कल घुटनों चलेगा, परसों जवान हो किसी सोहणी का दूल्हा जा बनेगा।’¹⁹ मातृत्व के निर्णय का अधिकार स्त्रियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। कृष्णा सोबती ने ‘जिन्दगीनामा’ में दिखाया है कि संतानहीन शाहनी के पति के सामने दो विकल्प हैं, या तो वह दूसरा विवाह करें या कोई लड़का गोद लें। इसका निर्णय वह शाहनी पर छोड़ देता है और इसका रूप में लेखिका मातृत्व के निर्णय का अधिकार स्त्री को दिलाती देखी जा सकती हैं। ऐसा ही एक मार्मिक प्रसंग ‘दिलोदानिश’ उपन्यास में आता है जिसमें महकबानों के बच्चों को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए उनकी माँ के रूप में महकबानों की पहचान खत्म कर देने का प्रस्ताव रखा जाता है। महकबानों दृढ़ता से इस बात को नकार देती है और एक तीखा प्रश्न उठाती है, ‘कोई तो कानून माँ के लिए भी बना होगा।’²⁰ ‘मित्रो मरजानी’ की मित्रो मातृत्व के अधिकार को विशुद्ध रूप से स्त्री का अधिकार मानती है। वह संतान प्राप्ति के लिए पति के रूप में किसी विशिष्ट पुरुष को ही आवश्यक नहीं मानती। उसका यह विचार अपनी सास से कहे गये इस कथन में देखा जा सकता है, ‘जिन्द जान का यह कैसा व्यापार कि अपने लड़के बीज डालें तो धर्म और दूसरा डालें तो पाप है।’²¹

कृष्णा सोबती ने मित्रो, रत्ती, तमन्ना, महकबानो आदि पात्रों के माध्यम से स्त्री की यौनिकता से सम्बन्धित अधिकारों का समर्थन किया है। उपर्युक्त विवेचन से कृष्णा सोबती ने स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को बड़ी अहमियत के साथ उठाया है। उन्होंने अपने विभिन्न स्त्री पात्रों के माध्यम से यह सन्देश देने का प्रयास किया है कि स्त्री को अपने स्त्री होने के कारण किसी अपराध-बोध का अनुभव नहीं बल्कि आत्मगौरव का अनुभव करना चाहिए। परिस्थितियों के अनुसार स्त्री को स्वतंत्र निर्णय लेने और उसे क्रियान्वित करने की क्षमता से सम्पन्न होना चाहिए। समाज द्वारा निर्मित की गई रुढ़ि नियमावलियों का अंधानुकरण और उनका पोषण करने वाली परम्परागत तार्किक दृष्टि को त्याग कर प्रत्येक व्यक्ति, रिति, सम्बन्ध आदि को विश्लेषणात्मक ढंग से जानने-परखने का प्रयास करना प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य भी है और अधिकार भी। कृष्णा

सोबती ने स्त्रियों की सामाजिक दशा में सुधार लाने और रुढ़ि मान्यताओं से मुक्ति पाने तथा अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए एक-दूसरे को सचेत करने के दायित्व को भी विशेष आग्रह के साथ प्रस्तुत किया है। शिक्षा के अभाव में सामाजिक विकास और सकारात्मक बदलाव सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने स्त्रियों को पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होने का संदेश भी अपने उपन्यासों के नारी पात्रों के विचारों और व्यवहारों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

संदर्भ सूची

1. कृष्णा सोबती, डार से बिलुड़ी, पृ. 82
2. वही, पृ. 79
3. कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ. 67
4. डा. आशा दत्तात्रेय कॉम्बले, कृष्णा सोबती के कथात्मक साहित्य में नारी पात्र, पृ. 118
5. कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ. 57
6. वही, पृ. 80
7. डा. रोहिणी अग्रवाल, हिन्दी उपन्यास में कामकाजी नारी, पृ. 38
8. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, पृ. 208
9. वही, पृ. 206
10. वही, पृ. 19
11. डा. शहेनाज जाफर बासमेह, कृष्णा सोबती का कथा साहित्य एवं नारी समस्याएँ, पृ. 242
12. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, पृ. 197
13. कृष्णा सोबती, जैनी मेहरबान सिंह, राजकमल पेपर बैक्स, 2009, पृ. 95
14. वही, पृ. 85
15. कृष्णा सोबती, समय सरगम, राजकमल पेपर बैक्स, 2008, पृ. 70
16. वही, पृ. 65
17. कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ. 27
18. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, पृ. 14
19. कृष्णा सोबती, डार से बिलुड़ी, पृ. 77
20. कृष्णा सोबती, दिलोदानिश, पृ. 186
21. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ. 16

—डॉ. अखिलेश कुमार
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय,
लखनऊ (उ.प्र.)

लोकसाहित्य और मुस्लिम समाज

—डॉ. विजय कुमार चौबे

भारत में अनेक संस्कृतियों की सत्ता प्राचीन काल से ही विद्यमान रही हैं। इन संस्कृतियों की मुख्य विशेषता, उसमें निहित मानवतावाद है। अभ्य कुमार दुबे ने संस्कृति के सन्दर्भ में लिखा है, “मनुष्य जैसे ही अपने प्रयासों से कुदरत द्वारा कमायी गयी विरासत से परे जाता है, वैसे ही संस्कृति की शुरुआत होती है। संस्कृति की मौजूदगी यह बताती है कि हम सब ऐसे जगत में रहते हैं, जो मनुष्यों द्वारा ही रचा गया है और जिसकी सार्थकता उन्हीं की देन है। ...इनमें से दो आयामों की शिनाख्त संस्कृति के आधारभूत तत्वों के तौर पर की जा सकती है, रचनाशीलता और निर्माण की मानवीय क्षमता और भाषा को बरतने की योग्यता”¹ ‘लोक’ शब्द का अर्थ संसार के समस्त मानवसमूह और जनसमुदाय से भी है और किसी विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोगों से भी है। इसलिए ‘लोक’ शब्द का प्रयोग करते हुए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि लोक मान्यता, लोक सत्ता, लोक व्यवहार, लोक धर्म, लोक मंगल, का प्रयोग सामान्य रूप से जीवन के उत्थान के सन्दर्भ में किया जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, “लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचिसम्पन्न तथा संस्कृत समझे जाने वाले लोगों के प्रति अति सरल और कृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं”² लोक साहित्य जन जीवन पर आधारित होता है, जिसकी रचना लोक करता है यह मानव उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हुआ और उसी के साथ इसका विकास भी होता है। लोक साहित्य में प्रत्येक दशा प्रत्येक वर्ग प्रत्येक समय और प्रकृति सब कुछ समाहित होते हैं। डॉ. सत्येंद्र के अनुसार, ‘लोक मनुष्य का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार राष्ट्रीयता और पांडित्य की चेतना और अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा में जीवित रहता है सामान्य जनता से संबंधित साहित्य को लोक साहित्य कहना चाहिए। सामान्य जनजीवन विशिष्ट जन जीवन से भिन्न होता है अतः जन साहित्य लोक साहित्य का आदर्श विशिष्ट साहित्य से भिन्न होता है किसी देश अथवा क्षेत्र का लोक साहित्य वहां के आदिकाल से लेकर अब तक के उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है, जो सामान्य जन जीवन पर आधारित होती है इससे मनुष्य के सभी विचार भावनाएं लिप्त होती हैं, जिसके आधार पर वहां की संस्कृति का पूर्व

अध्ययन किया जा सकता है। यह मौखिक रूप में पाई जाती है। कुछ तथ्य ही लिखित रूप से होते हैं। लोक जीवन की जैसी सरलतम नैसर्गिक अनुभूति में अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक साहित्य में जनमानस का हृदय बोलता है, प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है और गीतों के माध्यम से लोक साहित्य पूर्ण रूप से व्यक्त किया जा सकता है। भोजपुरी लोकगीतों की विरह वेदना के माध्यम से प्रेम लोकगीतों का केंद्रीय वर्ण विषय रहा है। भोजपुरी लोकगीतों में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के जो मर्मस्पर्शी चित्र मिलते हैं वे अत्यंत दुर्लभ हैं। सामाजिक जीवन में प्रेम के सभी रूपों को इन लोकगीतों में जगह मिली है। भाई-बहन, माता-पिता, ननद-भावज एवं पति-पत्नी के दापत्य जीवन का प्रेम इन गीतों के माध्यम से स्वर पाया है। प्रेम के दोनों स्वरूप को संयोग और वियोग के गीतों में देखा जा सकता है। विरह वेदना की भोजपुरी गीतों में महत्वपूर्ण उपस्थिति है। भोजपुरी अंचल के लोगों को काम की तलाश में विभिन्न कोनों में जाना पड़ा, इस विषय पर बहुत सारा साहित्य लिखा गया है। भिखारी ठाकुर तो विदेशिया नाटक के गीतों के लिए ही जाने जाते हैं। पति परदेश जाने के लिए तैयार है और उसकी स्त्री उसके जाने की संभावना से दुखी होकर कहती है—जुगुति बताये जाए कवन विधि रहबो राम/जो तुम साम बहुत दिन बितहैं/अपनी सुरतिया मोरी बहिया पे लिखाये जाव/जो तुम साम बहुत दिन बितहैं/वीरना बोलाए मोके नैझर पहुंचाए जाव।। कालिदास के मेघदूत की तरह भोजपुरी समाज की विरहिणी स्त्री अपने प्रियतम के पास बादलों से संदेश भेजती है—अरे अरे कारी बदरिया तुहइ मोर बादरी/बदरी जाए बरसहू वही देश जहां प्रिय छाये³ हे बादल तुम वहां जाकर बरसो, जहां हमारा प्रियतम है। हो सकता है, इससे उसे मेरी सुधि आ जाए, खुद ही आ जाए। लोक साहित्य का प्रथम दृष्ट्या चित्र गांव-गांव में ही झलकता है गांव में लोक साहित्य की छाती ग्रुप में ढेर सारी सामग्रियां देखने सुनने और परखने को प्राप्त हो मिलती है। खेत बारी रहन-सहन किस्सा कहानी, कहावतें और मुहावरे सभी में लोक साहित्य की स्पष्ट झलक मिलती है। सामाजिक स्थितियां काल-क्रम में फलती-फूलती सुकृति और परिवर्तित संवर्धित में देखी और पाई जाती हैं। डा. नामवर सिंह लोक साहित्य, आदिम साहित्य और जन साहित्य का फर्क बताते हुए लिखते हैं, “आदिम साहित्य सामान्य जन के उस युग का साहित्य है जब मानव समाज का संगठन अत्यंत घनिष्ठ नगर गांव का विभाजन था, पर शिष्ट समाज और सामान्य व्यक्ति जैसा

विभाजन तथा लोक साहित्य आदिम साहित्य की अपेक्षा अधिक विकसित समाज व्यवस्था की उपज है और जन साहित्य औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न समाज व्यवस्था में जन भागीदारी का साहित्य है।”⁴ लोकगीतों को लोक साहित्य में हर युग में प्रमुखता दी गई है। लोकगीत में समाज का हर वर्ग अपना उचित स्थान सुरक्षित पाता है। इसमें स्त्री समाज की प्रमुखता भी रेखांकित की जाती है। यहां तक कि थारू जनजाति की बालिकाएं अपनी-अपनी सीमा भर सोचती हैं और उत्सव पर्व पर गीत गाते हुए नंगे पांव ही नाचती हैं—बाबा जैहैं हाजीपुर/ भैया जैहैपटना हो/ भैया जैहैं पटना/कि सँझ्या जैहैं ना/ओहि बटिया नगरिया की सैँझ्या जैहैं ना।⁵

राहुल सांकृत्यायन मानते हैं कि ‘‘लोक साहित्य के पीछे शिष्ट साहित्य की तरह एक लंबी परंपरा है, जो शिष्ट साहित्य से कहीं बड़ी है, बल्कि शिष्ट साहित्य भी लोक साहित्य ही है।’’⁶ हालांकि सारे विद्वानों ने यह तो माना ही है कि लोक साहित्य लोक की वस्तु तो है ही, चाहे वो लिखित हो या अलिखित। यह तो सही है की प्रायः मौखिक परंपरा रघनाकार की अव्यक्तिगत सामूहिक भाव भूमि जनमानस को आंदोलित करने की क्षमता आदि लोग साहित्य की विशेषताएं हैं और लोक साहित्य अज्ञात समय से शुद्ध पंपंरा के बत पर ही आज तक कायम है, लेकिन कायक्रम की अवाध गति से बदलते घटते-बढ़ते रहने से यह भी साबित होता जा रहा है कि लोक साहित्य की यह मौलिकता वाली प्रकृति अब अधिक दूर तक नहीं जा सकती और इसे अब अलिखित चौखटों से बाहर भी देखा जाना चाहिए, जहां दिनोंदिन लोक साहित्य के भंडार को भरा जा रहा है साथ ही लोक साहित्य में लिपिबद्ध साहित्य को जोड़ा भी जाना चाहिए। शायद इसलिए इसी आलोक में रामनारायण उपाध्याय रेखांकित करते हैं, “गांव का आदमी जाने कब से बाट जोह रहा है कि कोई आए और उससे कुछ ले जाए। उसका समग्र जीवन एक अनपढ़ी खुली पुस्तक की तरह सामने बिछा है। उसका रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, आचार-विचार, रीति-रिवाज, धर्म और आस्था विश्वास और मान्यताएं परवाह और उत्सव मेले और तमाशे गीत और कथाएं नित्य संगीत कलाएं और भाषा तथा बोलियों के प्रत्येक शब्द हमें कुछ ना कुछ देने की क्षमता रखते हैं।’’⁷ लोक साहित्य की मुग्धता से बचना भी इसलिए जरूरी हो रहा है क्योंकि मीडिया अखबार, सिनेमा आज लोक साहित्य की प्रगति को एक सुनियोजित पड़यंत्र के तहत विखण्डित करने में प्रयासरत हैं। भोड़ापन, सेक्सी और गंवारूपन की चादर से लोकगीतों को गंवा-

किया जा रहा है। स्त्री विरोधी और अश्लीलता के शब्दों से उन्हें भर दिया जा रहा है, लेकिन फिर भी लोकगीत ना तो मरे हैं नहीं मरेंगे। मार्क्स ने भी कहा था कि लोक अपना इतिहास अपने भीतर जिंदा रखता है। ‘परिवर्तन का पथ ना कभी रुका है ना कभी रोका जा सकता है। यह परिवर्तन तो लक्षित कर लोक-साहित्य, लोकगीत, लोक-गाथा आदि को अन्य तरीकों से भी देखा जाना चाहिए। कोई स्त्री सज-धज रही है तो लोकगीत में उसे एक सामाजिक नजर से तो देखा जा सकता है, ‘कजरा वर्ही दिना देब जवना दिनवां पिया अइहैं’, परंतु कैसे कहा जा सकता है कि वह अपने पति के खातिर ही सज धज रही है। हो सकता है उसका मंतव्य व्यंग या अन्योक्ति के माध्यम से हो और वह यह हो कि वह अपने किसी यार के लिए सज रही हो उसके आने की सूचना पर काजल बिंदी कर रही हो, यह पिया से अलग आकर्षण भी हो सकता है। इसलिए परिवर्तन के इस कार्यक्रम और बदलते माहौल और परिस्थितियों की आलोक में भी लोक साहित्य को देखना चाहिए। भारत में जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों से कमोवेश सभी गुजरते हैं। जन्म मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि महत्वपूर्ण संस्कार हैं। लोक साहित्य तो हर जनपद का अलग अलग है तथा प्रति लोक साहित्य के भंडारण में सभी की संवेदनात्मक श्रमशीलता और प्रहारक क्षमता या क्रांतिकारिता एक जैसी है। भोजपुरी के विषय में अब यह नहीं कहा जा सकता है कि यह किसी क्षेत्र या प्रदेश की ही लोक भाषा है बल्कि यह पूरे देश ही नहीं वरन् कई विदेशी राष्ट्रों में भी फैली है। श्री दुर्गा प्रसाद सिंह ‘नाथ’ ने संपूर्ण स्थापना दिया कि “भोजपुरी तत्कालीन के भोजपुर इलाके की ही भाषा है जो आज विदेशों तक फैल चुकी है।”¹⁸ डा. रामविलास शर्मा ने लोक साहित्य की महत्ता के विषय पर टीकमगढ़ में बुदेली कवियों के बीच एक भाषण में 18 जनवरी, 1945 को चर्चा करते हुए कहा था, “जो कभी बुदेलखंडी में कविता द्वारा आम लोगों को जागृत करता है, आजादी के लिए सचेत करता है, वह राष्ट्र का सच्चा सेवक है।” लेनिन नेवी रुसी क्रांति के समय सोवियत गणराज्य की बोलियों को आधुनिक ज्ञान विज्ञान की भाषा घोषित करते हुए कहा था, जो इसे ना पढ़ा सके हमें वैसे अध्यापकों की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य है कि लोक साहित्य का पेट इतना बड़ा है कि इसमें समाया है—संस्कारों और विभिन्न रसमों रिवाजों के लिए अलग-अलग संवेदनशील व्यंगपरक खुशियों से भरे हुए बन्नी लोकगीत और विवाहोपरांत अलग-अलग अनुभूतियों से लबालब लोकगीत, लेकिन इनसे इतर आजादी के पूर्व स्वतंत्रता आंदोलन से ओतप्रोत लोकगीत भी रहे। ‘सुराजधनु

गावा है मोरे जांतालाल रंग गोहुआं, सफेद रंग पिसना।’¹⁹ इसमें गेंहूं और सफेद रंग पिसान का लक्षण में प्रयोग है अर्थात् गोरे रंग अंग्रेजों को पीस-पीसकर श्रम का फल सफेद ताने का आह्वान है। अन्योक्ति प्रयोग स्पष्ट है इसमें श्रम की महत्ता, ग्रामीण बिंब जांता का मर्मपूर्ण महत्व अंग्रेजी शासन का परोक्ष प्रतिरोधी, मारक उद्देश और आजादी की उल्कृष्ट अभिलाषा परिलक्षित होती है। सफेद निशान के पीछे गांधी कैंप और तत्कालीन कांग्रेसी कुर्ता पजामा धोती की सफेदी से भी अर्थ लिया जा सकता है। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल बुदेलखंड और दक्षिण भारत आदि सभी क्षेत्रों में प्रतिरोधी प्रहार एवं क्रांतिकारी लोकगीत लिखे गए। यहां तक की भोजपुरी इलाके में औरतें विभिन्न अवसरों पर गारी गाते समय भी आजादी को शामिल करती थीं—गान्धी बाबा के चरखवा चलावा सखी/कांग्रेसियन के घर में बोलावा सखी/समधी जी अइलीं बड़ी नीक कइलीं/गान्धी दोशी न लगवलीं ई काहें भइल/समधी के बहिना इहवां बोलावा सखी...। एक समय था जब अंग्रेजी शासन में उनके अंग्रेज पुतिस वाले गांव में घोड़े पर सवार होकर पहुंचते थे तो आतंक फैल जाता था, लेकिन धानरोपनी करने वाली स्त्रियां उनको देखकर गुस्सा करती थीं और अपनी गुस्सा को गीतों के माध्यम से व्यक्त करती हैं—बहिना हरियर फसलिया हमार/हरामी गोरी ले जाने हो/काहें न काटो-मटिया चलाय, गोखन के मुंहवा पर दे मारी हो/बइठल घोड़वा पे गउआ आ धमकें/चारों ओरिया से घेरि देईं उन्हें मारि/अंगरेजवा लखेदि आई हो।

लोक साहित्य में गीतों के माध्यम से महिलाओं के द्वारा अपनी समस्त बातों को व्यक्त करने की क्षमता थी। वह गीतों में ही अपनी सारी बातें अपनी सखियों के साथ कर लेती हैं। मुस्लिम परिवारों में भी भोजपुरी को खास स्थान प्राप्त है, लेकिन जब भोजपुरी लोकगीतों की चर्चा होती है तो मुस्लिम समाज को इससे नजरअंदाज कर दिया जाता है, ऐसा जानबूझकर नहीं बल्कि जानकारी के अभाव में होता है। किंवदंतियों के अनुसार मुस्लिम लोकगीतों के जनक अमीर खुसरों कह जाते हैं, यद्यपि इनका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता फिर भी जनजीवन में अमीर खुसरों की यह सम्पान मिलता है। ऐसा विश्वास है कि अमीर खुसरों ने अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया से भारतीय समाज के गीतों का वर्णन किया था, जिसमें देवी-देवताओं, गंगा स्तुति तथा हर्ष उल्लास संबंधी गीतों के बोल थे। इन गीतों में धर्म निष्ठा एवं ईश्वर के प्रति अदृट प्रेम की भावना के चित्र बड़े गुण रंग से अंकित थे। मुस्लिम राजाओं के यहां हिन्दू धर्म को मानने वाले अनेक लोकगायक और गीतकार

रहते थे तथा हिन्दू सामन्तों के यहां इस्लाम धर्म को मानने वाले लोकगायक और गीतकार रहते थे। हैदरअली की सेना में मुसलमान लोकगीतकारों के लेख मिलते हैं और हिन्दू लोकगीतकारों के भी। इन गीतकारों ने जिस तरह के गीतों की रचना की है, उन्हें देखते हुए उनकी सांस्कृतिक समझ का विकसित रूप सामने आता है। डॉ. इरशाद अली के अनुसार “मुस्लिम लोकगीतों के गायक बहुधा धर्म के प्रति निष्ठावान होते हैं, जो समाज के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इन गीतों से जहां एक ओर मनोरंजन होता है, वहीं दूसरी ओर एकेश्वरवाद की भावना को भी बल प्राप्त होता है।”¹⁰ विश्वास लोक साहित्य और लोक संस्कृति का वह आधारभूत तत्व है, जिस पर उसकी पूरी संरचना खड़ी होती है। इतिहासकारों ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि जिस समय मुस्लिम लोकगीत रचे गए, उस समय हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का भेद न था। मुस्लिम लोकगीतों ने हिन्दू लोकगीतों की अपेक्षा दोनों क्षमताओं को एक धरातल पर खड़ा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मुस्लिम लोकगीतकारों ने हिन्दी की बोलियों का गहरा अध्ययन किया और उनकी ध्वनियों और शब्दावलियों का प्रयोग किया। संरचनात्मक विविधता के बावजूद इनकी अन्तर्वस्तु में साम्यता पायी जाती है। मुस्लिम लोकगीतों को गाने वालों का घराना चलता है, जिसके जनक अमीर खुसरो कहे जाते हैं। यहीं से मुस्लिम लोकगीतों का विकास होता है, जो परिस्थिति वातावरण तथा प्रोत्साहन के कारण धीरे-धीरे देश फिर चप्पे-चप्पे में प्रवेश कर गए और जनजीवन को प्रभावित कर गये। एहतेशाम हुसैन ने लिखा है, “जब लड़ाइयों, चढ़ाइयों, आक्रमणों और संग्राम से उत्पन्न होने वाली धूणा की लहर उठी तो हिन्दुओं और मुसलमानों के दिलों में मेल और मुहब्बत के सूत्र फूट पड़े, जिन्होंने कला और धर्म को लपेटे में ले लिया और उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं को एक-दूसरे के समीप कर दिया। भक्ति को एक लोकप्रिय और उस समय की समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आन्दोलन बनाने में हिन्दू और मुसलमान दोनों भक्तों का हाथ है। जब आचार-विचार की सीमाएं इस प्रकार निकट आती गयी हों, तब एक ऐसी भाषा के जन्म लेने की सम्भावना दूर नहीं रह जाती है, जो मिले-जुले सामाजिक चिह्न का हो।”¹¹ जिस भाषा में सामाजिक जीवन के मिले-जुले चिह्न होते हैं, वह भाषा कई रूपों में बनती है और कई रूपों में उसका विकास होता है। मुस्लिम लोकगीतकारों ने किसी बनी-बनायी भाषा में अपने हृदय के भावों को व्यक्त नहीं किया बल्कि उन्होंने भाषायी

अलगाव को ही नकार दिया।

जो मुसलमान बाहर से आए, वे यहां की जातियों में घुलमिल गए। वे कश्मीर, बंगाल, पंजाब, सिंधु, गुजरात सभी जगह गए और वहां की बोली-भाषा में अपने भावों-विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न करने लगे। मुस्लिम लोकगीतों के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि मुसलमान कोई अखण्ड इकाई नहीं है। धर्म एक होने के बावजूद तुर्कों, पठानों और मुगलों की संस्कृति एक ही नहीं थी, किन्तु हिन्दुस्तान में आने के बाद उनमें एका कायम हुआ और इस प्रक्रिया में सूफी लोकगीतकारों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मुस्लिम लोकगीतों के विवेचन के प्रसंग में मुस्लिम संस्कृति और हिन्दू संस्कृति का भेद नहीं रह जाता। इन गीतों में यह बताने की कोशिश की गयी है कि हम सभी खुदा के बंदे हैं। यह धरती अपनी है और इस धरती के लिए अपने-आप को कुर्बान कर देना धर्म का अंग है। अंग्रेजों के आने के बाद भारत की सांस्कृतिक परिस्थितियां बदली। आपस में जो एकता बन रही थी, वह नष्ट हुई। पूँजीवादी सम्बन्धों पर प्रहार हुआ। इन सबका प्रभाव मुस्लिम लोकगीतों पर भी पड़ा। मुस्लिम लोकगीतकारों ने अंग्रेजी राज की विनाशकारी भूमिका का जगह-जगह संकेत किया है और एक राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में योगदान दिया है। स्पष्ट है कि लोक-साहित्य और संस्कृति का सम्यक अध्ययन मुस्लिम लोकगीतों के विवेचन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता।

सन्दर्भ

1. अभय कुमार दुबे, समाज-विज्ञान, विश्वकोश-6, पृ. 1883
2. दिनेश पाण्डेय, लोकसाहित्य की अवधारणा, पृ. 17
3. डा. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी भ्रमरगीत भाग-1, पृ. 208
4. रामनारायण उपाध्याय, लोक साहित्य समग्र, पृ. 10-11
5. संजीव, जंगल जहां शुरू होता है, पृ. 61
6. रामनारायण उपाध्याय लोक साहित्य समग्र, पृ. 14
7. वहीं, पृ. 10.
8. श्री दुर्गा प्रसाद सिंह नाथ, भोज भोजपुरी प्रदेश, पृ. 3, 4
9. सत्येन्द्र त्रिपाठी, मठई पत्रिका 2010, पृ. 144
10. डॉ. इरशाद अली, पूर्वांचल के मुस्लिम लोकगीतों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ. 19
11. सैयद एहतेशाम हुसैन, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ. 23

—डॉ. विजय कुमार चौबे

सहायक प्राध्यापक,
मथुरा पी. जी. कालेज, रसड़ा, बलिया

वर्णवादी समाज और संस्कृति का दलित साहित्य से विलगाव

—डॉ. अमित कुमार

भारतीय सामाजिक संरचना पर दृष्टि पड़ते ही हमें पता चल जाता है कि एक ही समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियां उनकी परम्परा, संस्कृति, रहन-सहन, रीति-रिवाज सब एक दूसरे से विलगित है। एक ही समुदाय के लोग एक दूसरे से अलग-थलग क्यों रहते है? ऐसी उनकी कौन सी विवशताएं और अशक्तताएं हैं कि संविधान द्वारा दिये गए समानता के अधिकारों के बावजूद वह समता मूलक व्यवस्था कायम करने में असमर्थ हैं। वस्तुतः भारतीय सामाजिक संरचना में ऐसा कौन सा तत्व है जो उन्हें अलग रहने के लिए मजबूर करता है। इसका जवाब हमें हिन्दू समाज कि विशिष्ट व्यवस्था के अवलोकन से प्राप्त होता है कि वर्णवादी सामाजिक व्यवस्था अलगाव पर आधारित है जिसकी केंद्रीय सत्ता में जाति स्थापित है। इसी कारण भारतीय समाज का आन्तरिक ढाँचा विधिति है और उनकी सामाजिक संस्कृति भी अलग-अलग है। तेज सिंह के अनुसार, “भारत की इस समाज व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था को मजबूत आधार प्रदान किया है और उसे बनाए रखने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-दोनों तरह की भूमिका निभाई है। जिस देश की समाज व्यवस्था सामाजिक-अलगाव पर टिकी हुई हो उस देश की संस्कृति भी अलगाव वाद पर ही टिकी होगी। सामाजिक-अलगाव सांस्कृतिक-अलगाव को बढ़ाता है और देश की सामाजिक-सांस्कृतिक एकता को विखंडित करता है। यही वजह है कि भारत में वर्णव्यवस्था ने जाति प्रथा के द्वारा सामाजिक-अलगाव के साथ-साथ सांस्कृतिक-अलगाव को भी बढ़ाया है जिसका खामियाजा पूरा देश हजारों साल तक राजनीतिक-गुलामी के रूप में भुगत रहा है और इसके लिए ब्राह्मणों द्वारा पोषित वर्णव्यवस्था को ही जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।”¹ इस तरह ब्राह्मणों द्वारा पोषित वर्णव्यवस्था ने समाज में अप्राकृतिक सामाजिक विभाजन को जन्म देकर सामाजिक अलगाव को ही बढ़ाया है और इस माननी कृत वर्णव्यवस्था को ईश्वरी कृत जाति व्यवस्था में तब्दील कर दिया गया जिसमें कुछ जातियों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है और उन्हें ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में सर्वोच्च शक्तियां प्राप्त हैं। तेज सिंह के अनुसार, “ब्राह्मणों ने वर्ग हितों के अनुकूल पूरी तरह मानव द्वारा निर्मित वर्णव्यवस्था को ईश्वरीकृत जाति व्यवस्था में तब्दील कर दिया। इन्ही स्थितियों में एक समाज-व्यवस्था वर्णव्यवस्था के रूप में शाश्वत और सनातन बनाई जाने लगी। इस प्रक्रिया में इस देश के मूल निवासियों को सभी मानवीय अधिकारों से वंचित करके उनको उनकी जमीनों से भी बेदखल कर दिया गया। इस तरह उन्हें गांवों से बाहर

रहने के लिए विवश कर दिया गया। अपनी आजीविका के सभी साधन छिन जाने की वजह से जहाँ घटिया से घटिया काम करने पड़े और जिन्हें बाद में अस्पृश्य या अन्त्यज की संज्ञा दी गई वे भारत के समाज का अंग होते हुए भी उसका अंग नहीं थे।¹² इस व्यवस्था ने दलितों को ही नहीं अपितु स्त्रियों को भी पशुवत् गुलाम बना दिया। वर्ण-व्यवस्था और पितृसत्ता ऐसे दो बरगद रुपी वृक्ष हैं जो समाज की तीन चौथाई आबादी के विकास व मानवीय पहचान के लिए संकट पैदा किया उच्च वर्ण या ऊंची कही जाने वाली जातियां भी श्रेष्ठता के दंभ से ग्रसित होकर मानवीयता के क्षण का शिकार हुई हैं। उच्च जाति का अहं मानवीय पहचान वा सोच को कुंद करता है साथ ही केन्द्रीय सत्ता के साथ-साथ समाज में अपना वर्चस्व स्थापित रहे इसके लिए बहुसंख्यक समाज को अपने अधीन करने के लिये वह दो तरह से उन पर काबिज होता है पहला बल द्वारा उनकी संपत्ति पर अधिकार करके दूसरा साहित्य को धर्म के आवरण में ढक कर उनके अन्दर हीनता का बोध भर कर मानसिक गुलाम बना देना तथा इस तरह के साहित्य को लिखने वाला स्वयं ईश्वर के समकक्ष स्थापित हो जाता है और समाज को अपनी व्यवस्था के अनुसार निर्देशित करता है। मनु द्वारा बनाई गयी सामाजिक व्यवस्था में मानव को मुख्य रूप से चार वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) में विभक्त किया गया इस व्यवस्था के तहत समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था दूसरा स्थान क्षत्रिय का तथा तीसरा स्थान वैश्य का निर्धारित किया गया था इन तीनों वर्गों की सेवा करने के लिए चौथे वर्ग अर्थात् शूद्र का स्थान सबसे निचले पायदान पर रखा गया। वर्णवादी सामाजिक व्यवस्था के तहत तीनों वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त थे, जब कि चौथे वर्ग (शूद्र) को कोई अधिकार नहीं दिया गया वरन् इन तीनों वर्गों की सेवा से प्राप्त सामग्री, से अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इस संबंध में डॉ. एन सिंह ने ‘मनु सृति’ के कुछ श्लोकों को प्रस्तुत किया है। डॉ. एन सिंह के अनुसार, “‘मनु सृति’ सभी वर्गों के कर्मों का निर्धारण करती हुई उसे शिक्षा प्राप्ति के सामान्य और मानवीय अधिकारों से वंचित करती है। इस संबंध में ‘मनु सृति’ के प्रथम अध्याय के निम्न श्लोकों को देखें—“अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा/दानं प्रतिग्रंमं ज्वैनं ब्राह्मणानम् कल्पयत् ॥८८॥” प्रजानां रक्षणं दानं भिज्याध्ययनं मेव च/विषयेष्व प्रसक्तिप्रण क्षत्रियस्य समासतः ॥८९॥” पशुनां रक्षणं दानं भिज्याध्ययनं मेव च/वाणिक्ययं कुसीदं च वैश्यस्य कृषि मेवं च ॥९०॥” एकं मेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्/

एतेषामैव वर्णनां शुश्रामन सूयया ॥११॥”^३

इस तरह की व्यवस्था निर्बद्ध तरीके से प्रवाहमान बनी रहे, इसलिए इस व्यवस्था के पोषकों द्वारा निरन्तर यह प्रयास किया जाता रहा है कि समाज को वर्णवादी साहित्य, धर्मरूपी दल से बांधे रहे ताकि यह परम्परा निर्बद्ध तरीके से गतिमान रहे। हरपाल सिंह ‘अरुष’ के अनुसार, “इतिहास साक्षी है कि विश्व के अनेक हिस्सों में स्पर्धारहित शासन व्यवस्थाएं विद्यमान रही हैं, जिनके अंतर्गत शक्तिशाली के द्वारा प्रतिरोध या प्रतिस्पर्धा उत्पन्न कर सकने पर अंकुश को श्रेष्ठ और हीन में विभाजित करके वर्चस्व को पवित्र मानवीय क्षमता योग्यित करके परिभाषित किया जाता रहा है। रंग, नस्ल, क्षेत्र आदि को श्रेष्ठ और हीन में विभाजित करके मानवीय आदर्शों को परिभाषित किया जाता रहा। भारत में तो इस वर्चस्व का सबसे धिनौना रूप विद्यमान रहा है। यहां पर वर्ण (जाति) व्यवस्था का आधार कर्म तथा कार्य का शौच-अशौच में विभाजन तथाकथित पवित्र नैसर्गिक धर्म भावना के आधार पर परिभाषित किया जाता रहा है। इस व्यवस्था में व्यक्ति या जाति को समरसता का पाठ तो पढ़ाया गया, किंतु प्रतिस्पर्धा को कहीं भी अधिकार नहीं दिया गया। यही भारतीय चिंतन की असली खामी रही है, जिसको सामाजिक सोपान की नैसर्गिक अवधारणा का रूप दिया गया। व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र में पहल करने से रोकने के लिए अनेक प्रावधान शास्त्रों में गढ़े गए और सत्ता के माध्यम से लागू किए गए। दंडविधान निर्मित किए गए।”^४ वर्णवादी व्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने के लिए धर्म ग्रन्थों को नियामक रूप में प्रेषित किया गया जिसको भारतीय जनता ने दैविक विधान मान कर सहज ही ग्रहण कर लिया। तत्कालीन वर्णवादी व्यवस्था के संचालकों ने धार्मिक ग्रन्थों को समाज के केंद्र में रख कर सामाजिक नियमों के मानदण्ड के रूप में स्थापित किया तथापि यह धार्मिक ग्रंथ ही समाज के संचालन के आधार स्तम्भ बने। वस्तुतः प्राचीन भारतीय साहित्य सामंतवादी परंपरा के संरक्षण में लिखा गया जिसमें अभिजात्य वर्ग को पाल पोसकर सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया। इस साहित्य में लिखे गए महाकाव्य, नाटक, कथाओं आदि का नायक, उच्चवर्ण का व्यक्ति या कोई राजा या राजकुमार ही हो सकता है। डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार, “महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्च कुल में उत्पन्न क्षत्रिय अथवा एक वंश में उत्पन्न हुए राजा और अनेक वंशों में उत्पन्न राजा हो सकते हैं, परन्तु उनमें धीरोदात्त गुणों का समावेश होना आवश्यक है।”^५ भारतीय परम्परा को संरक्षित करने वाले साहित्य के, नायक और नायिका आसामान्य महापुरुषों की

श्रेणी में आते हैं। इन पर जन सामान्य के धार्मिक और वैयक्तिक नियम लागू नहीं होते। इसीलिए शबरी के जूठे बेर खाना और निषादराज को गले लगाना केवल मर्यादा पुरुषोत्तम राम को ही शोभा देता है। “श्रीरामचरितमानस” के ‘अरण्यकाण्ड’ से एक उदाहरण—“कदं मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि/ प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि ॥ ३४ ॥” उन्होंने अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल और फल लाकर श्रीराम जी को दिए। प्रभु ने बार-बार प्रशंसा करके उन्हें प्रेम सहित खाया। ३४ ।⁶ प्रो. ओम प्रकाश का मत इस संदर्भ में अधिक विचारणीय है, “महापुरुषों को इस परम्परा ने केवल सम्मान ही नहीं दिया अपितु उन्हें देवत्व तक प्रदान किया। लेकिन उनके चरित्र के बारे में परम्परा का प्रवचन सदैव यहीं रहा कि महापुरुष असामान्य होते हैं। अतः उनके आचरण भी असामान्य होते हैं। उनके लिए कुत्ता, चाण्डाल और ब्राह्मण में कोई भेद नहीं होता।”⁷ जिस अछूत या शूद्र को ऊंचे वर्ण वाले छूने से डरते हैं। अपने पास तक नहीं आने देते उन्हीं शूद्रों को गले लगा कर श्रीरामचन्द्रजी भ्रष्ट नहीं होते। इसी के आगे ‘उत्तरकाण्ड’ में ‘तुलसीदासजी’ कहते हैं कि ब्राह्मणों की सेवा करने के बराबर जगत में दूसरा कोई पुण्य का कार्य नहीं है। “श्रीरामचरितमानस” के ‘उत्तरकाण्ड’ से एक उदाहरण—पुन्य एक जग महुँ नहि दूजा/ मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा/ सनुकूल तेहि पर मुनि देवा/ जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥

जगत में पुण्य एक ही है, (उसके समान) दूसरा नहीं। वह है—मन, कर्म और वचनों से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा करना। जो कपट त्याग करके ब्राह्मणों की सेवा करता है, उस पर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं ॥४॥⁸ अपौरुषेय प्रवचनों के कारण ही वर्णव्यवस्था सुरक्षित और संरक्षित है, इसी कारण जातिवादी विस्तार पर इस व्यवस्था के एकाधिपत्य के साथ-साथ साहित्य भी जातिवाद से भरा होता है और मनुष्य मनुष्य के सम्बन्धों में अलगाव पैदा करता है साथ ही प्रत्येक व्यक्ति की मानसिकता उच्चता और निम्नता से ग्रसित हो जाती है। यह भावना उनके अन्दर समाज में जाति के आधार पर मिले विशेषाधिकार से उत्पन्न होती है। इस व्यवस्था में ब्राह्मण सबसे विशिष्ट जाति है इस लिए उसका कर्म भी विशिष्ट है, दूसरी जातियां निम्न हैं इसलिए उनके कार्य भी निम्न निर्धारित हैं। एस. एल. शाह के अनुसार, “गुरु के साथ ही ब्राह्मण की महत्ता का वर्णन किया जाना आवश्यक है क्योंकि भारतीय जाति को जन्म से निर्धारित करने में ब्रह्म उपासक का अपने आप को नरश्रेष्ठ, महापवित्र एवं काफी हद तक ईश्वर या देवता

समझने की प्रवृत्ति उत्तरदायी रही है। ब्रह्म के उपासक होने के कारण इस वर्ण का व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म ही था। सर्व प्रथम इसी वर्ण ने अपनी श्रेष्ठता सामान्य जन में निर्धारित की उसके बाद अपनी श्रेष्ठता को अक्षुण बनाये रखने के लिए उसने कई सीमायें निर्धारित करनी प्रारम्भ की जिनमें पहली सीमा थी अपने ही वर्ण में शादी विवाह व रिश्ते तय करना। इसी वर्ण ने क्षत्रिय वैश्य व शूद्र का दर्जा भी उनके कार्यों को परलोक सुख भोग के तराजू में तोलकर निर्धारित किया तथा। नियम बनाने प्रारम्भ किए। यह वर्ग अपने कार्यों को महापवित्र मानने लगा था। ऐसी स्थिति में सामान्य जन या अन्य वर्णों से अपने आप को पृथक रखने की भावना सर्वप्रथम इसी वर्ण में जागृत हुई।⁹ इस व्यवस्था में जन्म का आधार सर्वोपरि और कर्म का स्थान कहीं नहीं, सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालन अलौकिक शक्तियों पर निर्भर होता और अलौकिक शक्तियां ब्राह्मण वर्ग पर निर्भर होती, जिससे उसे सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है बाकी सब सेवक, वह इस स्वामित्व के स्थान पर बने रहने के लिए जिस साहित्य की रचना करता है। उसके मूल में शोषण, मानव मूल्य का ह्वास, मनुष्यों के प्रति संवेदनहीनता आदि। यह सामाजिक व्यवस्था अलगाव पर आधारित होने के साथ-साथ इस व्यवस्था को पोषित करने वाला साहित्य भी उसी कोटि में आता है।

दलित साहित्य, अभिजात्य वर्ग द्वारा दी गयी व्यवस्था में अपने जीवन को बचाने के लिए किए गए संघर्ष का प्रतिबिंब है, उनकी रचनाएं भाग्यवाद पर चढ़ कल्पना के रंग से नहीं रंगी गयी है अपितु जीवन के कठिन संघर्ष और अनुभव द्वारा पकाई गयी हैं। दलित रचनाकार अपनी रचनाओं में समाज के उस वर्ग की दुख-तकलीफों, हंसी-खुशी तथा जीवन के तमाम ऐसे पहलुओं को अभिव्यक्त प्रदान की जो साहित्य की दुनिया में सैकड़ों सालों से बहिष्कृत थे। वर्ण-व्यवस्था वा जाति व्यवस्था में निहित छुआछूत की व्यवस्था ने समाज के लोगों में सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक रूप से स्थाई भेद बना दिया था। इस भेद से उत्पन्न शोषण की अभिव्यक्त दलित रचनाकारों की रचनाओं व खास तौर पर दलित आत्मकथाओं के माध्यम से हुई है। दलित जीवन की सच्चाइयों को दलित लेखक ‘दयापवार’ ने अपनी आत्मकथा ‘अछूत’ के माध्यम उद्घाटित करते हैं, “टोकरी में कभी भी ताजी रोटी न गिरती। हमेशा बासी रोटियाँ मिलती। कभी कभी तो उस पर सफेद झिल्लियाँ भी चढ़ी होती। शायद महारिन के लिये आले में रात की ही रोटी संभाल कर रख देते होंगे। एकाध उदार महिला अचार की फँक रख देती। तब सहज ही मुहं में पानी आ जाता।

दूर से ही माँ दरवाजे से बड़ी दयनीय हो कर कहती, रोटी दे माँ 5, येरकरिन को”¹⁰ ऐसा ही एक दृश्य दलित लेखक ‘ओमप्रकाश वल्मीकि’ अपनी आत्मकथा ‘जूठन’ में उद्घाटित करते हैं, “बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरी लिए दरवाजे से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे। इस उम्मीद में कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी। जब सब लोग खाना खा कर चले गये तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दलान से बाहर आते देख कर कहा, चौधरी जी ईव तो सब खाणा खा के चले गए म्हरे जाकर्तों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर घर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रेते।” सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, टोकरी भर तो जूठन ले जा री है ऊपर से जाकर्तों के लिए खाणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी! उठा टोकरा दरवाजे से चलती बन।” सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उत्तर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं।”¹¹ रचनाकार के ये शब्द उसकी अपनी अनुभूति से उपजे हैं। सूरज पात चौहान अपनी ‘आत्मकथा’ ‘संतप्त’ में ऐसा ही एक भयावह विवरण प्रस्तुत करते हैं जो मानवीयता की सभी हृदें लौंघ जाता है, “पड़िया को पानी पीते देख ठाकुर के तन-बदन में आग लग गई क्यों कि जिस ओर से पानी बह कर आ रहा था पड़िया ने उसी ओर मुँह डाल दिया था। ठाकुर ने भद्री गाली देते हुए मुझसे कहा, “भैंच भंगिया के तेरी पड़िया को जूठै पानी मेरो बदू (बैल) पिएंगे ठहर मैं अभी आयौ।” ठाकुर हाथ में अरहर की लम्बी और मजबूत सटी लिये पास आया। मैं कुछ समझूँ कि उससे पहले ही उसने दाँत पीसते हुए तड़ातड़ संटियों की बरसात कर दी। संटियों की मार से घबरा कर मैं वहाँ से भाग खड़ा हुआ। भागते हुए मेरा पैर कीचड़ में धूंस गया पटक खाकर पिर पड़ा। मेरे कपड़े भी मिट्टी से लथपथ हो गए थे। कुछ ही देर में आँखों में आँसू लिये मैं माँ के सामने खड़ा था।”¹²

अस्पृश्यता वर्णवादी विचार धारा का सबसे घृणित आविष्कार है। सदियों से समाज में कुछ ग्रन्थों द्वारा इसको वैधता प्रदान करने के कारण इसमें छुपी अमानवीयता का अहसास ही नहीं होता कि वे कितना घृणित कार्य कर रहे हैं। जातियों का कोढ़ सर्वर्ण समाज में ही नहीं वरन् दलित समाज में भी इसकी जड़ें गहरे से इस प्रकार जमी हुई हैं कि अन्य जातियों के साथ साझा संघर्ष तो दूर की बात है वे एक दूसरे के त्यौहार और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी सहभागी नहीं होते। शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का

जन्मसिद्ध अधिकार है लेकिन इस सामाजिक व्यवस्था से शैक्षणिक संस्थान भी अछूते नहीं रहे, प्रत्येक जाति या वर्ण का बच्चा अपनी ही जाति या वर्ण वाली कतार में बैठ कर ही अध्ययन कर सकता है। शरण कुमार लिम्बाले अपनी आत्मकथा “अक्करमाशी” में इस भेदभाव पूर्ण शैक्षणिक व्यवस्था को चित्रित करते हैं, “स्कूल कभी विठोवा अथवा कभी महादेव के मंदिर में लगा करता था स्कूल के भीतर मतलब मंदिर में ब्राह्मणों तथा वैश्यों के लड़के बैठते थे। पहली कतार में एक और लड़के दूसरी ओर लड़कियाँ उनके पीछे चमारों के लड़के और सबसे पीछे महार लोगों के, दरवाजे के निकट मतंग जाति का अर्जुन हमारे साथ नहीं बैठता था। हम महार जमात के थे, इसलिए प्रति शनिवार स्कूल की जमीन को गोबर से लीपने का काम हमें दिया जाता था।”¹³ इस प्रकार यह व्यवस्था समाज को विभाजित करने का कार्य छोटे स्तर पर प्रारम्भ कर देती है साथ ही मनुष्य, मनुष्य के बीच ऐसा सम्बन्ध बना देती है कि वह एक दूसरे को देख कर घृणा से भर जाये और मानवीयता की सभी हृदों को पार करके उसको जानवरों जैसा जीवन व्यतीत करने पर मजबूर कर दे। इससे उलट दलित साहित्य ने समानता, बन्धुत्व, संघर्ष, उत्पीड़न आदि स्तम्भों पर टिका होने के कारण इसके मूल में अलगाव नहीं है अपितु इसकी आधारशिला जोड़ने पर रखी गयी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दलित समाज और संस्कृति, तेज सिंह, पृ. 132
2. वर्णी, पृ. 133
3. मेरा दलित चिन्तन, डॉ. एन सिंह, पृ. 18-19
4. दलित साहित्य के आधार तत्व-हरपाल सिंह ‘अरुष’, पृ. 66
5. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 53
6. श्रीरामचरितमानस, टीकाकार, हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ. 650
7. जाति वर्ग और इतिहास, संपादक, नीलकांत, पृ. 47
8. श्रीरामचरितमानस, टीकाकार, हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ. 936
9. भारत में जाति एवं वर्णव्यवस्था कब क्यों और कैसे?, एस. एल. शाह, पृ. 44
10. अशूत, दयापवार, पृ. 70-71
11. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 21
12. संतप्त, सूरजपाल चौहान, पृ. 23
13. अक्करमाशी, शरण कुमार लिम्बाले, पृ. 39

—डॉ. अमित कुमार
असि. प्रोफेसर हिन्दू पी.जी. कालेज
जमानियाँ, गाजीपुर

सामासिक संस्कृति के निर्माण में सूफी कवियों का योगदान

—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी

संस्कृति एक बहुआयामी शब्द है जिसे मानव-समाज की प्रायः सभी जीवन-व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। व्याकरणिक दृष्टि से संस्कृति शब्द की निर्मिति ‘संस्कृत भाषा की ‘कृ’ धातु में ‘सम्’ उपसर्ग के योग से हुई है जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—परिष्कृत करना।’¹ ‘हिन्दी शब्दसागर’ में संस्कृति शब्द के कई अर्थ दिये गये हैं, यथा—शुद्धि, सफाई, संस्कार, सुधार, मानसिक विकास, सजावट, सम्भूता आदि।² सामान्यतया किसी भी समाज की जीवन-यापन की शैली और तौर-तरीकों को उस समाज की संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति भौतिक साधनों के संचयन के साथ ही आध्यात्मिकता की गरिमा से मर्डित होती है। इसके व्यापक स्वरूप के अंतर्गत समाज में प्रचलित वेशभूषा, परम्परा, रीति-रिवाज, लोकविश्वास, आवागमन के साधन, धार्मिक मान्यता, पूजा-विधान आदि बहुत-से तत्त्व विवेचित होते हैं। इस सम्बन्ध में रामधारी सिंह दिनकर के शब्द द्रष्टव्य हैं—‘संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में व्याप्त है। यह एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग-युगान्तर में होता है। जिस प्रकार संस्कृतिजन्य गुणों का निर्माण कठिन है उसी प्रकार इनका नष्ट होना भी।’³ अलग-अलग क्षेत्रों, समाजों या देशों की संस्कृतियों में पर्याप्त भिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं। भारत जैसे विशाल देश में बहुत अधिक सामाजिक वैविध्य है। यहाँ विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और अलग-अलग जीवन-पद्धतियों पर आश्रित समाजों की बहुलता प्राचीनकाल से ही रही है। अतः यहाँ अलग-अलग संस्कृतियों का प्रचलित होना स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। यह एक आश्चर्यजनक किन्तु प्रशंसनीय तथ्य है कि कतिपय धर्मों और सम्प्रदायों में परस्पर विरोधी मान्यताओं के होते हुए भी यहाँ सभी धर्मों-सम्प्रदायों और भिन्न-भिन्न विचार-समूहों के लोग लम्बे समय से साथ-साथ रह रहे हैं और मिलजुलकर एक ऐसी समेकित संस्कृति का स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें परस्पर विरोधी विचारधाराओं में भी सामंजस्यपूर्ण परिहार मिलता है और सभी को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है। अलग-अलग संस्कृतियों के इस प्रकार त्याग और ग्रहणपूर्वक मिल जाने और व्यापक समाज के सभी लोगों को अपने वैयक्तिक एवं सामूहिक विकास करने का अवसर उपलब्ध कराने वाला स्वरूप ही सामासिक संस्कृति का निर्माण करता है। वर्तमान भारतीय संस्कृति ‘सामासिक संस्कृति’ का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसकी प्रशंसा

करते हुए प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने लिखा है, “भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की कहानी है। यह प्राचीन काल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सदैव रहेगी। दूसरी संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं परन्तु भारतीय संस्कृति व इसकी एकता अमर है।”⁴

भारतीय संस्कृति का सर्वसमावेशी स्वरूप ही इसमें वह शक्ति समाहित करता रहा है जिसके कारण यह संस्कृति चिरस्थायी और नित्य नवीन बनी हुई है। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी साहित्यकारों ने अपने समन्वयात्मक साहित्य सृजन से इसके साझा स्वरूप को लगातार पुष्ट किया है। इस दृष्टि से भारतीय सूफी कवियों का रचनात्मक अवदान बहुत ही विशिष्ट और प्रासारिक है। हिन्दी के सूफी कवियों ने भारतीय जीवन की मुख्यधारा से समरस होकर काव्य-सृजन किया है। भारतीय सामाजिक जीवन की समन्वयात्मक अथवा साज्ञा संस्कृति का बड़ा ही मोहक चित्र इन सूफी कवियों की रचनाओं में मिलता है। इन कवियों ने विभिन्न प्रेमाख्यानक ग्रन्थों के माध्यम से भारतीय समाज के यथार्थ चित्र खींचे हैं और अपनी प्रेममूलक उदार सामाजिक-आध्यात्मिक दृष्टि के कारण साज्ञा संस्कृति का चिरकाल-प्रासारिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। सूफी कवि असाइत की रचना ‘हंसावली’ से लेकर मुल्ला दाउद की ‘चान्दायन’, कुतुबन की ‘मृगावती’, मंझन की ‘मधुमालती’, आलम की ‘माधवानल-कामकंदला’, मलिक मुहम्मद जायसी की ‘पद्मावत’, शेख नबी की ‘ज्ञानदीप’, उस्मान की ‘चित्ररेखा’, जान कवि की ‘कथा नल-दमयन्ती’ आदि चर्चित प्रेमाख्यानक ग्रन्थों में मुस्लिम कवियों द्वारा हिन्दू परिवारों की कथाओं के माध्यम से हिन्दू संस्कृति के तत्वरूप रीति-रिवाजों, संस्कारों, कर्मकांडों, धार्मिक मान्यताओं, लोकविश्वासों आदि का जैसा विस्तृत उल्लेख मिलता है वह इन सूफी कवियों के अन्य धर्मों के प्रति उदार भाव, गहन जिज्ञासा एवं गम्भीर ज्ञान की पुष्टि करता है। सूफी परम्परा के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो तत्कालीन भारतीय समाज के रीति-रिवाजों को कभी मार्मिक गीतों में, कभी गम्भीर गजलों में तो कभी हल्के-फुल्के, हास्य मिश्रित दोहों में व्यक्त करते हैं। ‘छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाइ के’, ‘काहे को ब्याहे विदेस ओ लखिया बाबुल मारे’ आदि गीत आज भी भारतीय जनमानस के कंठहार बने हुए हैं।

सूफी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय अथवा सामासिक संस्कृति की जो भाव-भंगिमायें दिखाई पड़ती हैं वे भले ही

जाति-धर्म की भेदमूलक दीवारों को ध्वस्त कर पाने में सफल नहीं हो पायी लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे इन दोनों भिन्न संस्कृतियों को पास लाने और एक दूसरे को देखने-समझने का अवसर देने में पर्याप्त सफल रहीं। प्रायः सभी उल्लेखनीय सूफी कवि मुसलमान हैं और उनके द्वारा लिखे गये प्रेमाख्यानक ग्रन्थों के आरम्भ में की गई ईश-वन्दना, पैगम्बर मुहम्मद साहब की इस्लाम धर्म के पथप्रदर्शक रूप में प्रशंसा, चार खलीफाओं की प्रशस्ति आदि से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस्लाम धर्म की मान्यताओं में उनकी गहरी आस्था रही है। यदि धर्मनिष्ठ मुसलमान होने के साथ-साथ पहुँचे हुए फकीर होने के कारण उनकी रचनायें मुस्लिम समाज में समादृत थीं तो रचनाओं की विषयवस्तु हिन्दु समाज से सम्बंधित होने के कारण ये रचनायें हिन्दुओं के बीच भी सम्मानित थीं। एक ओर तो ये रचनायें हिन्दुओं को इस्लामी मान्यताओं और परम्पराओं की जानकारी देने का काम करती थीं तो दूसरी ओर मुसलमानों को हिन्दू समाज की संरचना तथा जीवन-शैली से परिचित कराती थीं। मुल्ला दाउद कृत ‘चान्दायन’ के आरम्भ में गोबर नगर का परिचय प्रस्तुत करने के क्रम में तत्कालीन हिन्दू समाज का संरचनात्मक बोध कराती हुई निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—‘बाँधन खतरी बसहिं गुवारा/ गहरवार औ आगरवारा/ बसहिं तिवारी औ पचवाना/ धागर ढूची औ हजवाना/ बसहिं गंधाई औ बनजारा। सात सरावग औ पनवारा/ सोनी बसहिं सुनार दिनानी/ राउत लोग बिसाती आनी/ ठाकुर बहुत बसैं चौहाना। परजा पौनि गिनति को जाना/ बहुत जाति दरमर अथवा, खोरहिं हींड न जाइ/ तैस देस वा गोबर, मानुस चलत भुलाइ’⁵ जिस समय कुतुबन, मंझन, जायसी, कासिमशाह आदि प्रेममार्गी सूफी कवि प्रेमकथाओं के माध्यम से मानवमात्र को प्रेम तत्व की अद्भुत महिमा का पाठ पढ़ा रहे थे और “मानुस प्रेम भयउ बैकुंठी, नाहिं त काह छार एक मूठी” जैसे सिद्धांत की उद्धोषणा कर रहे थे वह दो भिन्न संस्कृतियों के सम्मिश्रण का समय था। यही वह समय रहा है जब धार्मिक विश्वासों की रूढ़ टकराहट से ऊबा भारतीय जनमानस विभिन्न विचारों, विश्वासों और व्यवहारों के बीच भक्ति के माध्यम से मनुष्य मात्र की सार्थकता की खोज कर रहा था, उसकी एकता की खोज कर रहा था। इसी समय हिन्दू-मुस्लिम सभ्यतायें सांस्कृतिक व्यवहार और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। इसी प्रभाव और मेल-मिलाप का ही परिणाम रहा कि परवर्ती काल में दोनों संस्कृतियाँ पर्वों-त्योहारों, रीति-रिवाजों आदि में एक दूसरे की सहयोगी और पूरक बनीं। सूफी कवियों की रचनाओं में हिन्दू

धर्म-शास्त्रों में वर्णित विधि-निषेधों और पौराणिक कथाओं को प्रसंगानुसार पूरे आदरभाव से प्रस्तुत किया गया है। कवि कुतुबन की निम्न पंक्तियों में धार्मिक मान्यताओं के एकीकरण का प्रयास द्रष्टव्य है—“एही रूप बुत अहे छपाना/एही रूप रब सुष्ठि समाना/एही रूप सकती औ सीऊ/एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ”¹⁶

हिन्दी की सूफी काव्यधारा के सबसे महत्वपूर्ण कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। ‘पदमावत’ इनकी कालजयी रचना है। इसमें हिन्दू परम्पराओं, रीति-रिवाजों, पर्वोत्सवों, लोक-मान्यताओं, जीवन-दशाओं आदि के विशद और प्रामाणिक वर्णनों को देखते हुए इसे भारतीय संस्कृति के अक्षय स्रोत के रूप में मान्यता दी जा सकती है। अपने इस ग्रंथ के माध्यम से जायसी ने मानवता की उस भूमि का आदर्श रखा है जहाँ साम्प्रदायिक संकीर्णता की क्षुद्र धारा एक शान्त और शीतल महासमुद्र में बदल जाती है। इस उदात्त भावभूमि पर जायसी योग और प्रेम को एक डोर से बाँध देते हैं और हिन्दू-मुस्लिम के बीच की नफरत की दीवार तोड़कर उसमें व्यापक भारतीय संस्कृति की धारा प्रवाहित कर देते हैं जिसमें मातृभूमि का प्यार और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का प्रेम ही प्रधान होता है। जायसी ने ‘पदमावत’ में निबद्ध प्रेमकथा में भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी पक्षों का बड़ा सुंदर समाहार किया है। जायसी की समन्वयात्मक दृष्टि की महत्ता आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में द्रष्टव्य है—“कबीर ने अपनी झाइ-फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों के कट्टरपन को दूर करने का जो प्रयास किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदयाभास का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेमकहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पृशनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी हुई थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।”¹⁷

सूफी कवियों का दृष्टिकोण लोक कल्याणकारी था। मानव मात्र में एक ही परासत्ता की व्याप्ति दिखाकर वे पूरी मानव जाति की एकता का मत प्रतिपादित करते हैं। मानवमात्र की लिए कल्याण-कामना करने वाले इन सन्तों ने प्रेम को हृदयों को जोड़ने वाले एकमात्र और सशक्त तत्व के रूप में प्रस्तुत किया है। मलिक मुहम्मद जायसी का स्पष्ट मत है कि जिस भाषा में प्रेम भाव की अभिव्यक्ति हो सके वही सर्वोत्तम और सराहनीय भाषा है। उनका प्रेम चराचर-व्याप्त है। उनके प्रेम के स्वरूप और प्रेम की महत्ता को उनके इन शब्दों में देखा जा सकता है—“तीन लोक चौदह खंड सबै परे मोहि सूझि/प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु जो देखा मन बूझि/मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी/नाहि त काह छार एक मूठी।”¹⁸ निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सूफी कवियों ने उदारचेता समन्वयवादी दृष्टि अपनाकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को प्रेमपूर्वक मिलजुलकर रहने और सदाचार के मार्ग पर चलने का व्यावहारिक सन्देश दिया जिसने भारतीय समाज में समन्वयात्मक साझा संस्कृति को पनपने का अनुकूल परिवेश प्रदान किया।

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य सन्दर्भ कोश, प्रधान संपादक, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण संवत् 2015 वि., पृ. 801
2. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, संपादक, डॉ. रामचंद्र वर्मा, प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण संवत् 2014 वि., पृ. 644
3. डॉ. शिरोमणि सिंह ‘पथ’, बाल कविता में सामाजिक सांस्कृतिक चेतना, आशा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 164
4. वही, पृ. 60
5. मुल्ला दाउद कृत चान्दायन, सम्पादक, परमेश्वरीलाल गुप्त, प्रकाशक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा. लि., दिल्ली शाखा, पृ. 90
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद (प्रयागराज), आठवाँ संस्करण, सन् 2012, पृ. 64
7. वही, पृ. 66
8. मलिक मुहम्मद जायसी, संपादक, डॉ. विनोदचन्द्र पाण्डेय, डॉ. प्रभाकर शुक्ल, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1996 ई., पृ. 138

—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी),
राजकीय महाविद्यालय कुचलाई,
सीतापुर (उत्तर प्रदेश)

रामवृक्ष बेनीपुरी के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना

—डॉ. प्रकृति राय

किसी भी देश की अपनी एक अलग पहचान होती है और वह पहचान उसकी भूमि, जन एवं संस्कृति से जुड़कर बनती है। भारत एक ऐसा देश था जो पूरे विश्व में ‘सोने की चिड़िया’ के रूप में जाना जाता था और इसे ‘विश्व गुरु’ की उपाधि भी प्रदान की गयी थी परन्तु इसकी यही पहचान और समृद्धि विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण का कारण बनी। सबसे पहले मुगल आये और उन्होंने इस देश को लूटकर अपने देश को समृद्ध बनाने का कार्य किया। उनके बाद आने वाले अंग्रेजों ने नए-नए हथकण्डे अपनाकर इस देश के धन और जन को लूटा। विकास के पथ पर सतत् अग्रसर इस देश को इन आक्रमणकारियों ने बहुत पीछे ढकेल दिया। अंग्रेजों का शासन कई सौ वर्षों तक रहा और ये आक्रमणकारी यहाँ की जनता का शारीरिक, मानसिक और आर्थिक शोषण करते रहे। उस समय अंग्रेजों का विरोध करने का तात्पर्य था अपनी तथा अपने परिवार की बर्बादी, ऐसे में अंग्रेजों से खुलकर मोर्चा लेने की हिम्मत सबके पास नहीं थी। कुछ उत्साही नौजवानों ने स्वयं को स्वतन्त्रता की इस लड़ाई में झोंक दिया परन्तु समाज का एक ऐसा वर्ग भी था जो सीधे अंग्रेजों से मोर्चा नहीं ले सकता था परन्तु स्वतन्त्रता की चाह उसके अन्दर भी थी और इस वर्ग ने अपनी बात कहने के लिए अपना हथियार अपनी लेखनी को बनाया और इन सब के अतिरिक्त भी एक वर्ग ऐसा था जो लेखनी और हथियार दोनों से साथ साथ काम लेता था। रामवृक्ष बेनीपुरी इस तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आने वाले क्रान्तिकारी साहित्यकार थे। जो एक तरफ क्रान्तिकारियों के साथ कदम से कदम मिला कर चलते थे तो दूसरी तरफ उनकी रचनाएँ युवाओं में देश के लिए कुर्बान हो जाने का जोश भरती थीं। ‘भारत बोध’ अर्थात् अपने देश के प्रति अनुराग, अनुभूति, सम्मान इनकी रचनाओं में सर्वत्र दर्शनीय है। ‘भारत बोध’ का अंग्रेजी अनुवाद Idea of India के रूप में प्रचलित है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ अनुभूति से जुड़ा हुआ है और यह अनुभूति व्यक्ति के केवल बाहरी रूप को ही प्रभावित नहीं करती अपितु इसका प्रभाव उसके पूरे व्यक्तित्व पर पड़ता है और जिसके मन में अपने देश के प्रति एक बार अनुराग उत्पन्न हो जाय उसके सपने, आशाएं, आकांक्षाएं सब इसी बोध या अनुभूति के साथ एकाकार हो जाती हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी का जीवन और व्यक्तित्व भी इसी का एक जीता जागता उदाहरण है।

रामवृक्ष बेनीपुरी की चेतना को भारत माँ की पुकार ने ऐसा झंकूत किया कि वह अपना घर-बार, परिवार छोड़कर इस आन्दोलन में गांधी के पीछे खड़े हो गये। उनके पास कलम थी, उन्होंने मार्क्स को पढ़ा था, लन्दन, फ्रांस, जर्मनी की स्वतन्त्रता को आँखों से देखा था। रूस की धरती को, वहाँ के साम्यवाद को, मजदूरों, श्रमिकों की सामूहिक ताकत को पहचाना था। जापान को किस प्रकार जीवन के साम्यवादियों ने एकजुट होकर अपनी धरती से खदेड़ दिया था, इसका भी उन्होंने अध्ययन किया था। जिसके जेल के साथी जयप्रकाश नारायण थे, वह अपने राष्ट्र के लिए देश के लिए भला क्यों नहीं खड़ा होगा? अपने इस भारत देश को बेनीपुरी ने अपनी माता के रूप में देखा, जो अत्यन्त जरावर्स्था को प्राप्त हो गयी है, जिसके हाथ, पैर जंजीरों से जकड़े हुए हैं, जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए अपने पुत्रों का आहवान कर रही है। ‘कैदी की पत्नी’ नामक अपनी रचना में बेनीपुरी इस बात का उल्लेख करते हैं—‘कहोगी वृद्धा कौन है, कहाँ से आकर मेरे सामने यह अचानक खड़ी हो गयी? बिना किसी बड़ी भूमिका के सुना दूँ। वह मेरी नहीं, हमारी तुम्हारी सबकी माता, हमारी देश माता, भारत माता है।’¹ स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय रहने के साथ-साथ बेनीपुरी लिखने का कार्य भी करते रहते थे, उन्होंने गद्य की विविध विधाओं में लेखन का कार्य किया और इन विधाओं में उनके क्रान्तिकारी जीवन की झलक भी मिलती है। उन्होंने कभी समाज में प्रचलित कुरीतियों, कुप्रथाओं के खिलाफ आवाज उठाई तो कभी अंग्रेजों के खिलाफ लिखकर जेल की हवा भी खायी। इनकी सभी रचनाओं में कहीं न कहीं भारत बोध या ये कहा जाय कि राष्ट्रीयता के तत्व समाहित रहते ही हैं। विधवा विवाह, सती प्रथा, दहेज प्रथा, जातिवादी व्यवस्था का विरोध करना बेनीपुरी की समाजवादी सोच का परिणाम था। कार्ल मार्क्स, रोजा लक्जम्बर्ग, जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी विचारकों ने इन्हें गहरे अर्थों में प्रभावित किया। इन समाजवादी विचारकों की जीवनियाँ लिखकर उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में समाजवाद के महत्व को उजागर करने का प्रयास किया। वह चाहते थे कि भारत में अधिकांश गरीब, मजदूर, श्रमिक और छोटे किसान हैं उनके जीवन की दशा बदले। उन्होंने वैशिक पटल पर चीन और रूस को ऐसा करते हुए देखा और उसी समाजवाद की समर्थक रोजा लक्जम्बर्ग की जीवनी को लिखकर उन्होंने भारतीय समाज में ऐसी ही प्रेरणा भरने का प्रयास किया। वह जानते थे कि बिना बलिदान दिए ऐसा सम्भव नहीं है। इनके बारे में लिखते हुए वे कहते हैं—वह बड़े से बड़ा बलिदान करने को हमेशा

उद्धृत रहती थी। रोजा चाहती थी कि उनकी समाधि पर ये पंक्तियाँ लिखी जाय—“मुझे अफसोस है, उन दिनों का, जिनमें मेरे शरीर पर कोई घाव न लगे, मुझे अफसोस है, और उस अफसोस में मैं अपने सिर पर खाक डाल लेती हूँ कि विजय में मेरा विश्वास और तीक्ष्ण और सबल न था।”² अपने लेखन के प्रारम्भिक दौर में उन्होंने गुरु गोविन्द सिंह, शिवाजी जैसे भारत के बड़े वर्ग का प्रतिनिधि ऐतिहासिक घटनाकाल लेखन की जीवनी लिखी जिन्होंने आजीवन भारत माँ की सेवा के लिए बाहरी आक्रमणकारियों से संघर्ष किया। बेनीपुरी भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्वतन्त्र देखना चाहते थे। यह बिना लड़ाई के सम्भव नहीं था। एक तरफ वह अहिंसा के समर्थक थे, गांधीवादी विचारधारा के पोषक थे लेकिन यह अस्त्र सफल न हो तो शस्त्र के प्रयोग को भी उचित मानते थे। अपने लेख अगस्त क्रान्ति और जय प्रकाश नारायण में लिखते हैं—“हमारा मकसद आजादी है, अगर अहिंसा से मिली, तो फिर क्या कहना है? किन्तु जरूरत हुई तो हिंसा से भी उसे प्राप्त करने में हम नहीं मुकरेंगे।”³ अपने साहित्यिक जीवन में बेनीपुरी ने देश में क्रान्ति की अलख जगाने के लिए विभिन्न पत्र पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया, जिनमें ‘बालक’, ‘युवक’ ‘कर्मयोगी’, ‘जनता’ आदि प्रमुख हैं। ‘जनता’ नामक पत्र में नेपाल सम्बन्धी लेख प्रकाशित करने के कारण इन्हें जेल भी जाना पड़ा था। वे विभिन्न स्थानों पर सभाएं कर के लोगों के बीच क्रान्ति का अलख जगाने का कार्य करते थे, इस सम्बन्ध में बेनीपुरी लिखते हैं—‘कभी पटना, कभी गया, कभी मुंगेर, कभी भागलपुर, कभी सारन, कभी चम्पारण दिन रात प्रान्त के कोने-कोने में धूमता और बड़ी से बड़ी सभाओं में बोलता ही रहता। मेरे पीछे सदा ही सी। आई. डी. के रिपोर्टर भी लगे रहते हैं।’⁴ ‘पतितों के देश में’ नामक रचना में बेनीपुरी एक कैदी की कहानी के माध्यम से समाज में प्रचलित जातिवादी व्यवस्था पर सवाल उठाते हैं, इसका नायक मनोहर, सुहगिया से प्रेम करता है लेकिन अलग-अलग जाति का होने के कारण दोनों का विवाह नहीं हो पाता, मनोहर के माध्यम से बेनीपुरी कहते हैं—‘जात-पांत तो अब आखिरी सांस ले रही है, दम तोड़ रही है। यदि हम दो चार लात लगाकर उसका अन्त और निकट ला दें, तो अच्छा ही है। वह धुटधुट कर तो मर ही रही है, सो जरा जल्दी खत्म हो जाय?’⁵ ‘चिता के फूल’ रचना में बेनीपुरी ने देश के लिए बलिदान करने वाले उस आमजन की कथा कही है जिनका नाम इतिहास में कहीं स्वर्ण अक्षरों में नहीं लिखा गया, परन्तु देश के नाम वे अपना जीवन कुर्बान कर गये। इस कथा का नायक रामू

देश की आजादी की लड़ाई लड़ता हुआ जेल में ही अपने प्राण त्याग देता है परन्तु उसके बलिदान का साक्ष्य प्रस्तुत करने वाला वहाँ कोई उपस्थित नहीं था—“कोई वहाँ ऐसा नहीं था, जो इसकी घोषणा करता कि रामू ने अपने को देश के लिए कुर्बान कर दिया, किसी के मुँह से उस दिन रामू की जयकार नहीं निकली, उसका जनाजा फूलों-भरा भी नहीं निकल पाया था। एक जगली फूल की तरह वह खिला और अनदेखे झड़ पड़ा। उसकी शहादत की उमर साक्षिणी एकमात्र माँ-गंगा रही।”⁶ इसी प्रकार बेनीपुरी ने भारत की ग्रामीण संस्कृति का वर्णन करते हुए चरवाहा, हलवाहा, रजिया, बलदेव सिंह, डोमखना जैसी रचनाएं की जिसमें हमें भारतीय ग्रामीण संस्कृति की झलक देखने को मिलती है, ‘जुलेखा पुकार रही है’ के माध्यम से तत्कालीन समाज में प्रचलित दहेज प्रथा की विदूपता को दर्शाया गया है, जो आज के समय में उस से भी विकराल रूप में विद्यमान है।

बेनीपुरी के शब्द-चित्र भारत की भूमि, जन और संस्कृति से जुड़े हैं। यहाँ अन्न को जीवन और अन्न-दान को महादान कहा जाता है लेकिन इस संस्कृति पर मुगलों ने हमला किया और शोषण की पृष्ठभूमि तैयार की। आगे चलकर अंग्रेजों ने उसी भूमि पर शोषण की पराकाष्ठा की फसल उगाई। यद्यपि शोषणकर्ता कोई और नहीं बल्कि अंग्रेजों के चाटुकार थे। शोषक पोषित होता रहा और शोषित कुपोषित, अन्नदाता भिखारी बन गया। उसका पेट भर जाय यही बड़ी बात है, हाड़-तोड़ मेहनत, बैल की तरह जुतना, धूप में शरीर को काला करने के बावजूद, उसे अपेक्षित फल नहीं मिला। किसान को लगान और सूदखोरी ने मार डाला। बेनीपुरी की प्रसिद्ध रचना ‘गेहूँ बनाम गुलाब’ समाज के इन्हीं दो वर्गों की कहानी है। वह स्वयं लिखते हैं—‘अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़ने वाले, थकाने वाले, उबाने वाले, नारकीय यन्त्रायां देने वाले श्रम का उस श्रम का, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके। और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का-भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का! वह विलासिता जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी।’⁷ आज श्रमिक तड़प रहा है, पेट के लिए और अभिजात्य वर्ग उसे तड़पा रहा है अपनी विलासिता के लिए। वह भारत कहाँ गया जो सोने की चिड़िया था, तभी लेखक को याद आता है कि उसी सोने की चिड़िया वाले भारत में राक्षसों का प्रतीक रावण भी था जिसके दस-दस सिर थे जो रक्त का कर लेता था। दूसरे की स्त्रियों का अपहरण करता था, लूटता था, खाता था, सोता था और कुछ राक्षस तो छ: माह सोते थे और

जगने के बाद केवल भोजन करना ही उनका कार्य था। आज वही राक्षसता हमारे भारत में राज कर रही है। बेनीपुरी जी अपनी इस रचना में कहते हैं—‘हमारा सोने का हिन्दुस्तान’ यह गीत गाइए, किन्तु यह न भूलिए कि यहीं एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी। राक्षसता जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छ: महीने सोती थी, जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।’⁸ ‘कहीं धूप, कहीं छाया’ के माध्यम से बेनीपुरी जर्मांदारी प्रथा की कुरुपता का वर्णन करते हैं। यह एक ऐसे जर्मांदार की कहानी है जो गरीब, लाचार जनता से बेगारी करवाता है और अगर गलती से भी उनसे कोई भूल हो गई तो उन्हें अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। इस कथा में उन्होंने जर्मांदारों की शोषण की पराकाष्ठा को उजागर किया है, जो खुद तो अंग्रेजों की चापलूसी में लगे रहते हैं और इन गरीबों का शोषण करते हैं। आजादी के बाद देश के स्वर्णिम भविष्य का जो सपना उन्होंने देखा था वह बिखरता हुआ नजर आ रहा था, देश आजाद होने के बाद बदलाव की जो तस्वीर उन्होंने अपने मानस पटल पर उकेरी थी वह अब स्वप्न जैसी लगने लगी थी क्योंकि अब आजाद भारत की सरकार भी अंग्रेजों के ही नक्शे कदम पर चल रही थी। जनता के सपने मटियामेट हो गये थे। सारी व्यवस्था जस की तस अपना ली गई थी बस कृसिंहों पर बैठने वाले चेहरे बदल गये थे। इसी विषय को केन्द्र बनाकर उन्होंने ‘नया समाज’ नामक एकांकी की रचना की जिसमें उनकी समाजवादी विचारधारा के दर्शन होते हैं जिसमें पूँजीपती वर्ग का कैलाश आज भी निर्धन वर्ग के विनय का शोषण कर रहा है।

संदर्भ ग्रंथ

1. कैदी की पल्ली, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 274
2. रोजा लक्जमवर्ग, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 21
3. अगस्त क्रांति और जयप्रकाश नारायण, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 324
4. जेल, जेल, जेल, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 100
5. पतितों के देश में, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी पृ. 358
6. चिता के फूल, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 189
7. गेहूँ बनाम गुलाम, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 211
8. शब्द-चित्र, गेहूँ बनाम गुलाब, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ. 213

—डॉ. प्रकृति राय

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
डी. ए. वी. महाविद्यालय सीवान, छपरा,
जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

स्वधर्म से स्वराज : विनायक दामोदर सावरकर

—डॉ. प्रखर कुमार

स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर का जन्म 28 मई, 1883 ई. को नासिक जिले के भगूर ग्राम में एक चितपावन ब्राह्मण के घर में हुआ था। उनके पिता श्री दामोदर सावरकर एवं माता राधाबाई दोनों ही परम् धार्मिक तथा हिन्दुत्त्वनिष्ठ विचारों से परिपूर्ण थे। विनायक दामोदर सावरकर पर उनके माता-पिता के संस्कारों का प्रबल प्रभाव था जिसके कारण ही वह प्रारम्भ से ही धार्मिकता से ओत-प्रोत थे। बाल्यकाल से ही सावरकर हिन्दू धर्मशास्त्रों, महाभारत, रामायण, राणाप्रताप, शिवाजी तथा पेशवाओं की कथाओं के श्रवण से ओत-प्रोत थे। विद्याध्ययन के समय नासिक में लोकमान्य तिलक के लेखों एवं अंग्रेजों के अत्याचारों के समाचारों ने सावरकर के हृदय में विद्रोह के बीज उत्पन्न कर दिये। उन्होंने अपनी कृत देवी अष्टभुजी दुर्गा की प्रतिमा के सम्मुख प्रतिज्ञा ली कि देश की स्वाधीनता के लिए अन्तिम क्षण तक सशस्त्र क्रांति का झँडा लेकर जूझता रहँगा। 1900 ई. में सावरकर ने ‘मित्र मेला नामक’ गुप्त संगठन की स्थापना की थी, बाद में यही संगठन आगे चलकर ‘अभिनव समाज’ के रूप में 1904 ई. में परिवर्तित हुआ। युवक सावरकर ने लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में पूना में आयोजित एक सार्वजनिक समारोह में सबसे पहले बंग-भंग आन्दोलन के दौरान ‘विदेशी वस्त्रों’ की होती जलाकर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का शुभारंभ किया था जिसके कारण फार्गुसन कालेज से निष्कासित होने के पश्चात् तिलक की प्रेरणा से वह लन्दन के लिए प्रस्थान किये। तिलक की सिफारिश पर सावरकर को श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लन्दन बुलाया था। 1906 ई. में क्रांतिमंत्र में दीक्षित युवा विनायक दामोदर सावरकर वकालत पढ़ने के नाम पर शत्रु के घर इंग्लैड में ही मातृभूमि का स्वातंत्र्य समर लड़ने पहुंच जाते हैं। प्रखर राष्ट्रभक्त एवं संस्कृत के महाविद्वान शमाम जी कृष्ण वर्मा द्वारा स्थापित “इंडिया हाउस” को सावरकर अपनी क्रांति साधना का केन्द्र बना लेते हैं। लन्दन में सावरकर ने ‘फ्री इंडिया सोसाइटी’ गठित की थी, जहाँ पर प्रसिद्ध क्रांतिकारी भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगरा, मैडम भीकाजी कामा, सेनापति बापट आदि से सावरकर का सम्पर्क हुआ। सावरकर ने अपने कृत्यों से सारे क्रांतिकारियों और देशभक्त लोगों पर अमिट छाप छोड़ी। सावरकर की गतिविधियों पर रोक लगाने के लिए “इंडिया हाउस” बंद कर दिया गया। पुलिस का जाल फैलाया गया जिससे इन्होंने पेरिस जाकर भारत की स्वाधीनता का सशस्त्र कार्यक्रम चलाया। सावरकर ने पेरिस से प्रकाशित क्रांतिकारी पत्र ‘तलवार’ में 1857 ई.

के स्वतंत्रता समर के इतिहास को लिखने के पीछे अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा था, ‘कि इस पुस्तक के द्वारा देशवासियों के मन में मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए द्वितीय निर्णायक युद्ध का संकल्प जगाना चाहते हैं। 10 मई, 1908 ई. को 1857 ई. की क्रांति की 50वीं वर्षगांठ के लंदन आयोजन में सावरकर ने ‘थे शहीदों शीर्षक’ से अंग्रेजी में चार पृष्ठ लम्बे पैफलेट की रचना की थी जिसका ‘इंडिया हाउस’ में आयोजित कार्यक्रम में तथा यूरोप एवं भारत में बड़े पैमाने पर वितरण किया गया था। एक वर्ष तक ‘इंडिया आफिस लाइब्रेरी’ और ‘ब्रिटिश लाइब्रेरी म्यूजियम’ में बैठने के बाद सावरकर ने “1857 ई. का स्वातंत्र्य समर” पुस्तक लिखी जो भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र रूप का साक्षात्कार था। अपने पैफलेट के माध्यम से सावरकर ने भावी क्रांति का आहान किया और कहा कि 10 मई, 1857 ई. को शुरू हुआ युद्ध 10 मई, 1908 ई. को समाप्त नहीं हुआ है, वह तब तक नहीं रुकेगा, जब तक उस लक्ष्य को पूरा करने वाली कोई अगली 10 मई नहीं आयेगी। सावरकर कहते हैं, “ओ महान शहीदों! अपने पुत्रों के इस पवित्र संघर्ष में अपनी प्रेरणादायी उपस्थिति से हमारी मदद करो। हमारे प्राणों में भी जादू का वह मंत्र फूंक दो जिसने तुमको एकता के सूत्र में गँूँथ दिया था”।

सावरकर को 1910 ई. में लन्दन में गिरफ्तार करके राजद्रोह का मुकदमा चलाकर 50 वर्ष के लम्बे कारावास की सजा सुनाई गई। अपने कारावास के सत्ताईस वर्ष जेल में व्यतीत करते हुए उन्होंने ‘कमला’, ‘गोमान्तक’, ‘विरहोच्छवास’, ‘हिन्दुत्त्व’, ‘हिन्दू पदपादशाही’, ‘उःश्राप’, ‘उत्तरक्रिया’, ‘सन्यस्त खड़ग’, आदि ग्रन्थ लिखे। 1937 ई. में जेल से मुक्त होने के पश्चात सावरकर ने अपनी सारी शक्ति हिन्दू महासभा को अपीर्त कर दी थी। उनकी हिन्दू विचारधारा के कारण उन्हें 1947 ई. के भारत के स्वतंत्रता समारोह में आमंत्रित नहीं किया गया जबकि वे अंत तक भारत विभाजन का विरोध करते रहे। महात्मा गांधी हत्याकांड में गांधी जी के विरोधी तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के हितैषी होने के कारण इन्हें गिरफ्तार किया गया लेकिन बाद में निर्दोष होने के कारण उन्हें बरी कर दिया गया। सावरकर की सभी चल-अचल सम्पत्ति अंग्रेजों ने जब्त कर ली थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने उन्हें केवल पेंशन प्रदान की थी लेकिन उनकी सम्पत्तियों को उन्हें वापस नहीं लौटाया गया। सावरकर ने कभी भी पद लोलुपता के वश सत्ता की कामना नहीं की थी, वे एक महान एवं सच्चे देशभक्त थे। उनकी जीवन गाथा भारतवासियों के लिए सदैव प्रेरणास्रोत रहेगी।

किसी भी राष्ट्र के इतिहास और सामाजिक संस्थाओं से उसके आचार-विचार एवं सम्पादित पुरुषार्थ का प्रकटीकरण होता है। सावरकर का ‘स्वराज’ व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के स्वातंत्र्य से संपृक्त है। सावरकर का ‘स्वराज’ किसी औपनवेशिक सत्ता के नियमों के अनुरूप न होकर अपितु मुक्ति के पश्चात अपने नियमों एवं आदर्शों के अनुसार स्वशासन होना चाहिये, जो व्यक्तिगत रूप से आत्मनिष्ठ तथा समष्टिगत रूप से राष्ट्रनिष्ठ हो। सावरकर नैतिकता, आत्मसंयम एवं आत्मोत्सर्ग की पृष्ठभूमि पर बाह्य एवं आतंरिक समस्त प्रपञ्चों को नियंत्रित करने के साथ ही अराजक तत्त्वों से प्रतिकार करने में संकोच नहीं करते हैं। सावरकर व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की मुक्ति का मार्ग खोजते हैं। आतंरिक मुक्ति की प्रेरणा वे भारतीय दर्शन से प्राप्त करते हैं जबकि राष्ट्रीय मुक्ति की प्रेरणा वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से प्राप्त करते हैं। जिनपर मैजिनी, गैरीबाल्डी एवं सीले का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। मानवतावाद तथा सार्वभौमवाद को दृष्टि में रखकर ही सावरकर ने ‘स्वराज’ के विचार में यह व्यक्त किया है कि हिन्दुओं को हिन्दू राष्ट्रीयता को बलवती बनाते हुए हमें गैर हिन्दुओं के प्रति आक्रामक दृष्टिकोण नहीं रखना है किन्तु अपने आत्मरक्षार्थ हेतु हमें प्रतिक्षण तैयार रहना चाहिए जिससे किसी भी आकार्सिक आक्रमण का साहसपूर्ण तरीके से सामना किया जा सके। सावरकर की यह विचारणा थी कि भारत सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ एवं अपने राष्ट्रीय बहुमत की संस्कृति का प्रतीक बने। सावरकर हिन्दुओं को एक महान राष्ट्र के रूप में सदैव देखना चाहते थे। हिन्दुओं को हिन्दूराष्ट्र का गौरव प्राप्त करने के लिए हिन्दूधर्ज के नीचे अपने ‘स्वराज’ की स्थापना करनी होगी। हमारी स्वर्धम की कल्पना ‘स्वराज’ से भिन्न नहीं है। ये दोनों साध्य होने के नाते से संलग्न है। स्वर्धम के बिना ‘स्वराज’ तुच्छ है और ‘स्वराज’ के बिना स्वर्धम बलहीन है। हेतु से जैसे कृत्य का परीक्षण सामान्य व्यवहार में किया जाता है उसी तरह इतिहास में भी व्यक्ति या राष्ट्र के हेतु से उसके कृत्य का स्वरूप निश्चित होता है। यदि यह कसौटी छोड़ दे तो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को मारना या किसी एक सेना द्वारा दूसरी सेना को मारने में कोई भेद नहीं रहेगा। साम्राज्य के लिए सिकंदर महान की चढ़ाइयाँ और इटली की स्वतंत्रता के लिए गैरीबाल्डी द्वारा की गयी चढ़ाइयाँ दोनों समान मूल्य की मानी जायेगी। सावरकर के ‘स्वराज’ की अवधारणा में राष्ट्र सर्वोच्च है। विभिन्न विचारकों द्वारा ‘स्वराज’ की संकल्पना उनके अपने भू-राजनीतिक परिवेश एवं आध्यात्मिक आदर्शों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गयी थी, फिर भी हिंदुस्तान की

विविधता में एकता स्थापित करने के क्रम में सावरकर तुष्टीकरण का मार्ग नहीं अपनाते हैं। सावरकर द्वारा प्रस्तुत ‘स्वराज’ की संकल्पना अब तक विद्यमान सभी वैचारिक पृष्ठभूमियों की व्याख्या में तर्कसंगत एवं व्यवहारिकता को प्रस्तुत करता है। सावरकर की दृष्टि में राष्ट्र की एकता और अखण्डता की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिए सापेक्षिक प्रतिकार आवश्यक है। निसंदेह इस स्थिति में सावरकर और गांधी एक धरातल पर उपस्थित प्रतीत होते हैं। व्यक्ति के ‘स्वराज’ और राष्ट्र के ‘स्वराज’ की परिणति पूर्णता की प्राप्ति है जहाँ व्यक्ति अपने नैतिक प्रतिष्ठा के साथ स्वातंत्र्य की पूर्ण अभियक्ति को प्राप्त करता है। व्यक्ति राष्ट्रभावापन्न है तथा राष्ट्र लोकहितभावापन्न है।

सावरकर को हिन्दुओं की सांस्कृतिक तथा दार्शनिक उपलब्धियों पर बड़ा गर्व था। अपनी पुस्तक ‘हिन्दुत्त्व’ में उन्होंने दावा किया है कि “हिन्दू चिन्तन ने अज्ञात की प्रकृति के सम्बन्ध में मानव चिन्तन की संभावनाओं को ही निःशेष कर दिया है। सावरकर कहते हैं कि जिस जाति का कोई अतीत नहीं उसका कोई भविष्य भी नहीं हो सकता, यदि यह भक्ति सत्य पर आधारित है तो हिन्दूजाति आत्मगौरव की भावनाओं को जागृत करने के लिए उतना प्रयत्न नहीं करता जितना कि वह स्वयं को उद्घाटित करने की दिशा में प्रयत्नशील है।” हमने रोम, यूनान जैसे राष्ट्रों को नष्ट कर देने वाली शक्तियों का भी मान मर्दन कर देने का महान शौर्य और पराक्रम भी प्रदर्शित किया है। यूरोप में जब क्रुसेड अर्थात् धर्मयुद्ध के दौरान अपनी पृण्यभूमि के लिए विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के लोग जिनकी भाषायें भी पृथक थीं उन्होंने संयुक्त होकर संग्राम किया था जिससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पुण्यभूमि की ममता कितनी अद्भुत होती है। किसी भी राष्ट्र की पूर्ण एकता, अखण्डता और संगठित अवस्था के लिए सर्वोत्तम स्थिति यही हो सकती है कि उसकी मातृभूमि और पुण्यभूमि एक हो।

सावरकर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मराठों की राजसत्ता का सिद्धांत ‘स्वर्धम एवं स्वराज्य’ के आदर्शों से अनुप्रेरित था। सावरकर ने मराठा राजतंत्र के लोकतांत्रिक तत्त्वों को भी उद्घाटित किया था। सावरकर कभी भी अत्प्रसंख्यकों की तुष्टीकरण करने तथा बहुसंख्यकों द्वारा उनके सामने घुटने टेकने के पक्ष में नहीं थे। अंग्रेज, हिन्दू-मुस्लिम एकता को भंग करने में सफल सिद्ध हुए थे। जब हम स्वराज या आत्मनिर्णय की बात करते हैं तब मनुष्य पर मनुष्य का प्रभुत्व राजनीतिक क्षेत्र में सबसे मूर्त रूप में अनुभव होता है। हालाँकि, एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति पर विचारों के क्षेत्र में एक सूक्ष्म वर्चस्व का प्रयोग

किया जाता है, यह वर्चस्व परिणाम में अत्यंत गंभीर होता है क्योंकि इसमें असहजता का बोध नहीं होता है। राजनीतिक अधीनता का अर्थ मुख्य रूप से लोगों के बाह्य जीवन पर संयम है यद्यपि कि यह धीरे-धीरे आत्मा के आंतरिक जीवन में प्रवेश कर जाता है। जब तक वह संयमित रहता है तब तक उसका विरोध करना या उसे एक आवश्यक बुराई के रूप में सहन करना एवं आत्मा से मुक्त रहना संभव है। दासता तब शुरू होती है जब कोई बुराई को महसूस करना बंद कर देता है और जब बुराई को अच्छाई के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो यह गहरा होता जाता है। जिसके लिए लाखों जूझते हैं, राजसिंहासन जिस कारण डगमगाते हैं, स्थापित मुकुट लुढ़कते हैं, अजन्में मुकुट सिर चढ़ते हैं, स्थापित मूर्ति भंग होकर नई मूर्ति की स्थापना भी जिसके कारण होती है, और प्रचंड समूह को लगने लगता है कि इसके आगे रक्त बहाना तो कुछ भी नहीं, ऐसे किसी विक्षोभक तत्त्व के सिवाय किसी अन्य क्षुद्र एवं क्षणिक नींव पर क्रांति के भव्य भवन का निर्माण असंभव हैं पर क्रांति की नींव का यह तत्त्व जिस प्रमाण में पवित्र या अपवित्र होता है, उसी प्रमाण में उस क्रांति के कार्यकर्ता व्यक्ति के स्वरूप और कृत्य भी पवित्र या अपवित्र होते हैं। द वर्ल्ड के सम्पादक गार्ड ए. अल्फेड को सावरकर ने लिखा था, “मेरा विश्वास है कि यद्यपि मानव जाति को राष्ट्रवाद और संघवाद के द्वारा अर्थात् बड़े-बड़े राज्यों के संगठनों के द्वारा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है, किन्तु वह लक्ष्य राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। अंतिम लक्ष्य तो मानवतावाद है, उससे न्यून अथवा अधिक कुछ नहीं। सम्पूर्ण राजनीतिक विज्ञान तथा कला का आदर्श मानव राज्य होना चाहिए। पृथ्वी हमारी जन्मभूमि है, मानव जाति हमारा राष्ट्र है और अधिकारों तथा कर्तव्यों की समानता पर आधारित मानव सरकार हमारा अंतिम राजनीतिक लक्ष्य होना चाहिए।” सावरकर ने अपनी पुस्तक “1857 के स्वातंत्र्य समर” में लिखा है कि “हमारे कर्मों में धर्म और देशभक्ति की ऐसे गठबंधन की कुलीनता का मंत्र उच्चारित करो कि वह सच्चा धर्म जो सर्वदा देशभक्ति का पक्षधर है, वह सच्ची देशभक्ति जो धर्म की स्वतंत्रता को सुरक्षित करती है। हमें वह अत्युत्तम उर्जा प्रदान करो, वह साहस और गोपनीयता प्रदान करो जिसके बल पर आपने शक्तिशाली ज्वालामुखी को संगठित किया। हमें उस ज्वालामुखीय लावा के दर्शन कराओ, जो पतली बहरी पर्पटी के नीचे दबा है, जिसपर शत्रु को झूठी सुरक्षा के भ्रम में रखा जा सकता है। हमें बताओ की किस प्रकार भारत में भयावह विरोध की प्रतीक चपाती गाँव-गाँव और घाटी-घाटी में घूमी थी।

जिसने राष्ट्र की समूची प्रज्ञा को अपने संदेश की अस्पष्टता से प्रज्जवलित कर दिया था। हमें श्रवण करने दें, उस दहाड़ी हुई गर्जना का जिसके साथ अन्ततः ज्यालामुखी फूट पड़ा था, अपने समस्त ध्वंसकारी बल के साथ और जो अपने रक्त तप्तलावा प्रवाह में सभी को छिन्न भिन्न करता, जलाता और भस्म करता चला था।”

1909 ई. में प्रकाशित अपने ग्रन्थ “दी इंडियन वार आफ इन्डिपेन्डेन्स” में सावरकर ने यह सिद्ध किया कि 1857 ई. का युग भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था, जो भारत से ब्रिटिश शासन को निकाल फेंकने का हिन्दू-मुस्लिम एकता का सम्मलित एवं सशक्त प्रयास था। इसी से सावरकर ने अपने ग्रन्थ “भारतीय इतिहास के छ: स्वर्णिम पृष्ठ” में यह सिद्ध किया कि आक्रामक यवन, शक, पहलव, कुषाण एवं हुण के कुस्वप्न को विफल करने के लिए चन्द्रगुप्त, पुष्टमित्र, विक्रमादित्य एवं यशोवर्मा की पौरुषपूर्ण विजय तथा तत्कालीन परिस्थितियों का सत्य भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में से है। उनके शौर्य के सम्मुख सिकन्दर जैसा तथाकथित महान एवं विश्वविजेता भी अपनी कल्पना साकार नहीं कर सका तथा नतमस्तक हुआ।

इस प्रकार राष्ट्र के आचार विचार और पुरुषार्थ सिद्धि का इतिहास ही उस देश का वास्तविक सांस्कृतिक इतिहास होता है। प्रत्येक राष्ट्र का काव्य और कला से उसके विचारों की अभिव्यक्ति होती है तथा इतिहास और सामाजिक संस्थाओं से उसके आचार और सम्पादित पुरुषार्थ का प्रकटीकरण होता है। इनमें से किसी भी जाति में मनुष्य अन्य मानवों से पृथक नहीं रहा सकता है। जहाँ सौन्दर्य प्रेम तथा सामर्थ्य के सम्बन्ध में मनुष्य अपनी स्वर्णिक आकांक्षाओं को पूर्ति कर परमानन्द का पथ खोजकर जीवन के पूर्ण विकास और ऐश्वर्य का अनुभव कर लेता है, वहाँ संस्कृति की पूर्ण विजय हो जाती है। ‘‘स्वराज्य के लिए हिन्दुस्तान ने कौन सा प्रयास नहीं किया, हिन्दुस्तान ने कौन सी दिव्यता अंगीकार नहीं की। सूरा सो पहचानिये, जो लड़े दीन के हेत, पुरजा पुरजा कट मरे तबहु न छोड़े खेत (गुरु गोविन्द सिंह) इस रीति से स्वधर्म के लिए रणक्षेत्र में टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी जो हटते नहीं, वीरों की ऐसी घटनाओं से भारत भूमि का सम्पूर्ण इतिहास भरा हुआ है। धर्मयुद्ध में उठी यह वीर गर्जना, स्वधर्म एवं स्वराज्य दोनों तत्त्वों का उच्चारण एवं जयघोष करती है।’’

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. विनायक दामोदर सावरकर, हिन्दुत्व, हिन्दी साहित्य सदन, दिल्ली-2019
2. विनायक दामोदर सावरकर, 1857 का स्वतंत्र्य समर, प्रभात प्रकाशन दिल्ली-2021
3. विनायक दामोदर सावरकर, हिन्दू पदपादशाही, प्रभात प्रकाशन दिल्ली-2021
4. विनायक दामोदर सावरकर, हिन्दुत्व के पंच प्राण निवन्ध, सं हिन्दी साहित्य सदन, देशबन्धु गुप्ता रोड, करोल बाग, नई दिल्ली-2006
5. विक्रम सम्बत, सावरकर, एक भूले-बिसरे अतीत की गूंज, 1883-1924, हिन्दू पॉकेट बुक्स-2021
6. राकेश कुमार आर्या, गांधी और सावरकर, डायर्पंड पब्लिकेशन, दिल्ली, जनवरी-2016
7. राम मनोहर लोहिया, भारत विभाजन के गुनाहगार, लोक भारती प्रकाशन, दिल्ली, जनवरी-2019
8. सावरकर, मोपला अर्थात् मुझे इससे क्या?, हिन्दी साहित्य सदन, दिल्ली, जनवरी-2013
9. मोहन भागवत, यशस्वी भारत, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, जनवरी-2020
10. शमसुल इस्लाम, सावरकर-हिंदुत्व, मिथक और सच, फरोश मीडिया पब्लिकेशन, दिल्ली, जनवरी-2019
11. विनायक दामोदर सावरकर, कालापानी, पेंगुइन बुक्स इंडिया, दिल्ली, जनवरी-2019
12. विनायक दामोदर सावरकर, मेरा आजीवन कारावास, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, जनवरी-2020
13. विनायक दामोदर सावरकर, छ: स्वर्णिम पृष्ठ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, अप्रैल-2021
14. विवेक मिश्र, हिन्दू राष्ट्र प्रणेता, संकल्प पब्लिकेशन, विलासपुर, छत्तीसगढ़, जनवरी-2020.
15. Sampath, Vikram.(2021). Savarkar (A Contested Legacy) 1924-1966. Delhi: Hindu Pocket Books.
16. Purandare, Vaibhav, (2019) The True Story of The Father Of Hinduttav. New Delhi: Juggernaut Books.

—डॉ. प्रखर कुमार
पोस्ट डॉक्टोरल फ्लॉ,
भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद,
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

दादा कामरेड उपन्यास में स्त्री का दंद और संघर्ष

—डॉ. प्रीति देवी

दादा कामरेड उपन्यास में क्रांतिकारी, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक रूप से नारी के संघर्ष और दंद को दिखाया गया है। वे संस्कारों के तले दबकर दंदमय जीवन को जीती हैं। कोई भी नारी पात्र चाहे वह यशोधरा हो शैलबाला हो, नैनसी हो, जमीला हो या फिर फलोरा हो सभी प्रेम और विश्वास के लिए स्वयं को समर्पण की आँधी में झोंक देती हैं फिर भी वे समाज या समाज के ठेकेदारों से सम्मान प्राप्त नहीं कर पाती हैं। यही दंदमय, संघर्षमय स्थिति इस उपन्यास की कथावस्तु है। दादा कामरेड यशपाल का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक उथल-पुथल के साथ-साथ पात्रों की जिजीविषा और संघर्ष को बखूबी उकेरा है। वे इसमें राजनीति के साथ रोमांस के मिश्रण का प्रथम प्रयास करते हैं। उनका स्वयं का कथन इसकी पुष्टि करता है—“यह उपन्यास पहली रचना है, जिसने हिंदी में रोमांस और राजनीति के मिश्रण का आरंभ किया।”¹ यह उपन्यास मात्र राजनीति और रोमांस ही नहीं बल्कि संबंधों के मध्य बढ़ते हुए उतार-चढ़ाव को भी दिखाता है। ये पात्रों का संघर्ष ही तो है, जो टूटते हुए संबंधों को जोड़े रखने की भरपूर कोशिश करता है। चाहे वह संबंध शैलबाला और हरीश का है, यशोधरा और हरीश का या फिर हरीश और बी। एम व साथियों का ही हो। सभी में एक ऐहसास उन्हें जिंदा रखता है। हरीश, जिसने देश में जागृति फैलाने के लिए अपना सब कुछ छोड़ दिया था, अपने हर रिश्ते को तोड़ दिया था, आज जीवन के अंतिम पड़ाव में वह उसे महसूस करता है—“हरीश एक नयी बात अपने शरीर और मस्तिष्क में अनुभव कर रहा था। एक बार क्रांतिकारी का जीवन ग्रहण करने के बाद स्त्री को उसने अपनी मार्ग से परे की वस्तु समझा था जो केवल रूप, वेश में उसके दूसरे साथियों से भिन्न था, परंतु आज बार-बार उसका मन उसे सचेत कर रहा था—‘वह युवती है, जीवन की मृदुता, सहवयता और तुष्टि का स्रोत लिये। तू क्या उसे नहीं पहचानता। उसका मन कह रहा था, तू केवल क्रांति की मशीन ही नहीं, मनुष्य है।’”² मनुष्य के अंतर्गत स्त्री और पुरुष दोनों आते हैं, जिसमें एक शोषक होता है तो दूसरा शोषित। स्त्री-पुरुष के संबंधों में, पिता-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका आदि आते हैं। आर्थिक रूप से ही सही, पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार समझता है। उसी अधिकार से वह स्त्री को बंधनों में रखना चाहता है, जो स्त्री के शोषण का एक तरीका है, परंतु आधुनिक समय में एक स्त्री अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए काफी हद तक सजग हो चुकी है। वह पुरुष की संपत्ति बनना नहीं चाहती

है, बल्कि प्रतिरोध करके सभी बंधनों से मुक्त होकर जीना चाहती है। यही दादा कामरेड की नायिका शैलबाला करती है—“मैं सोचने लगी- हम क्यों लड़ पड़े? उत्तर मिला- प्रेम द्वारा मैं अपने जीवन का विस्तार चाहती थी और वह मुझ पर बंधन लगाकर मेरे जीवन को अपने लिये सीमित कर देना चाहता था। देखो, चौदह-पंद्रह बरस का लड़का भी मुझे अपनी समझना चाहता था।”³ यशोदा जो पति अमरनाथ की इच्छा के विरुद्ध जाकर राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेती है तो उसकी स्थिति मझधार में नाव सी हो जाती है और वह उसमें अंदर तक फँसती चली जाती है। “यशोदा शैल के साथ जाने के लिए साड़ी बदल रही थी, परंतु उनका शरीर बीच-बीच में काँप उठता था, मानो वह पति के विरुद्ध घोर विद्रोह की तैयारी कर रही हो परंतु वह करे क्या? जैसे जज के मुख से मृत्युदंड का फैसला सुन लेने के बाद छोटे मोटे कष्टों की ओर अभियुक्त का ध्यान नहीं जाता, उसी तरह यशोदा एक सीमा तक, अनुभूतिहीन और संज्ञाहीन हो चुकी थी।”⁴ एक स्त्री जब अपने अस्तित्व को बचाने के लिए स्वतंत्र रूप से चलना शुरू करती है, तो सबसे पहले वह अपने परिवार के विश्वास को खो देती है। वही परिवार जिसके लिए वह अपना सर्वस्व त्याग कर देती है परंतु वह उसे अपनाता नहीं है, बल्कि दर-दर भटकने के लिए उसे छोड़ देता है फिर इसमें चाहे वह पिता ही क्यों न हो जिससे कि एक स्त्री का वजूद बनता है। दादा कामरेड उपन्यास में लेखक शैलबाला पात्र के रूप में एक ऐसी स्त्री का वर्णन करते हैं, जो सामाजिक मान्यताओं का विरोध करते हुए न केवल अपने अस्तित्व को बचाती है, साथ ही स्त्रियों को एक नयी दिशा की ओर भी प्रेरित करती है—“शैल उठकर कमरे में टहलने लगी। उसके पैर कुछ लड़खड़ाये, परंतु वह टहलती रही कोई भय नहीं हरी, मैं चल सकूँगी। शैल कुर्सी पर बैठ गयी मुझे क्या चाहिए, केवल साहस चाहिए। समाज मुझे डरा नहीं सकेगा, दबा नहीं सकेगा। शैल ने सोचा, वह कहाँ जा सकती थी?”⁵

समाज ने यदि किसी को बंधनों में बांधा है, तो वह स्त्री ही है। एक स्त्री जब इन बंधनों को तोड़ती है तो स्वयं भी टूटती है। या फिर यूँ कहा जाए कि समाज स्त्री को अपने बनाये गये नियमों को तोड़ने की भयानक सजा देता है। वह उसे कुलटा, कलंकिनी, चरित्रहीन, कुलक्षिनी आदि उपाधियों से सुशोभित करता है जैसे स्त्री का चरित्र, उसका स्वभाव पुरुष या समाज की धरोहर हो, उसमें भी यदि कोई स्त्री बिन ब्याही माँ बन जाती है तो समाज में उसके लिए कोई स्थान शेष नहीं रह जाता है, ऐसा ही शैलबाला के साथ होता है— ‘मेरी तबीयत खराब हो गयी थी।’ बिस्तर

को चादर के तारों को नाखूनों से खोटते हुए शैल ने कहा, “मैं उनकी पत्नी हूँ। पिता जी ने मुझे कह दिया है मैं चली जाऊँ। वे कलंक को सह नहीं सकते।...मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूँ, जहाँ मैं कलंकिनी न समझी जाऊँ।”⁶ समाज कितना भी आगे बढ़ गया है, परंतु एक स्त्री की दशा कमोवेश आज भी वही है जो पहले थी। वह आज भी दोयम दर्जे की मानी जाती है। वर्षों से उसका शोषण निरंतर हो रहा है। पुरुष उसे अपनी संपत्ति ही समझता है साथी नहीं। जो उसके जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है, जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो सकती—“खाक हो सकता है। जब स्त्री को एक आदमी से बंध जाना है और सामाजिक अवस्थाओं के अनुसार उसके अधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है, उस संबंध को चाहे जो नाम दिया जाय, वह है स्त्री की गुलामी ही। साथी तो एक व्यक्ति के कई हो सकते हैं स्त्री के पति होना तुम्हें सहन हो सकता है? शैल ने पूछा।”⁷ स्त्री के साथ निरंतर यह विडंबना जुड़ी रही है कि वह स्वयं को कितना भी पवित्र क्यों न बना लें। पुरुष उस पर कभी विश्वास नहीं कर सकता। एक हल्का सा संदेह का झोका उसके बसे बसाये घर को तहस-नहस कर डालता है। यशोदा जो पवित्र होते हुए भी सदा अपवित्र ही समझी गयी—“यदि स्त्री असती है तो इसमें स्त्री का जितना अपमान है उससे सौ गुना अधिक उसके पति का। वे सोचते-स्त्री स्वभाव से चंचल होती है। यशोदा तो कभी चंचल दिखायी नहीं दी, परंतु स्त्री का क्या विश्वास। स्त्री पतन और अनाचार का मूल है, उसका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।”⁸

एक स्त्री के जीवन में अधिकतर कहीं कुछ दिखाई देता है, तो वह उसका दंदंद ही है। क्योंकि उसका पूरा जीवन एक पुरुष पर निर्भर होता है इसलिए उसके जीवन की घटनाएँ दंदंद का रूप धारण कर लेती है। सही और गलत के बीच उसका पूरा अस्तित्व डोलने लगता है। ऐसा ही यशोदा के साथ भी घटित होता है—“अमरनाथ टेबल लैंप बुझाकर लेट गये। कुछ ही मिनट में उनका सम और गंभीर श्वास शाँत निद्रा का परिचय देने लगा। यशोदा ने बैचैनी से फिर करवट बदली। वह अँधेरे में आँखें खोले पड़ी थी। निद्रागत पति के समश्वास के साथ घड़ी की टिक-टिक और अपने हृदय की धड़कन भी उसे सुनाई दे रही थी। कल्पना में सशस्त्र लोगों के उस नवयुवक पर झपटने, सहसा घर के किवाड़ों के खुलने और पिस्तौल के सामने आ जाने का दृश्य आँखों के सामने आ जाता है और फिर पति के श्वास, घड़ी की टिक-टिक और उसके हृदय की गति के शब्द को दबाकर, नीचे बैठे युवक की वे बातें सुनाई देने

लगतीं।”⁹ स्त्री जब किसी से भावनात्मक रूप में जुड़ जाती, तो वह उसके लिए किसी भी हद को पार कर जाती है, फिर इसमें चाहे उसकी जान ही क्यों न जाए। नैनसी भी ऐसा ही करती है। वह हरीश की मृत्यु को अपने ऊपर ले लेने के लिए उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है—“बजाय पीछे हटने के नैनसी और भी समीप आ गई। हरीश ने फिर कहा, ‘परे हट जाओ, तुम्हें खामखाह चोट आ जायेगी।’ नैनसी दृढ़ता से हरीश पर आती चोट सहने के लिए उसके सामने हो गई। उससे आगे बढ़ने के लिए हरीश अपनी जेब में पिस्तौल के घोड़े पर हाथ रखे पुलिस सार्जेंट की ओर बढ़ रहा था।”¹⁰ स्त्री को केवल समाज और पुरुष ही पराधीन नहीं बनाते हैं, बल्कि धर्म भी उसे उसी पराधीनता की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। ‘फ्लोरा’ इसाई धर्म को मानने वाली ऐसी नारी है, जो बदलते हुए अपने पति के विचारों को नहीं समझ पाती है या यूँ कहें कि वह तभी तक प्रेम करती है जब तक वह इसाई धर्म को मानता है। उसके बाद वह उसे धर्म के नाम पर छोड़ देती है—“फ्लोरा धर्म की रुद्धियों से अंधी एक ऐसी नारी है, जो अपने सांप्रदायिक उन्माद के कारण अपने उन्मुक्त विद्रोही विचारों वाले पति को छोड़ देती है। धार्मिक रुद्धियाँ भी नारी के संस्कारों को अपने में रंगकर उसे कितना विवश बना देती है।”¹¹ आज समाज ने नारी को काफी स्वतंत्रता दे रखी है, परंतु जब नारी इस स्वतंत्रता को अपने लिए उपयोग करना चाहती है तो समाज उसे इसकी इजाजत नहीं देता है। शैलबाला, जो आधुनिक परिवेश में पली-बड़ी लड़की है। विचारों से स्वतंत्र है। जब उसे इसकी जरूरत होती है तो उसके पिता अपना हाथ पीछे खींच लेते हैं, परंतु वह संघर्ष करती है और अपने स्वाभिमान को बचाती हुयी आगे निकल जाती है—“तुमने रूपये के लिए कहा था। मैं जानता हूँ तुम्हें रूपया किस काम के लिए चाहिए। मजदूरों के प्रति तुम्हारी सहानुभूति को भी मैं समझता हूँ। यह भी मैं जानता हूँ कि वे लोग कष्ट बहुत कष्ट में हैं, परंतु बेटा, जिस प्रकार तुम उनकी सहायता करना चाहती हो, उनकी सहायता नहीं हो सकती। परंतु यदि आप उनकी मेहनत का फल उनसे छीनकर सब अधिकार अपने हाथ में ले लें तो मजदूर क्या करें। उन्हें भी तो अपने प्राण बचाने हैं। शैल बोल उठी।”¹² शैल स्वतंत्र विचारों की लड़की है। वह किसी भी स्थिति में अपने अधिकारों और अपने शरीर पर किसी का अधिकार नहीं चाहती है इसलिए जो पुरुष उसके जीवन में आता है और

उस पर अधिकार स्थापित करना चाहता है वह उसे छोड़ती चली जाती है। ऐसी स्त्रियों को समाज में अच्छा नहीं माना जाता है। यशपाल भी स्त्री-पुरुष के परस्पर संबंध को एक सहज प्रक्रिया मानते हैं और इसे अपने उपन्यास में शैलबाला के माध्यम से प्रकट करते हैं—“यशपाल प्रेम और काम व्यापार को एक जीवशास्त्रीय किया मानते हैं और उसमें पुरुष की अधिकार भावना को चुनौती देते हैं। दादा कामरेड की शैल कामविषयक किसी भी परंपरागत नैतिक मूल्य को स्वीकार नहीं करती। वह एक साथ कई व्यक्तियों से प्रेम करने में कोई अनैतिकता नहीं देखती। पर ज्यों ही उसका कोई प्रेमी उसके शरीर पर एकाधिकार कायम करने की कोशिश करता है, वह उसका त्याग कर देती है।”¹³

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यशपाल ने दादा कामरेड उपन्यास में नारी पात्रों के संघर्ष और द्वंद्व को प्रमुख रूप से उभारा है। वे स्त्री के स्वाधीनता पर विशेष बल देते हैं।

संदर्भ सूची

1. डा. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 2015, पृ. 220
2. यशपाल, दादा कामरेड, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2020, पृ. 23
3. वही, पृ. 26
4. वही, पृ. 90
5. वही, पृ. 134
6. वही, पृ. 135
7. वही, पृ. 22
8. वही, पृ. 87
9. वही, पृ. 7
10. वही, पृ. 103
11. रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण, 2016, पृ. 136
12. यशपाल, दादा कामरेड, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2020, पृ. 109
13. गोपालराय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण, 2014, पृ. 184

—डॉ. प्रीति देवी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
एन. के. बी. एम. जी. कॉलेज,
चंदौसी, संभल (उत्तर प्रदेश)

युवा एवं सोशल मीडिया : शैक्षिक अध्ययन एवं निष्पत्ति के संदर्भ में

—प्रियंका दीक्षित
—प्रो. मुकेश चंद

विश्व में इंटरनेट का प्रयोग करने वाले उपभोक्ता देशों में भारत अग्रणी देश है। सोशल मीडिया के कई प्लेटफॉर्म भारतीयों खासकर युवा वर्ग के मध्य लोकप्रिय हैं। युवा कई तरह से सोशल मीडिया का प्रयोग कर रहे हैं इसलिए इसके प्रभाव से भी वे अछूते नहीं हैं। फेसबुक, ट्विटर, ऑर्कुट आदि प्लेटफॉर्म छात्रों के शैक्षिक प्रदर्शन को प्रभावित कर रहे हैं। छात्र सोशल मीडिया पर अधिक समय व्यतीत करते हैं भले ही, गोपनीयता और सुरक्षा का नुकसान हो। सोशल मीडिया युवाओं को दोस्तों, सहपाठियों और साझा रुचि वाले लोगों से जुड़ने के अवसर प्रदान करता है। आज युवाओं का मुख्य उद्देश्य अच्छी शिक्षा और अच्छे भविष्य के लिए अच्छा रोजगार प्राप्त करना है। इसलिए वे सोशल मीडिया पर प्राप्त विभिन्न सूचनाओं पर विश्वास करते हैं। युवा वर्ग सोशल मीडिया का फायदा उठा सकते हैं और बेहतर जीवन, बेहतर कल के लिए इसका इस्तेमाल कर सकते हैं। परन्तु इसके लिए अभ्यस्त होना चाहिए, संपर्क में रहें एवं विचार साझा करें लेकिन समय बर्बाद न करें। प्रस्तुत शोध प्रपत्र का उद्देश्य है कि सोशल मीडिया युवा वर्ग के शैक्षिक प्रदर्शन को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है। युवा अपने अध्ययन में किस प्रकार सोशल मीडिया का प्रयोग कर रहे हैं।

प्रस्तावना : सोशल मीडिया संचार का एक डिजिटल रूप है, जिसमें विभिन्न तरीके से बातचीत शामिल है। ये बातचीत पाठ संदेश, चित्र, वीडियो या ऑडियो और वीडियो कॉल के माध्यम से हो सकती हैं। फेसबुक, वाट्सएप्स ऐसे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म हैं जो तेजी से लोकप्रिय हुए और सभी उम्र के लोगों के बीच प्रचलित हो गए। ये प्लेटफॉर्म का एक ऐसा समूह है जो विविधता के साथ समान सेवाएँ उपयोगकर्ताओं को प्रदान करता है।

ये वैश्वीकृत होने का तरीका है। प्रौद्योगिकी की प्रगति और बड़े पैमाने पर गैजेट्स की उपलब्धता के साथ, सोशल मीडिया की भूमिका बढ़ गयी है, जिन प्लेटफॉर्म की शुरुआत पहले चैटिंग वेबसाइट्स से हुई थी वो अब विस्तारित हो गए हैं। उन्होंने कई क्षेत्रों में अपनी विरासत को फैलाया और लोगों की जरूरत के हिसाब से मदद कर रहे हैं। कई ऐसे चैटिंग एप्लिकेशन हैं जो लोगों को टेक्स्ट के रूप में संदेश भेजने की एवं एप्लिकेशन जो उपयोगकर्ताओं को फोटो और वीडियो भेजने की अनुमति देते हैं। ऐसे एप्लिकेशन भी हैं जो उपयोगकर्ता को अपनी लाइव स्ट्रीम करने में सक्षम बनाते हैं और इसलिए उनकी फैन फॉलोइंग है क्योंकि वो लोगों में आत्मविश्वास और जीविकोपार्जन प्राप्त करने में योग्य बना रहे हैं।

सोशल मीडिया के वे प्लेटफार्म सबसे आम हैं जो लोगों को टेक्स्ट संदेशों का उपयोग करने की क्षमता प्रदान करते हैं उनमें फेसबुक, व्हाट्सएप और मैसेंजर प्रमुख हैं जो उपयोगकर्ताओं को अपनी बातचीत तेजी से करने की अनुमति देते हैं कई अन्य ऐसे प्लेटफार्म हैं जो उपयोगकर्ताओं को अपने आंतरिक कौशल को प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान करते हैं उनके दुनियाभर से फॉलोअर्स होते हैं जो उन्हें पसंद करते हैं। ट्रिविटर और वीचैट कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो इंटरनेट से भरे हुए हैं। प्रतिभावान लोग अपने हुनर का प्रदर्शन कर रहे हैं। ऐसे भी प्लेटफार्म हैं जो अधिक प्रसिद्ध हैं, पाठ की तुलना में दृश्य संचार के कारण। वीडियो और चित्र लोगों को गहन दृश्य प्रदान करते हैं। इंस्टाग्राम और स्नैपचैट ऐसे दो ऐप हैं जो आमतौर पर युवाओं के बीच इस्तेमाल किए जाते हैं तस्वीरें साझा करने के लिए। सोशल मीडिया का उपयोग ऑनलाइन खरीद और बिक्री के लिए किया जा सकता है। कारोबारियों को भी इससे लाभ हो सकता है। अमेजन ऐसा प्रमुख मंच है जो लोगों को उत्पादों तक पहुँच प्रदान करते हैं। इस प्रकार सोशल मीडिया का उपयोग आज जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में किया जा रहा है। इसकी जड़ें फैली हुई हैं और लोगों को एक डिजिटल दुनिया प्रदान की है। ये सभी स्थल बड़े पैमाने पर हैं और युवाओं द्वारा उपयोग किया जा रहा है। सोशल मीडिया से प्रतिभा को बढ़ावा मिलता है, रचनात्मकता को प्रोत्साहन मिलता है। युवा इन प्लेटफॉर्म्स के जरिए अपना कैरियर भी बना रहे हैं।

साहित्य समीक्षा : कई ऐसे युवा भी हैं जो बेघर हैं, गरीबी रेखा से नीचे हैं या विकट परिस्थितियों का सामना कर रहे हैं। उनके लिए सोशल मीडिया वरदान साबित हो रहा है और उन्हें सकारात्मक वातावरण में अपना कैरियर बनाने के लिए विभिन्न तरीकों से सक्षम बनाता है। वे अत्याचार, उत्पीड़न और हिंसा आदि खराब परिस्थितियों से गुजरते हैं उन्हें अपने मुद्रों को उठाने, उनके व्यक्तित्व को आकार देने और सफल भविष्य के लिए तैयार होने के लिए सोशल मीडिया मंच प्रदान करता है (राइस और बर्मन, 2013)

ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के उदय ने युवाओं को कई जगह की आजादी दी है। वो आजादी के साथ अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं यह लोकतांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा देता है और उनकी रक्षा करता है। यह इन स्वतंत्रताओं और ठहरावों पर कुछ नियंत्रण और संतुलन भी रखता है, लोगों को किसी भी गैरकानूनी बहस या किसी भी कार्यवाही में

शामिल होने से रोकता है जो की संप्रभुता के खिलाफ है (जिटेल-बैंक, 2014)

किशोरावस्था और युवाओं द्वारा सोशल मीडिया का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। निरन्तर इसके उपयोगकर्ताओं में भारी वृद्धि देखी गई है जो इसे विविध उद्देश्यों के लिए चुनते हैं। यह उन्हें दुनिया को अपने छिपे हुए कौशल दिखाने का मौका प्रदान करता है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, ट्रिविटर, यूट्यूब, स्नैपचैट सभी दूरगामी संभावनाओं को देखने और उनके अनुसार अवसर चुनने की पेशकश करते हैं। वेतनभोगी होने से लेकर व्यवसाय चलाने तक, प्रभावशाली सामग्री का आनंद लेने से लेकर किताबों, उपन्यासों और दिलचस्प सामग्री को पढ़ने से लेकर अपडेट रहने तक, यह अपने प्रत्येक उपयोगकर्ता को सर्वोत्तम वांछित तरीके से लाभान्वित करता है। जहाँ सोशल मीडिया है युवाओं पर व्यापक और दूरगामी प्रभाव पड़ने के साथ ही इसका नकारात्मक प्रयोग भी किया जा रहा है।

सोशल मीडिया युवाओं को नकारात्मक तरीके से प्रभावित कर रहा है। अध्ययन से स्पष्ट है कि जिन छात्रों ने अपने अध्ययन के बंटों में सोशल मीडिया का इस्तेमाल किया उनमें ग्रेड कम था उन लोगों की तुलना में जिन्होंने इन गतिविधियों में खुद को शामिल नहीं किया। इसके अतिरिक्त व्यापक और सोशल मीडिया साइटों के असंतुलित उपयोग से मानसिक और मनोवैज्ञानिक तनाव भी होता है और इस तरह यह उनके सीखने और समझने के कौशल को प्रभावित करता है। ज्ञान की कमी के कारण युवा खुद को ऑनलाइन अपराधों में उलझा लेते हैं। जो लोग उन गतिविधियों में लिप्त होते हैं जिन्हें मानवता दुष्ट मानती है। (एस, कुमार और कुमार, 2019)

सोशल नेटवर्क वेबसाइटें छात्रों का ध्यान खींचती हैं और फिर उन्हें बेकार चैटिंग सहित गैर-शैक्षणिक और अनुपयुक्त कार्य की ओर उन्हें मोड़ती हैं। सोशल नेटवर्क वेबसाइटें सीखने के अनुभवों को बुरी तरह प्रभावित कर सकती हैं। (कुपुस्थामी और शंकर, 2010)

उपरोक्त साहित्य के आधार पर स्पष्ट है कि सोशल मीडिया का प्रयोग युवा वर्ग द्वारा अत्यधिक किया जा रहा है। युवा प्रत्येक क्षेत्र में सोशल मीडिया का प्रयोग कर रहे हैं। अतः प्रस्तुत शोध युवा किस प्रकार शिक्षा क्षेत्र में सोशल मीडिया का प्रयोग कर रहे हैं, पर आधारित है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. युवाओं के शैक्षणिक अध्ययन में सोशल मीडिया की प्रयुक्तियां का अध्ययन करना।

2. युवाओं की शैक्षिक निष्पत्ति पर सोशल मीडिया के प्रभाव का मूल्यांकन करना।

अध्ययन पद्धति : प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक शोध प्रारूप का प्रयोग किया गया है जो कि उन तथ्यों का वर्णन करता है जो कि सोशल मीडिया के प्रयोग और युवाओं पर उसके प्रभाव से सम्बन्धित है। अनुसंधान प्रकृति में गुणात्मक है। शोधकर्ता ने ऑनलाइन प्रश्नावली

के माध्यम से 20 से 30 वर्ष आयु के 200 उत्तरदाताओं से प्राथमिक आंकड़े एकत्र किए हैं। द्वितीयक आंकड़े विभिन्न लेखों, पत्रिकाओं, पत्रिकाओं से एकत्र किए गए हैं।

आंकड़ों का संकलन एवं प्रस्तुतीकरण : शोध उद्देश्यों के आधार पर उत्तरदाताओं से अध्ययन में सोशल मीडिया के प्रयोग से संबंधित कई प्रश्न पूछे गए जिनकी प्रतिक्रियाओं का विवरण इस प्रकार है।

युवा वर्ग द्वारा सोशल मीडिया का प्रयोग

तालिका-01

क्र.सं.	सोशल मीडिया का प्रयोग करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	सोशल मीडिया का प्रयोग नहीं करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	कभी-कभी प्रयोग करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या
1.	183	12	05

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 90 प्रतिशत से अधिक उत्तरदाता सोशल मीडिया का प्रयोग कर रहे हैं। वे सोशल मीडिया के किसी न किसी प्लेटफॉर्म से जुड़े हुए हैं।

गृह कार्य/प्रोजेक्ट आदि में सोशल मीडिया का प्रयोग

तालिका-02

क्र.सं.	प्रोजेक्ट आदि में सोशल मीडिया का प्रयोग करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	प्रोजेक्ट आदि में सोशल मीडिया का प्रयोग नहीं करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	प्रोजेक्ट आदि में सोशल मीडिया के विषय में तटस्थ उत्तरदाताओं की संख्या
1.	161	28	11

उपरोक्त आंकड़ों से ज्ञात होता है कि 81 प्रतिशत उत्तरदाता अपने शैक्षिक कार्यों जैसे गृह कार्य, प्रोजेक्ट, असाइनमेंट आदि में सोशल मीडिया का प्रयोग कर रहे हैं जबकि 14 प्रतिशत उत्तरदाता सोशल मीडिया की सहायता नहीं ले रहे हैं। 5 प्रतिशत सोशल मीडिया के प्रयोग को लेकर तटस्थ हैं।

सोशल मीडिया के माध्यम से सहपाठियों से सम्पर्क

तालिका-03

क्र.सं.	सम्पर्क में रहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	सम्पर्क में न रहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	सम्पर्क के विषय में तटस्थ उत्तरदाताओं की संख्या
1.	171	21	08

अध्ययन से पता चलता है कि 85 प्रतिशत उत्तरदाता मानते हैं कि सोशल मीडिया के माध्यम से वे अपने सहपाठियों के सम्पर्क में रहते हैं और शैक्षिक विचार विमर्श करते हैं जबकि 11 प्रतिशत उत्तरदाता ऐसा नहीं करते हैं और 04 प्रतिशत इस विषय में अपनी कोई राय नहीं रखते हैं।

शिक्षकों से सोशल मीडिया के माध्यम से परामर्श

तालिका - 04

क्र.सं.	परामर्श करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	परामर्श न करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	परामर्श के विषय में तटस्थ उत्तरदाताओं की संख्या
1.	183	10	07

92 प्रतिशत उत्तरदाता मानते हैं कि सोशल मीडिया के माध्यम से वे अपने अध्ययन के दौरान आवश्यकता होने पर अपने शिक्षक से परामर्श भी करते हैं जबकि 05 प्रतिशत ऐसा नहीं करते हैं और 03 प्रतिशत परामर्श पर तटस्थ हैं।

कक्षा व्याख्यान में सोशल मीडिया का प्रयोग

तालिका-05

क्र.सं.	प्रयोग करने वाले युवा उत्तरदाताओं की संख्या	प्रयोग न करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	प्रयोग के विषय में तटस्थ उत्तरदाताओं की संख्या
1.	98	88	14

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि कक्षा व्याख्यान के विषय में उत्तरदाताओं की प्रतिक्रिया मिलीजुली है। 49 प्रतिशत उत्तरदाता कक्षा व्याख्यान में सोशल मीडिया का प्रयोग करते हैं और 44 प्रतिशत नहीं जबकि 07 प्रतिशत इस विषय पर कुछ नहीं कहना चाहते हैं।

परीक्षा के दौरान सोशल मीडिया का प्रयोग

तालिका-06

क्र.सं.	परीक्षा के दौरान प्रयोग करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	परीक्षा के दौरान प्रयोग न करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या	परीक्षा के दौरान प्रयोग के विषय में तटस्थ उत्तरदाताओं की संख्या
1.	118	66	16

उत्तरदाताओं की 59 प्रतिशत संख्या ने ये माना है कि वे परीक्षा के समय सोशल मीडिया का प्रयोग करते हैं जबकि 33 प्रतिशत नहीं करते हैं जबकि 08 प्रतिशत इस विषय पर तटस्थ हैं।

सोशल मीडिया से अध्ययन में एकाग्रता की स्थिति

तालिका-07

क्र.सं.	अध्ययन में एकाग्रता की कमी (उत्तरदाताओं की संख्या)	अध्ययन में एकाग्रता में कोई कमी नहीं (उत्तरदाताओं की संख्या)	कुछ कह नहीं सकते तटस्थ (उत्तरदाताओं की संख्या)
1.	126	54	20

अध्ययन से प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट है कि अधिकांश उत्तरदाता ये मानते हैं कि सोशल मीडिया का अत्यधिक प्रयोग करने से अध्ययन में एकाग्रता भंग होती है।

ग्रेड को कम करने एवं शैक्षिक निष्पत्ति पर सोशल मीडिया का प्रभाव

तालिका-08

क्र. सं.	उत्तरदाताओं की संख्या जिनके शैक्षिक प्रदर्शन पर प्रभाव पड़ा	उत्तरदाताओं की संख्या जिनके शैक्षिक प्रदर्शन पर प्रभाव नहीं पड़ा	प्रभाव पर तटस्थ रहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या
1	141	38	21

उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि 70 प्रतिशत से अधिक उत्तरदाता मानते हैं कि सोशल मीडिया के अत्यधिक प्रयोग से उनके ग्रेड या अंकों में गिरावट आई और उनकी शैक्षिक निष्पत्ति प्रभावित हुई।

निष्कर्ष : उपरोक्त आंकड़ों के प्रस्तुतीकरण से स्पष्ट है कि सोशल मीडिया युवा वर्ग के बीच अत्यन्त लोकप्रिय है। सोशल मीडिया के किसी न किसी प्लेटफॉर्म का युवा उपयोग कर रहे हैं। युवा अपने शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सोशल मीडिया को साधन बना रहे हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से एक ओर युवा अपने साथियों, सहपाठियों से जुड़ते हैं तो दूसरी ओर अपने शिक्षकों से भी। जब भी उन्हें अध्ययन में कोई समस्या आती है वो सोशल मीडिया के किसी भी प्लेटफॉर्म पर अपने जिज्ञासा को शिक्षक के समक्ष खबते हैं और शिक्षक उनकी समस्या का समाधान करता है। सोशल मीडिया के माध्यम से युवा वर्ग को अपने अध्ययन से संबंधित जानकारी प्राप्त हो जाती है जिसकी सहायता से वे अपना असाइनमेंट या प्रोजेक्ट आसानी से कर लेते हैं इसके साथ वो अपने साथियों से ऑनलाइन विचार विमर्श भी प्रोजेक्ट आदि पर कर लेते हैं। इस प्रकार सोशल मीडिया एक सकारात्मक भूमिका निभा रहा लेकिन इसके साथ एक नकारात्मक पक्ष भी है। यदि युवा सोशल मीडिया का अत्यधिक प्रयोग करते हैं तो इससे उनके अध्ययन का समय नष्ट होता है और वे अध्ययन में एकाग्रता नहीं बता पाते जिसका प्रभाव उनके अंको, ग्रेड और परीक्षा परिणाम पर पड़ता है। इसके विपरीत यदि युवा संतुलित रूप से सोशल मीडिया का प्रयोग शिक्षा में करते हैं तो उनका प्रदर्शन उत्तम होता है। इस प्रकार युवाओं की शैक्षिक निष्पत्ति को सोशल मीडिया प्रभावित करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- कुपुस्वामी, एस., और नारायण, पी. (2010), द इपैक्ट ऑफ सोशल नेटवर्किंग वेबसाइट्स ऑन द एजुकेशन ऑफ यूथ, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ वर्चुअल कम्युनिटीज एंड सोशल नेटवर्किंग (आईजेवीसीएसएन), 2(1), 67-79
- राइस, ई., और वर्मन, ए. (2013), इंटरनेट एंड सोशल मीडिया यूज एस ए रिसोर्स जर्नल ऑफ कम्प्यूटर मीडिएटेड कम्युनिकेशन
- जिटेल-बैंक, एन (2014), सोशल मीडिया एंड इट्स इफेक्ट्स ऑन इंडिविजुअल्स एंड सोशल, मैनेजमेंट सेंटर इंसब्रुक, ऑस्ट्रिया, 1183-1190
- एस.एस. कुमार एंड डी एस कुमार, वी (2019), ए स्टडी ऑन इपैक्ट ऑफ सोशल मीडिया ऑन, आइएम पब्लिकेशन, 6(1), 89-96
- रावत, एस.एस., सतीश कुमार, आर एंड वेंकटेश कुमार, 2019, ए स्टडी ऑन इपैक्ट ऑफ सोशल मीडिया ऑन यूथ, जर्नल ऑफ मैनेजमेंट, वॉल्यूम 6, इश्यू-1

—प्रियंका दीक्षित

शोधार्थिनी, समाजशास्त्र,
बी.एस.ए. पी.जी. कॉलेज, मथुरा,
सम्बद्ध डॉ. भीमराव आंबेडकर
विश्वविद्यालय, आगरा

—प्रो. मुकेश चंद

प्रोफेसर-समाजशास्त्र,
बी.एस.ए. पी.जी. कॉलेज, मथुरा,
सम्बद्ध डा. भीमराव आंबेडकर
विश्वविद्यालय, आगरा।

हिंदी दलित कहानियों में अंतर्जातीय प्रेम विवाह और ऑनर किलिंग का स्वरूप

—अलका जिलोया

अंतर्जातीय विवाह का अर्थ है दो अलग-अलग जाति के स्त्री-पुरुष का विवाह। अर्थात् जब कोई बालिग युवक-युवती अपनी जाति से बाहर जाकर अन्य जाति में प्रेम विवाह करते हैं तो उसे अंतर्जातीय विवाह कहते हैं। भारतीय संविधान और कानून भी दो बालिग युवक-युवती को दूसरी जाति में विवाह करने का अधिकार देता है। बावजूद इसके, समाज में प्रेम या प्रेम विवाह को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि अंतर्जातीय प्रेम विवाह से जातीय वर्चस्व के साथ पितृसत्तात्मक वर्चस्व टूटने का भी खतरा रहता है। इसलिए जातिवाद और पितृसत्ता को बनाए रखने के लिए अंतर्जातीय विवाह का विवाह का विरोध किया जाता है। इज्जत और जातीय वर्चस्व के लिए ऑनर किलिंग होती है। जहां पर वे सफल नहीं होते वहां प्रेमी युगलों को समाज और परिवार से बाहर कर दिया जाता है, साथ देने वाले परिवार को भी समाज से बाहर कर दिया जाता है। डॉ. अम्बेडकर अंतर्जातीय विवाह के माध्यम से इस जातीय किलाबंदी को ध्वस्त करने का सबसे कारगर उपकरण मानते थे। उन्होंने अंतर्जातीय विवाह को जाति उन्मूलन का असली उपाय बताया। वह जाति के उन्मूलन के लिए शास्त्रों की सत्ता को नष्ट करने और रक्त शुद्धता के निवारण के लिए विभिन्न जातियों में रोटी-बेटी का संबंध होना आवश्यक मानते थे। वे लिखते हैं—“मेरे विचार से इसका अचूक इलाज अंतर्जातीय विवाह है। जब तक रक्त संबंध नहीं होगा, लोगों में आत्मीयता उत्पन्न नहीं होगी और जब तक आत्मीयता अर्थात् परिजन होने का भाव नहीं उत्पन्न होता, तब तक जातियों द्वारा उत्पन्न अलगाव का भाव समाप्त नहीं।”¹ डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं सविता कबीर से अंतर्जातीय विवाह करके इसकी पहल की। दलितों ने डॉ. अम्बेडकर के नक्शे कदम पर चलते हुए अंतर्जातीय विवाहों का समर्थन किया लेकिन सर्वांग समुदाय आज भी इस विचार को मूर्त रूप देने के लिए तैयार नहीं है। प्रवीण कुमार लिखते हैं—“प्रेम की संवेदना का संघर्ष सामाजिक परिस्थितियों से उतना नहीं होता, जितना मानव हृदय की अन्य संवेदनाओं से। प्रेम की संवेदना का यह स्वरूप ही हिन्दी कहानी को दलित कहानी से भिन्न करता है। हिंदी साहित्य में प्रेम का स्वरूप व्यक्तिगत है न कि सामाजिक, जबकि दलित साहित्य में प्रेम की अवधारणा समाजगत अर्थात् सामाजिक है, बाद में व्यक्तिगत। यही

कारण है कि वहां संघर्ष का स्वरूप सामुदायिक है न कि व्यक्तिगत। दलित साहित्य में ‘मानुष प्रेम भये बैकुंठ’ की अवधारणा है।² अनिता भारती की नीला पहाड़ लाल सूरज’ कहानी में दलित युवती प्रज्ञा और गैर-दलित समर के अंतर्जातीय प्रेम विवाह की कहानी है। अनिता भारती लिखती हैं—‘उनकी शादी का बड़ा खास आयोजन हुआ था। न प्रज्ञा के मां-बाप आए, न समर के। उनके सभी दोस्तों ने शादी में बड़ी पार्टी की थी। सबने अपने अपने काम बांट दिए थे। एक तरफ कुछ साथी क्रांतिकारी गानों के साथ पाश, मुक्तिबोध, धूमिल की कविता कह रहे थे तो दूसरी तरफ कुछ मजदूर साथी जल्दी जल्दी रोटी बना रहे थे।’³

जयप्रकाश कर्दम की कहानी ‘बिट्ठन मर गई’ जातिवाद और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की शिकार लड़की की कहानी है। ‘बिट्ठन मर गई’ में बिट्ठन की शादी अनजाने में ही उनके पिता के परिचितों के कार्यालय में कार्यरत दलित युवक को सजातीय समझ कर बड़ी धूमधाम से हो जाती है, लेकिन बाद में सच्चाई का पता चल जाने पर बिट्ठन के माता-पिता लड़की को पति के घर नहीं भेजते हैं। कर्दम जी ने लिखा है—‘मर गई या मार दी गई जो भी हुआ हो। पर बिट्ठन तो उसी दिन मर गई थी जब जाति के कारण उसके मां-बाप ने उसको ससुराल न भेजकर उसकी जिंदगी को मछली की तरह तपते रेगिस्तान में झुलस कर मर जाने के लिए छोड़ दिया था।’⁴ जयप्रकाश कर्दम की ‘नो बार’ कहानी उच्च शिक्षित, आधुनिक और स्वयं को खुले विचारों का बताने वाले सर्वण समुदाय की मानसिकता को उजागर करती है। एक ब्राह्मण परिवार अपनी बेटी हेतु योग्य वर के लिए टाइम्स ऑफ़ इंडिया में शादी का विज्ञापन छपवाता है जिसमें लिखा होता है ‘हाइली एजुकेटेड, प्रोग्रेसिव फैमिली, कास्ट नो बार अर्थात् जाति, धर्म का कोई बंधन नहीं है। इस विज्ञापन को राजेश जो एक उच्च सरकारी अधिकारी है वह देखता है और शादी के लिए लड़की के परिवार से संपर्क करता है। लड़की के परिवार के लिए जाति का कोई बंधन नहीं था इसलिए राजेश दलित समुदाय से ताल्लुक रखने वाली बात उनसे नहीं करता। शादी की बात लगभग पक्की हो जाती है लेकिन बातों-बातों से लड़की के पिता को आभास होता है कि लड़का दलित है। वह अपनी बेटी से पूछता है कि लड़के की कास्ट क्या है? लड़की कहती है कि हम जाति-पांति को नहीं मानते हैं फिर हमें क्या फर्क पड़ता है वह किस जाति से है तब पिता कहता है—‘वह सब तो ठीक है हम जाति-पांति को नहीं मानते और हमने मेट्रिमोनियल में नो बार छपवाया था लेकिन फिर भी कुछ

चीजें तो देखनी ही होती है। आखिर ‘नो बार’ का यह मतलब तो नहीं है कि किसी चमार-चूहड़े के साथ।’⁵

श्योराज सिंह ‘बेचैन’ की ‘शिष्या बहू’ अंतर्जातीय प्रेम विवाह की कहानी है। इसमें दिखाया गया है कि जब दलित समुदाय की पढ़ी लिखी लड़की सर्वण परिवार में शादी करके जाती है तो पितृसत्ता और जाति व्यवस्था के आगे कितना लाचार हो जाती है। पढ़ी-लिखी और नौकरीपेशा होने के बावजूद वह अपने माता-पिता के सम्मान के लिए परिवार से लड़ नहीं पाती। घर में विद्या शर्मा अपने जातिवादी मानसिकता के कारण बात-बात में गुलाबों को अपमानित करती हैं ‘देखे रे गुल्लो अब तू आ तो गई, मेरे घर में बेटे की बहू बनकर पर तू यह मत मान लेना कि तू घर में पति के अलावा और भी कुछ पा सकेगी। अछूत की बेटी इस ब्राह्मण घर में बहू बनकर आ घुसी है।’⁶ सूरजपाल चौहान की ‘एलिजाबेथ’ अंतर्जातीय प्रेम की कहानी है। एलिजाबेथ केन्द्रीय विश्वविद्यालय में अंग्रेजी की अध्यापिका है। एलिजाबेथ और विनोद वशिष्ठ एक दूसरे से प्रेम करते हैं। विनोद वशिष्ठ के साथ उसकी शादी तय हो जाती है लेकिन जब उसे पता चलता है कि एलिजाबेथ क्रिश्चियन धर्म अपनाने से पहले दलित थी तो वह उससे शादी नहीं करता और किसी दूसरी लड़की से विवाह कर लेता है—‘एलिजाबेथ और उसके परिवार के लोग इसाई बनने से पहले चूड़ा जाति से संबंध रखते थे। धर्म बदलने से जाति बदल जाती है, यह तो अच्छा हुआ कि समय रहते पता चल गया, वरना विनोद के साथ अनर्थ हो जाता।’⁷

ऑनर किलिंग समाज का एक घिनौना सत्य जो सदियों से हर जाति, हर मजहब के लोगों में प्रचलित है। अपने अहंकार के कारण पिता और परिवार सोचता है कि अपनी बेटी और दामाद की हत्या करके उन्होंने कोई अपराध अर्थात् गुनाह नहीं किया। ऑनर किलिंग के बाद उनके मन में ग्लानि या पश्चाताप नहीं होता। जातीय उच्चता के अहं के कारण ही ऑनर किलिंग जैसी घटनाओं को अंजाम दिया जाता है। समाज का पढ़ा-लिखा वर्ग भी प्रेम और प्रेम विवाह को अनैतिक मानता है इसलिए वह अंतर्जातीय विवाह को स्वीकार नहीं करते। समाज में ऐसे लोगों की संख्या कम है जो अपने बेटे-बेटियों के प्रेम का सहर्ष स्वीकार करता है और उन्हें विवाह करने की अनुमति देता है। जीवनसाथी चुनने का प्रश्न जाति और स्त्री दोनों से जुड़ा है।

दलित कहनियों में अंतर्जातीय प्रेम विवाह करने पर होने वाली ऑनर किलिंग की वजह से दलितों में एक डर का माहौल साफ दिखता है। यह कहनियां सवाल करती है

कि ‘क्या दलित होना इतना बड़ा गुनाह है? क्या दलितों को प्रेम करने का अधिकार नहीं है? दलित साहित्य की पहली कहानी ही अंतर्जातीय प्रेम विवाह और ऑनर किलिंग को आधार बनाकर लिखी गई। सतीश की मुक्ति स्मारिका में छपी ‘वचनबद्ध’ कहानी को शोध की दृष्टि से पहली दलित कहानी माना जाता है। यह कहानी 1975 ई. में छपी। दलित कहानी की शुरुआत ही अंतर्जातीय प्रेम और ऑनर किलिंग की समस्या से शुरू होती है। इस कहानी में ब्राह्मण जाति से ताल्लुक रखने वाली शुभा को दलित युवक हरित बाबू से प्रेम हो जाता है। शुभा का परिवार दोनों के रिश्ते को स्वीकार नहीं करते हैं और शुभा को घर से निकाल देते हैं, बाद में झूठा झांसा देकर उसे वापस बुलाते हैं-शुभा तुम्हारे फैसले के आगे सारा घर झुक गया है।’’⁸ घर आने पर उसे अलमारी में दलित युवक हरित बाबू का कटा हुआ सर दिखाया जाता है जिसका सदमा शुभा बर्दाश्त नहीं कर पाती है। रजत रानी ‘मीनू’ इस कहानी के बारे में लिखती हैं-‘इस कहानी में समाज में स्थापित कठोर जाति व्यवस्था तथा ब्राह्मणों की मनोवृत्ति का पता चलता है कि किसी भी हालत में ब्राह्मण स्वेच्छा से अस्पृश्य जातियों के साथ बेटी संबंध स्थापित नहीं कर सकते।’’⁹

भागीरथ मेघवाल की कहानी ‘सूरज की चिंता’ अंतर्जातीय विवाह पर आधारित है। इस कहानी की नायिका चंदा अपने खेतों में काम करने वाले दलित युवक सूरज से प्रेम करने लगती है और एक दिन वे गांव छोड़कर शहर चले जाते हैं और वहीं दोनों शादी के बाद साथ रहने लगते हैं। चंदा का भाई उन्हें ढूँढ़ लेता है और ठाकुर द्वारा माफ करने की झूठी बात कहकर दोनों को गांव वापस ले आता है। गांव पहुंचने पर ठाकुर उसे पूरे गांव के सामने जिंदा जला देते हैं। ऐसी ही एक घटना हारियाणा में दलित युवक महावीर और मालती के साथ होती है। महावीर को जिंदा जला दिया जाता है और मालती के गुप्तांगों में जलती हुई लुकाठी डाल दी जाती है। रमणिका गुप्ता इसका जिक्र करते हुए लिखती हैं-‘हेन्देगढ़ा के जंगल में आज भी आवाजें गूंजती हैं-‘महावीर’ ‘मालती’ बांसुरी चुप पड़ी है, चूँकि महावीर के होंठ कूच दिए गए हैं-पथरों से। अंगुलियां तोड़ दी गई हैं लाठियों से। जंगलों में ‘धोकर रविदास की आवाज गूंजती है। महावीर की बांसुरी पर मन कुंडली मारकर बैठ गया है- दलित को प्यार करने का अधिकार नहीं है, इसलिए उसे मरना ही होगा और मार दिया गया महावीर- नंगी कर दी गई मालती। दलित से प्यार करने की सजा दे दी गई उसे।’’¹⁰ इसी प्रकार मुकेश मानस की ‘अभिशप्त प्रेम’ कहानी अंतर्जातीय विवाह और ऑनर

किलिंग से संबंधित है। ऑनर किलिंग की घटनाओं को अंजाम देने में खाप पंचायतों की मुख्य भूमिका होती है। इस कहानी में खाप पंचायत और गांवों में दलितों पर होने वाले अत्याचारों को दिखाया गया है। इस कहानी में कथावाचक अपने गांव के राधौ भईया की कहानी बताता है। राधौ जाटव ठाकुर समुदाय की लड़की से प्रेम करता है। बिरादरी के डर से वह उसे दिल्ली लेकर आ जाता है और शादी कर लेता है। दोनों को एक लड़का होता है। कथावाचक जो दिल्ली में ही रहता है एक बार अपने परिवार के साथ फ़िल्म देखने जाता है वहां सिनेमा हॉल के बाहर दिनदहाड़े उसके सामने एक लड़का और लड़की की ऑनर किलिंग होती है। इस घटना के बाद कथावाचक राधौ भईया को कभी गांव नहीं जाने के लिए कहता है लेकिन कुछ समय बाद लड़की का परिवार दोनों को स्वीकार कर लेता है और उन्हें गांव वापस बुला लेता है। सभी को लगता है कि अब चीजें बिल्कुल ठीक हो गई हैं लेकिन चार-पांच महीने बाद गांव से खबर आती है कि भरी दोपहरी में किसी खेत की मेड़ पर राधौ भईया की पल्ली और बच्चा मरे पड़े मिले ‘‘कुछ दिनों बाद वो खबर सुनने को मिली जो सिर्फ खबर नहीं थी। इस देश की हकीकत थी। गांव के उसी भूतिया बरगद के नीचे...टुकड़ों-टुकड़ों में राधौ भईया की लाश मिली। हिंदुस्तान के अभिशप्त प्रेम की लाश।’’¹¹ मुकेश मानस की यह कहानी खाप-पंचायतों और उनकी दकियानूसौ दोच को उजागर करती है, उनके अमानवीय तथा असंवैधानिक त्यों को सामने लाती है।

श्यौराज सिंह ‘बैचैन’ अपनी कहानियों में समाज में हो रही तब्दीलियां और जड़ता को सामने लाने का काम करते हैं। संदेश अंतर्जातीय विवाह और ऑनर किलिंग की कहानी है। इस कहानी में दलित युवक भीम सिंह राजपूत समुदाय के जर्मांदार खानदान की विनिता से प्रेम विवाह करते हैं। शादी के बाद विनिता पढ़-लिखकर अफसर बनती हैं, एक बच्चा होता है। विनिता के अंदर से जातीय अहं नहीं जाता है। एक बार भीम सिंह और विनिता की परिवार और जाति को लेकर बहस हो जाती है और विनिता अपने माता-पिता के घर चली जाती है। इस कहानी में कहानीकार स्पष्ट करते हैं कि प्रेम भी जातीय अभिमान को ध्वस्त करने में नाकामयाब होता है। ‘‘एक दिन अखबार में खबर आती है कि एक तलाकशुदा स्त्री ने आत्महत्या कर ली और बेटा लापता है। वजह बरेतू हिंसा और ज्यादतियां बताई गई थी। विनिता का बेटा बताता है कि ‘‘उन्होंने मेरी मां को मार दिया। मेरे मामा के मौसेरे भाई पुलिस ने गले में फंदा लगाकर मार दिया मां को। कह रहे थे नीची

जात में शादी क्यों की। हमारी नाक कटवा दी ॥”¹²

‘बस्स इत्ती सी बात’ कहानी में पुरुषवादी समाज में एक सर्वण स्त्री की दुर्दशा और अंतर्जातीय विवाह करने पर सर्वण मानसिकता इस हद तक अमानवीय हो जाती है कि ठाकुर कुंवर सिंह अपनी पूर्व पत्नी कीर्ति की हत्या कर देता है। वह कहता है, “जिस औरत का मेरे उच्च कूल से सम्बन्ध रहा हो वह खानदान की मान-मर्यादा की परवाह किए बौगर कोई कदम कैसे उठा सकती है? जिन जातियों के लोग हमारे आगे सिर उठाकर खड़े नहीं हो सकते, जो सपनों में भी हमारी बराबरी नहीं कर सकते, जिन्हें हम अपने बराबर होते नहीं देख सकते। जिनकी बस्तियां गांव के बाहर बसती हैं, जिनकी औरतें हमारा गोबर-कूड़ा उठातीं फिरती हैं, उस अछूत जाति के ऐरे-गैरे व्यक्ति से पुनर्विवाह किया ॥”¹³ एक स्त्री का पितृसत्तात्मक व्यवस्था में अपना चुनाव और दलित व्यक्ति से विवाह करना खतरे से कम नहीं है। कहने को यह बस्स इत्ती-सी बात है लेकिन कीर्ति की हत्या पुरुषवादी और जातिवादी मानसिकता की देन है। सालों बाद इसी परिवार में ठाकुर साहब का बेटा दलित लड़की से शादी कर लेता है, “यह घराना गैरकौम में शादी करने के नाम पर तो ऑनर किलिंग से कम की सजा सोचता तक नहीं था। इकलौते बेटे ने तो मानो कुलीनता की मीनार का मटियामेट ही कर दिया हो ॥”¹⁴

क्या करे लड़की कहानी के माध्यम से अंतर्जातीय प्रेम करने पर होने वाली ऑनर किलिंग का मार्मिक और पीड़ादायक चित्रण किया गया है। यह कहानी देश भर में होने वाली ऑनर किलिंग का ब्यौरा प्रस्तुत करती है। कहानी में कीर्ति और दलित युवक सत्यपाल की कहानी के माध्यम से देश में होने वाली ऑनर किलिंग की खबरों को सामने लाया गया है। अंतर्जातीय प्रेम करने पर होने वाली हत्याओं से सत्यपाल डरा हुआ है, उसे अपने साथ अपने परिवार की भी सुरक्षा की चिंता है। कीर्ति के घरवाले सत्यपाल से रिश्ता न करके अपनी ही जाति के एक लड़के से उसका रिश्ता करवा देते हैं लेकिन उसका मंगेतर उसका शारीरिक शोषण करने के बाद शादी के लिए मना कर देता है। वह परिवार को सबकुछ बताती है लेकिन परिवार में उसका साथ कोई नहीं देता। कीर्ति आत्महत्या करने की कोशिश करती है लेकिन एक शिक्षक रविराज उसे बचा लेता है। आज भी हर रोज देश के विभिन्न हिस्सों में जातीय वर्चस्व और इज्जत के नाम पर हर रोज प्रेमी युगलों की हत्याएं हो रही हैं। तथाकथित उच्च कूलीन लड़कियों से प्रेम करने के कारण प्रेमी युगलों की लगातार हत्याएं हो रही हैं। इस कहानी में वे अंतर्जातीय विवाह के कारण होने

वाली अनेकों घटनाओं का जिक्र करते हैं। ये घटनाएं सच्ची घटनाओं पर आधारित हैं। कहानी की अंतिम पर्कियां अंतर तक झकझोर देती हैं। पुलिस को चौराहे पर एक युवक की लाश मिलती है। अखबार में खबर छपती है – “कौन बना है, किस का साथी देखी सब ने देखी अपनी जाति ॥”¹⁵ डॉ. अम्बेडकर या जिन महापुरुषों ने अंतर्जातीय विवाह का सपना देखा था वह आज भी अधूरा है इसका एक बड़ा कारण यह है कि अंतर्जातीय विवाह की यह पहल एक तरफा रही है। सर्वण समुदाय ने इस पहल के लिए हाथ आगे नहीं बढ़ाएं।

संदर्भ सूची

1. जाति आखिर क्यों नहीं जाती?, संपादक, एस. एस. गौतम, अजय कुमार, गौतम बुक सेंटर, शाहदरा दिल्ली, संस्करण, 2013, पृ. 88
2. दलित साहित्य का मूल्यांकन, संपादन, डॉ. विजयपाल, श्री नटराज प्रकाशन, पृ. 138
3. एक थी कोटेवाली तथा अन्य कहानियां, अनिता भारती, लोकमित्र प्रकाशन, पृ. 71-73
4. तलाश, जयप्रकाश कर्दम, पृ. 78
5. दलित कहानी संचयन, संपादक, रमणिका गुप्ता, साहित्य अकादमी, पृ. 60
6. मेरी प्रिय कहानियां, श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, राजपाल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2019, पृ. 46
7. नया ब्राह्मण, सूरजपाल चौहान, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 82
8. सतीश, वचनबद्ध, दलित स्मारिका, 14 अप्रैल, 1975, सं. सतीश चन्द्र बाबा
9. दलित चेतना और स्त्री विर्मा, संपादन, डॉ. नामदेव, क्लासिक पब्लिशिंग कम्पनी, नवी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 294-295
10. दलित कहानी संचयन, संपादक, रमणिका गुप्ता, साहित्य अकादमी, पृ. 8
11. पंडिज्जी का मंदिर और अन्य कहानियां, मुकेश मानस, आरोही, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 24
12. भरोसे की बहन, श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 17
13. मेरी प्रिय कहानियां, श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, राजपाल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2019, पृ. 37
14. वही, पृ. 27
15. भरोसे की बहन, श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 93
16. वही, पृ. 93

—अलका जिलोया
शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

सरदार जाफरी की ‘कबीर बानी’ : रचनात्मक बनावट और प्रासांगिक महत्ता

—तरुण त्रिपाठी

यूँ तो कह सकते हैं कि ‘कबीर बानी’ का संपादन अली सरदार जाफरी के अनेकों विभिन्न कामों में से किसी तरफ पड़ा हुआ सिर्फ एक काम है। लेकिन फिर भी, इस किताब को देख कर, सबसे पहले मन में अनायास ही यह सवाल उठ जाता है कि जाफरी जी कबीर के संकलन पर क्यों काम किये होंगे? हिंदी के कई लोग यथा श्यामसुंदर, हरिओध, आदि कबीर के विभिन्न संकलन बना ही रहे थे, फिर ये उर्दू शायरी-नज्मों वाले सरदार को कबीर का संकलन करने की क्यों और कैसे सुझी होगी? खैर, तो इसका पता चलता है जाफरी के जीवन, उनके लेखन, और उनके कर्म-क्षेत्र से, जिन्हें धारण करने वाला कोई भी व्यक्ति कबीर से आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता था। जिस तरह से सरदार एक मजहबी तौर पर पाबंद घर में पैदा हुए, बाद में प्रगतिशील आंदोलन का हिस्सा बने, विद्रोही हुए, इंसानियत को आदर्श बनाये, अपने लेखन में भी नए प्रयोग किए, पारम्परिक चली आ रही उर्दू शायरी में क्षेत्रीयता का पुट डाला वह सब देखने पर, कबीर के विद्रोही मिजाज और आमजन की बोली में अभिव्यक्ति करने की कला से सरदार का एक गहरा रिश्ता दिखाई पड़ता है। कहा जा सकता है कि सरदार में यह सब कबीर से ही प्रभावित होकर अगर नहीं भी आया होगा, तो भी कबीर को देख कर सरदार को पहली भेट से ही बेहद अपनापन लगा होगा, और कबीर की छाँह में उन्हें बेहद राहत मिली होगी। तो इस किताब पर बात करने से पहले इसके संपादक यानी ‘सरदार’ का परिचय ले लेना एक जरूरी और मजेदार अनुभव लगता है—‘कोई ‘सरदार’ कब था इससे पहले तेरी महफिल में बहुत अहले-सुखन उड़े बहुत अहले-कलाम आये!

कुछ बिंदुओं में कहा जाए तो वे तमाम घटक जो अली सरदार जाफरी के भीतर मौजूद हैं, जो उन्हें सहज ही कबीर के करीब लाने का सबब बन सकते हैं, इस प्रकार हैं—पारम्परिक प्रतिमानों के प्रति विद्रोही स्वभाव, हर विषय पर आजाद खयाली, कविताई के गुण और भाषा का अपने हिसाब से इस्तेमाल करना, भाषा में नए प्रयोग, और क्षेत्रीयता का पुट डालना, ‘मानवता’ को सबसे बड़ा आदर्श बनाना, मजहबी आडंबरों का खुलकर विरोध करना, जंग या लड़ाई के हर तरह से खिलाफ होना, देश-धरम से ऊपर उठ कर मानवता के स्तर पर एकता का संदेश देना, देश-विदेश के लोगों की संगत

करना और उनसे सीखना, आदि। कबीर के ‘एक दिन हंसा अकेला जाएगा’ की तरह ही सरदार भी मौत को अपने पूरे जी से, भरपूर चेतना में स्वीकार करते हैं ‘मेरा सफर’ नज़्म में—‘फिर इक दिन ऐसा आएगा/आँखों के दिए बुझ जाएँगे/हथों के कँवल कुस्खलाएँगे/फिर कोई नहीं ये पूछेगा/‘सरदार’ कहाँ है महफिल में।’ और फिर आत्मा के अमरत्व भाव को रेखांकित करते हुए वे इस नज़्म को खत्म करते हैं—‘मैं सोता हूँ और जागता हूँ/और जाग के फिर सो जाता हूँ/सदियों का पुराना खेल हूँ/मैं मैं मर के अमर हो जाता हूँ।’ ‘जिया प्रकाशन’ से छपे एक द्विभाषी (हिंदी-उर्दू) संस्करण में मुख्यपृष्ठ पर सरदार बताते हैं कि इस किताब का पहला संस्करण 1960 में प्रकाशित हुआ था और उसी पहले पन्ने पर सरदार का एक शेर भी अंकित है, जो उनके लिये कबीर की जरूरत और आज भी प्रासंगिकता के मआनी बताता है—“ये दुनिया गुमराह है अब तक, फिर बोलो ऐ संत कबीर/एक हि सोने के सब गहने, एक ही माटी के बर्तन।”

‘कबीर बानी’ किताब की बुनावट भी नवीन और बड़े रचनात्मक ढंग से की गयी है। सरदार अली जाफरी द्वारा संपादित इस किताब में तीन खंड हैं। सर्वप्रथम है ‘भूमिका’, जो जाफरी जी ने विस्तृत तरीके से कबीर के लेखन और जीवन के बारे में लिखी है। दूसरे हिस्से में कबीर द्वारा रचित 128 पद दिए गए हैं जिनके साथ सरदार द्वारा लिखित उनके भावार्थ भी हैं और तीसरा हिस्सा ‘टिप्पणियाँ’ का है, जिसमें सरदार विभिन्न पदों से संबंधित विभिन्न पहलुओं और उनसे जुड़ी अन्य कवियों की पंक्तियों से हमारा परिचय करते हैं। सरदार अपने इस संकलन की भूमिका की शुरुआत कबीर के जीवन-मरण के समय और स्थल आदि पर विचार करते हुए करते हैं। लेकिन रेखांकित करने वाली बात ये है कि इन विषयों पर जिस तरह से सरदार ने बातें रखी हैं, वह बहुत अलहदा है। मसलन, ‘रामकिशोर शर्मा’ जब अपनी ‘कबीर ग्रंथावली’ की ‘भूमिका’ में कबीर के जीवन-मरण पर चर्चा करते हैं तो वे ‘सुभद्र ज्ञा’ से लेकर ‘चंद्रबली पांडे’, ‘डॉ. बड़थ्याल’, ‘रामकुमार वर्मा’, आदि तमाम लोगों के विचारों तक और बनारस के डिस्ट्रिक्ट गैजेटियर तक की पड़ताल कर डालते हैं। जबकि सरदार जाफरी ऐसा कुछ नहीं करते। सरदार जनन-मरण के स्थल-समय के चक्कर को बहुत महत्व नहीं देते, और शुरुआत यहाँ से करते हैं—“परिस्थितियों और घटनाओं का कबीर, सन् और तारीख का कबीर जिंदा नहीं है; लेकिन विचार और चेतना का कबीर, भावनाओं और अनुभूतियों का कबीर, कविता और गीत का कबीर जिंदा है। हर दोहा

उसका अस्तित्व है, हर पद उसका व्यक्तित्व, हर विचार उसकी जबान। और जब हम उसके बोले हुए शब्दों को दोहराते हैं तो कबीर का साज बजने लगता है..!” आगे सरदार यह भी कहते हैं कि इस बात का कोई महत्व नहीं है कि कबीर जुलाहे के बेटे थे या किसी ब्राह्मणी के पेट से पैदा होकर जुलाहे के घर में पहुंचे थे, ना ही इस बात का महत्व है कि वे लुंगी पहनते थे या धोती बांधते थे। सरदार की नजर में वास्तविकता वस्त्रों में नहीं नगनता में है। जिस कबीर ने राम और रहीम को एक कर दिखाया हो, उनके प्रति वस्त्रों की भिन्नता पर मतभेद और धृणा फैलाना सरदार की नजर में बहुत हास्यास्पद काम दिखता है। हाँ ये है कि सरदार बस इतनी बात की निश्चितता कर लेते हैं कि “पंद्रहवीं शताब्दी कबीर की शताब्दी है” और यह कि “वे बनारस में पैदा हुए और मगहर में उनकी मृत्यु हुई”, जिसके बारे में कबीर का ही बयान प्रसिद्ध है कि “सकल जनम शिवपुरी गँवाया, मरती बेर मगहर उठ आया।” सरदार कबीर के इस क्रांतिकारी स्वभाव की तारीफ करने से नहीं चूकते, जो आखिरी दम तक कबीर के यहाँ दीख पड़ती है कि हिंदुओं के आम विश्वास के खिलाफ कबीर काशी में मर कर स्वर्ग की इच्छा नहीं रखते, बल्कि इस भ्रम को तोड़ने के लिए अंत समय में मगहर चले जाते हैं, क्योंकि कबीर के मन में राम बसे हैं तो उनके लिए तो हर जगह बराबर ही है, “क्या कासी क्या ऊसर मगहर/ राम हृदय बस मोरा/जो कासी तन तजै कबीरा/रामे कौन निहोरा।”

कबीर की मृत्यु के बारे में जो पुष्प वाली कहानी प्रसिद्ध है, उसे सरदार “कबीर के लिए जनसाधारण की सबसे बड़ी श्रद्धांजलि” कहते हैं। सरदार के अनुसार वह कहानी कबीर की “शिक्षा का सार है” जो कि “वह शुद्ध मानव-प्रेम है जो धर्म के भेदभाव और जात-पात के झगड़ों से मुक्त है।” सरदार ने कबीर की जाति पर भी चर्चा की है। वे बताते हैं कि कबीर ने बारहां अपने आप को ‘जुलाहा’ कह के संबंधित किया है, और कभी-कभी ‘कोरी’ और ‘कमीन’ भी कहा है। सरदार बताते हैं—“उत्तर भारत में हिन्दू बुनकर ‘कोरी’ कहलाते हैं, और नीच समझे जाने की वजह से उन्हें कमीन की संज्ञा भी दी जाती है।” सरदार एक जगह यह भी कहते हैं कि कबीर का अपने आप को अकसर ‘जुलाहा’ कहना इस बात का भी संकेत है कि उन्होंने इस्लाम का एकदम से परित्याग नहीं किया था।

सरदार के अनुसार “कबीरदास एक मुसलमान सूफी थे जो हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे।” आगे सरदार ये भी कहते हैं—“लेकिन उनकी धज हिंदुओं की सी

थी। माथे पर तिलक लगाते थे और शरीर पर जनेऊ पहनते थे और साहस तो इतना था कि ब्राह्मणों पर व्यंग्य करते थे—“तू बाह्न मैं कासी का जुलहा, बुझौ मोर गियाना”।” सरदार कबीर को रामानुजाचार्य के दर्शन से प्रभावित हुआ देखते हैं। इस बात को स्थापित करने के क्रम में सरदार शंकराचार्य और रामानुज के दर्शनों पर भी चर्चा करते हैं, और उनके भेद को भी रेखांकित करते हैं। सरदार बताते हैं—“शंकर का कहना है कि चूँकि ब्रह्म ही सत्य है इसलिए माया का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। वह केवल मिथ्या है।” शंकर के इस दर्शन को ‘अद्वैत’ दर्शन के नाम से जाना जाता है। वहीं रामानुज का दर्शन ‘विशिष्टाद्वैत’ नाम से विख्यात है जिसमें ब्रह्म, आत्मा और माया तीनों अलग-अलग पहचाने जाते हैं, लेकिन वास्तव में अलग-अलग नहीं हैं, क्योंकि आत्मा और माया दोनों ब्रह्म के विशेषण हैं। ऐसे में ब्रह्म का एकत्व बाकी रहता है, लेकिन साथ ही साथ आत्मा की वास्तविकता भी बाकी रहती है। सरदार कहते हैं—“शंकर के यहां एकत्व में अनेकत्व के सवाल को व्याख्याओं की आवश्यकता पड़ती है, और रामानुज के यहां वह कविता और गीत के द्वारा खोल देता है, और निर्गुण के आगे संगुण नाचने लगता है। गुण निर्गुण के द्योतक बन जाते हैं और अनलहक का साज बजने लगता है (बाजै सोहं तूरा)। शंकर के यहां गैर-हिन्दू विचारों का मिश्रण कठिन है और रामानुज की विचारधारा में बहुत सी विचारधाराएँ मिल सकती हैं।” सरदार कबीर के यहाँ जलालुदीन रूमी और हाफिज शीराजी का प्रभाव भी पाते हैं। इसीलिए कहते भी हैं कि कबीर के यहाँ कई विचारधाराओं का मिश्रण स्पष्ट दिखता है और चेताते भी हैं कि “कबीर को सौ फीसदी रामानुज का चेला समझ लेना ठीक नहीं है”

सरदार याद दिलाते हैं कि कबीर के यहां माया त्याग की जो बात है उसका अर्थ यह हरगिज नहीं है कि मनुष्य केवल अपने आप में खोकर रह जाये, क्योंकि कबीर की लौकिक जिंदगी तो बहुत कुछ आम लोग जैसी ही है। वे विवाहित थे, उनकी सन्तान थी, और खुद करघे पर कपड़ा बुनते थे, फेरी लगाकर उसे बेकते और आमदनी से बाल-बच्चों का पेट पालते थे। कबीर का आग्रह था कि भगवान इसी संसार में मिलता है। इस बारे में सरदार अपने संग्रह में उपलब्ध कई पदों का हवाला देते हैं, जैसे—“अवधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै/घर मे जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै।” सरदार संसार के प्रति कबीर की भावनाओं को व्यक्त करते कई पदों का उदाहरण देकर कहते हैं—“इस मिट्टी की दुनिया का, जिसके दायित्वों और

कर्तव्यों से उद्धरण होना मुक्ति के लिए जरूरी है, कबीर के यहाँ पूरा आभास मिलता है और शायद कोई दूसरा ‘भक्त’ कवि इस चेतना और अनुभूति में कबीर के करीब नहीं पहुँचता।” आगे, सरदार दोबारा से, अब एक इतिहासकार की दृष्टि से कबीर के जन्म की तरफ लौटते हैं। कबीर पंथियों द्वारा किया गया उनके जन्म का वर्णन उद्भूत करते हैं—“धन गरजै, दामिनी दमकै, बूढ़े बरसैं, झर लाग गए/हर तालाब में कमल खिले, तहाँ भानु परगट भये।” सरदार इन पंक्तियों को याद करते हुए विचार करते हैं कि ये तो हो ही सकता है कि ये शब्द उस समय की वस्तु-स्थिति का वर्णन कर रहे हों, लेकिन सरदार इन शब्दों के अर्थ में एक और संभावना देखते हैं। वे विचारते हैं कि इन पंक्तियों में युद्धों के घन गरज, हिंसा और विव्यंश की दामिनी और उनसे हो रही रक्त की बारिश की बात भी हो सकती है, जिनके बीच “कबीर के जन्म से अचानक सारा वातावरण शांतिमय हो गया और सूर्य निकल आया” सरदार के अनुसार “मध्ययुग के युद्धग्रस्त भारत में कबीर का यह व्यक्तित्व अतिरंजित नहीं मालूम होता।”

‘भूमिका’ के आगे के पन्नों में सरदार कबीर में मंसूर के ‘अनलहक’ का अक्स भी देखते हैं, फिर इस्लाम के “कुल हू अल्लाह अहद” की अभिव्यक्ति भी खोज निकालते हैं। फिर कबीर के गुरु के रूप में पीर तकी का नाम लेके, रामानन्द के साथ की उनकी दीक्षा की कहानी भी सुनाते हैं। आगे, सरदार डॉ. ताराचंद की किताब ‘भारत की संस्कृति पर इस्लामी प्रभाव’ से लिये कई उद्धरणों के माध्यम से दिखाते हैं कि कबीर पर मुसलमानों, सूफी औलिया और शायरों का कितना अधिक प्रभाव रहा है, जिनमें बाबा फरीद, जलालुदीन रूमी और शेख सादी आदि शामिल हैं। जलालुदीन रूमी और कबीर के कलामों के बीच साम्य दिखाते हुए सरदार कई खूबसूरत नज्मों और पदों का जिक्र करते हैं, जो कि विशेष रूप से अत्यंत दर्शनीय है। रूमी और कबीर के कलामों का इतना सुंदर तुलनात्मक अध्ययन शायद ही किसी और समीक्षक के यहां मिलता हो। भूमिका का अंत सरदार कबीर की वर्तमान दौर में प्रासांगिकता पर चिंतन करते हुए करते हैं जिसमें वे कबीर द्वारा पाखण्डों के विरोध को रेखांकित करते हुए कबीर के उस विश्व-प्रसिद्ध निष्कर्ष, उस दोहे तक पहुँच जाते हैं—“पोथी पढ़ पढ़ जग मुवा, पंडित भया न कोई/ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय।” किताब का दूसरा खंड कबीर के पदों का है। सरदार ने अपने इस संकलन में कुल 128 पदों का संग्रह किया है जिनका खड़ी बोली में अनुवाद और व्याख्या भी सरदार ने खुद ही किया है। यह रेखांकित करने योग्य है

कि कबीर की रचनाओं के सबसे प्रामाणिक माने जाने वाले संग्रह श्यामसुंदर दास की 'कबीर ग्रंथावली' में इनमें से अधिकतर पदों को संकलित नहीं किया गया है। सरसरी तौर पर मिलाने की कोशिश करें तो केवल पांच या छः पद ही ऐसे हैं जो सरदार की 'कबीर बानी' और श्यामसुंदर दास की 'कबीर ग्रंथावली' दोनों में मिलते हैं। अगर कोई भूल-चूक से यह संख्या 8-10 भी हो, तो भी 120 के करीब पदों का संकलन जो सरदार ने किया है, उन्हें श्यामसुंदर दास जी ने जगह नहीं दी है। तो फिर सरदार अली जाफरी किस तरह के पदों का संग्रह कर रहे हैं? सरदार के संकलित पदों की भाषा हिंदी के ज्यादा करीब हुई मालूम पड़ती है। इन पदों को पढ़ना-समझना हिन्दी भाषियों के लिए आसान है। जिस प्रकार 'कबीर ग्रंथावली' के पदों में जितनी ज्यादा क्षेत्रीय बोलियों और शब्दों का प्राचुर्य है, जिसके लिए कई बार हमें व्याख्या की जरूरत पड़ने लगती है; 'कबीर बानी' में अधिकतर मौकों पर ऐसी जरूरत नहीं पड़ती है। खड़ी हिंदी के भाषी होते हुए हम सहज ही उन पंक्तियों को समझ लेते हैं। जैसे इस संकलन का पहला ही पद है—“मोकों कहाँ ढूँढे बंदे, मैं तो तेरे पास मैं।” इस पूरे संकलन में कई पन्नों पर ऐसे बेहद आसानी से समझ में आने वाले पद मिल जाएंगे। और ऐसे सारे ही पद आमतौर पर 'कबीर ग्रंथावली' में संकलित नहीं किये गए हैं। सरदार द्वारा संकलित पदों की एक और विशेषता यह भी है कि ये वही पद हैं, जो तमाम कबीर के गायकों के यहाँ सुनने को मिलते हैं। इस संकलन से गुजरते हुए बार-बार पाएंगे कि इन पदों को आपने अमुक-अमुक कबीर-गायकों से सुन रखा है। यह अनुभव आमतौर पर कबीर की रचनाओं के अन्य संकलनों को पढ़ते हुए कम होता है।

संक्षिप्त शब्दों में भावार्थ या अनुवाद करने के अलावा, अली सरदार जाफरी ने पदों में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों और विचारों पर टिप्पणियां भी लिखी हैं, जो किताब के अंतिम में एक साथ संग्रहित हैं। इन टिप्पणियों की संख्या का बंटवारा पद-संख्या के आधार पर ही किया गया है। यानी जो टिप्पणी जिस पद से संबंधित है, उसे उसी पद-संख्या की संख्या से नवाजा गया है। ऐसे में हम इस पुस्तक को विपरीत तरीके से भी पढ़ सकते हैं। यानी जरूरी नहीं है कि हम किसी पद को पढ़ कर ही उसके ऊपर की गई टिप्पणी

तक पहुँचे। ज्यादा सहूलियत तो इसमें है कि हम टिप्पणियों को पढ़ते हुए उनसे संबंधित पदों की ओर जाते हैं और यह ज्यादा रसपूर्ण भी है। टिप्पणियों की प्रकृति देखने पर मालूम पड़ता है कि ये खास तौर पर कुछ विशेष स्थितियों में दी गयी हैं—जब कबीर के किसी पद में इस्लामी परम्परा से संबंधित कोई अवधारणा प्रयोग हुई है, तो सरदार ने टिप्पणी में उसे स्पष्ट करने की कोशिश की है। जब किसी पद में किसी दूसरे संत या ऋषि आदि का उल्लेख हुआ है, तब सरदार ने उस विशेष व्यक्ति के बारे में विस्तृत वर्णन दिया है, जब हिन्दू दर्शन के किसी खास शब्द का इस्तेमाल किसी पद में हुआ है, तब सरदार ने उसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी लिखी है, कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो आमतौर पर हम इस्तेमाल तो करते हैं लेकिन कबीर के यहाँ उनके कुछ विशेष अर्थ हैं, तो ऐसे विशेष अर्थों को स्पष्ट करने के लिए भी सरदार ने टिप्पणियां लिखी हैं।

टिप्पणियों में सरदार ने कई अन्य शायरों के शेर, कई अन्य कविताएं, पद आदि भी उद्धृत किये हैं। इस किताब के शुरू के दोनों हिस्सों के ही मानिंद सरदार की इन टिप्पणियों से गुजरना भी विशेष तौर पर अनूठा और शानदार अनुभव है। तो एक पंक्ति में यह कहा जा सकता है कि यह किताब अली सरदार जाफरी के मानवता, सर्वर्धम सम्भाव, और समाजवाद के बृहद स्वप्न का संदेश देने के लिए किया गया उनका एक रचनात्मक निवेश है।

संदर्भ

- <https://www.satyahindi.com/literature/indian-writer-ali-sardar-jafri-birth-anniversary-115037.html>
- <https://www.rekhta.org/poets/ali-sardar-jafri/>
- कबीर बानी, (द्विभाषी), अली सरदार जाफरी, जिया प्रकाशन (1965)
- कबीर बानी, अली सरदार जाफरी, राजकमल प्रकाशन (2017)
- कबीर ग्रंथावली (सटीक), रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन (2008)

—तरुण त्रिपाठी

शोध-छात्र

हैदराबाद विश्वविद्यालय

मिथकीय चेतना के आलोक में एक और द्रोणाचार्य

—नवीन कुमार
—प्रो. अश्विनी कुमार शुक्ल

आधुनिक हिंदी नाटकों का प्रारंभ भारतेंदु युग से ही माना जाता है। भारतेंदु जी ने भी अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक व सामाजिक चरित्रों के माध्यम से समसामयिक समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया। उनके ‘नील देवी’, ‘विद्यासुंदर’, ‘धनंजय विजय, ‘चन्द्रावली , सती प्रताप’ और सत्य हरिश्चंद्र’ आदि मिथकीय चरित्रों को आधार बना कर लिखे गए नाटक हैं। ये सभी नाटक प्राचीन प्रसंगों को लेकर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उनकी प्रासंगिकता को व्याख्यायित करते हैं। मिथकीय कथा का आश्रय लेकर बालकृष्ण भट्ट ने शिशुपाल वध’, ‘दमयंती स्वयंवर’, ‘सीता बनवास तथा बृहन्नला आदि नाटक लिखे तो लाला श्रीनिवासन दास ने प्रह्लाद चरित्र, ‘तप्ता संवरण’ और रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने सती चन्द्रावली’, ‘अमर सिंह राठौर, अंबिका दत्त व्यास ने ललिता नाटक’, गोसंकट नाटक, ‘मन की तरंग’ तथा भारत सौभाग्य’ आदि नाटकों के माध्यम से मिथक की अवधारणा को प्रस्तुत किया। प्रसाद युगीन नाटककारों ने अतीत का आश्रय लेकर ऐतिहासिक मिथक चरित्रों की योजना अपने नाटकों में की। इस युग में जयशंकर प्रसाद ने ‘सज्जन’, ‘अजातशत्रु’ और ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ जैसे नाटक लिखे तो वही बद्रीनाथ भट्ट, नारायण प्रसाद, बेताब, राधेश्याम कथावाचक, माखनलाल चतुर्वेदी तथा जी पी श्रीवास्तव आदि लेखकों ने पौराणिक कथावस्तु के आधार पर आज की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया। डॉक्टर नीलम राठी के अनुसार—“प्रसाद युगीन नाटककारों ने अपने गौरवमय अतीत के माध्यम से वर्तमान विसंगतियों का समाधान खोजने का प्रयास किया है। इस युग के नाटककारों ने स्वछंदतावादी दृष्टिकोण से इतिहास पुराण के मिथकों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन नाटककारों ने अपने समय की जीवनगत समस्याओं के समाधान स्वरूप अतीत को वर्तमान के रूप में मोड़ दिया है।”³

प्रसादोत्तर नाटककारों ने अधिकांशतः तत्कालीन समाज और जीवन में फैले आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। इनमें उदय शंकर ने विक्रमादित्य’, ‘दाहर और मुक्ति दूत’, लक्ष्मी नारायण मिश्र ने ‘अशोक’, सेठ गोविंद दास ने ‘कुलीनता’, ‘शेर शाह’, ‘महात्मा गांधी’, वृंदावनलाल वर्मा ने ‘हंस मयूर’ जैसे नाटक

लिखे। प्रसादोत्तर नाटकों के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—“पौराणिक क्षेत्र के भीतर से नाटककार ऐसे पात्र ढूँढ़ कर लाए हैं जिनके चारों ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएं बड़ी गहरी छाया डालती हुई आती हैं। ऐसी विषमताएं जो वर्तमान समाज को भी क्षुब्ध करती रहती हैं। पौराणिक सामग्री का सुंदर उपयोग जैसा इस काल के नाटककारों ने किया है वैसा कम देखने में आता है।”⁴

स्वतंत्र्योत्तर नाटक आजादी मिलने के बाद आम जनता को झूठी आजादी से मोहभंग होने की कथा को कहता है। स्वतंत्रता के पश्चात इस भ्रष्टाचार की पोल खोलता जगदीशचंद्र माथुर का कोणार्क, तथा पहला राजा’ प्रमुख हैं। कोणार्क के विषय में डॉक्टर बच्चन सिंह लिखते हैं—“बौद्धिक स्तर पर लिखा गया है यह नाटक बुद्धि और विवेक की मार्ग करता है। इसमें दर्शकों और नाट्यप्रयोग में तादात्प्य नहीं स्थापित होता। उसके स्थान पर दर्शक स्वतंत्र ढंग से सोचने विचारने पर बाध्य होता है।”⁵ धर्मवीर भारती का ‘अंधा युग’ पौराणिक मिथक के माध्यम से समकालीन समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला नाटक है। नाटक युद्ध से जूझते आम आदमी की जिंदगी में फैलते विष पर सबका ध्यान केन्द्रित करना चाहता है। मोहन राकेश के नाटक ‘लहरों के राजहंस’ तथा ‘आसाढ़ का एक दिन’ मिथक चरित्रों का आश्रय लेकर मानव जीवन में आने वाले तनाव तथा अनेक समस्याओं को हल करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

शंकर शेष द्वारा रचित नाटक ‘एक और द्रोणाचार्य’ सन् 1971 ईसी में प्रकाशित हुआ जिसमें महाभारत कालीन पात्र द्रोणाचार्य के मिथक को आधार बनाकर शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार और बुराइयों को उजागर किया गया है। यह नाटक परंपरा और आधुनिक परिवेश की संवेदनाओं को समन्वित करने का कार्य करता है। शंकर शेष ने पौराणिक चरित्र को लेकर आधुनिक संदर्भों में उसकी व्याख्या की है। एक मध्य वर्ग का शिक्षक किस प्रकार प्रबंधन तंत्र के हाथों मात्र एक कठपुतली बनकर रह जाता है और सत्य का पक्ष नहीं ले पाता। नाटक में विमलेंदु और अरविंद की बातचीत से इसका पता चलता है—‘विमलेंदु साले मिडिल क्लास के आदमी, अपनी हर समस्या को ग्लोरिफाई करोगे।..और ना समझ! मेरी बीवी साल भर से नौकरी की तलाश में दर दर भटक रही है। सब आश्वासन देते हैं, नौकरी कोई नहीं देता। सब बकवास है! अरविंद—तुम कहना क्या चाहते हो? विमलेंदु वही जो तुम्हारा भीतरी मन सुनना चाहता है। अरविंद—यानी? विमलेंदु—जाओ,

उस प्रेसिडेंट से समझौता करो, प्रिंसिपल बनो। क्या तुम्हारी भी ख्वाहिश है कि तुम्हारी लाश के पास म्युनिसिपेलिटी के चेयरमैन की अध्यक्षता में शोक सभा हो और प्रस्ताव पास किया जाए?”⁶

नाटक में एक स्थान पर द्रोणाचार्य कहते हैं—“एकलव्य का अगृथा बने रहने का अर्थ समझते हो? धनुर्विद्या पर उसका अधिकार हो जाएगा। शक्तिशाली होने के बाद ये क्षत्रीय से स्पर्धा करेंगे और परिणाम होगा वर्णाश्रम धर्म पर संकट। उसका अंगूठा छीनकर मैं इन संभावनाओं को हमेशा के लिए समाप्त कर दूँगा समझे?”⁷ महाभारत का यह पात्र तो गरीबी से निजात पाने तथा अपने साथी ध्रुपद से बदला लेने के लिए सत्ता की चापलूसी करना स्वीकार कर लेता है तो वहीं आधुनिक शिक्षक प्रो. अरविंद पद, प्रतिष्ठा और सम्मान को हासिल करने के लिए स्वयं अपने मान-सम्मान और स्वाभिमान को कुर्बान कर देता है।

नाटक में महाभारत के द्रोण और आधुनिक द्रोण अरविंद की कथा एक साथ चलती है। एक और द्रोणाचार्य नाटक का सारांश इस प्रकार है कि नाटक का मुख्य पात्र अरविंद पेशे से एक शिक्षक है। वह एक ईमानदार, आदर्शवादी और कर्तव्यनिष्ठ कॉलेज प्रोफेसर है। वह एक शिक्षक होने के नाते सामाजिक बुराइयों और भ्रष्ट होती जा रही व्यवस्था को सुधारना चाहता है लेकिन भ्रष्ट समाज उसे किसी न किसी रूप में रोक लेने में सफल हो जाता है। प्रोफेसर अरविंद एक दिन कॉलेज अध्यक्ष के लड़के राजकुमार को नकल करते हुए पकड़ लेता है और उसका केस विश्वविद्यालय में भेजने के लिए अड़ जाता है। अध्यक्ष अनेक तरीकों से अरविंद तथा उसके परिवार वालों को डराता धमकाता तथा समझौता करने का दबाव बनाता है। वह अरविंद को समझाता है कि यदि तुम राजकुमार के खिलाफ विश्वविद्यालय शिकायत ना भेजो तो अब तक जो सुविधाएं उसे मिलती रही हैं वे सभी आगे भी उसे निरंतर मिलती रहेंगी। इन सब सुविधाओं के विषय में सोचकर ही अरविंद की पत्नी तथा मित्र उसे अध्यक्ष से समझौता कर लेने को कहते हैं। कर्तव्य पथ पर अटल रहने वाला ईमानदार शिक्षक अरविंद इस पर कोई निर्णय नहीं ले पाता। ऐसी पशोपेश की स्थिति में अरविंद का पुराना शिक्षक साथी विमलेंदु उसे याद आता है क्योंकि जब भी अपने सिद्धांतों से समझौता करने की बात आती है तो उसे विमलेंदु ही बिना बुलाए मैहमान की तरह याद आ जाता है। वह अरविंद का सहयोगी शिक्षक रह चुका है। विमलेंदु ने भी अपने अध्यापकीय जीवन में एक नकल पकड़ने का साहस दिखाया

था किंतु परिणामस्वरूप नकलची गुंडों ने उसे सरेआम मौत के घाट उतार दिया था। जीवन के जिस अर्थ को वह जीते जी ना समझ सका, मरने के बाद उसे सारा अर्थ समझ में आ गया। अतः विमलेंदु अरविंद को जिद छोड़कर अध्यक्ष से समझौता कर लेने की सलाह देता है। अरविंद अपनी पत्नी लीला के आग्रह को मानकर और परिवार की सुरक्षा तथा भलाई के लिए अपने सारे आदर्शों और उसूलों को भूल जाता है। आखिर में वह प्रबंधन तंत्र से समझौता कर लेता है। कॉलेज का अध्यक्ष उसे प्रिंसिपल बना देता है। सुविधाओं को प्राप्त करने के चक्कर में वह अपने प्रिय शिष्य चंदू के साथ भी अन्याय कर देता है और अपने विकास का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। कॉलेज प्रबंधन तंत्र के द्वारा दी गयी सुविधाओं में वह इतना अधिक मशरूफ हो जाता है कि अच्छाई और बुराई में फर्क करना भी भूल जाता है।

नाटककार ने इस कथा में स्पष्टतः द्वोण के मिथक का आश्रय लेकर आज की भ्रष्ट शिक्षा व्यवस्था पर करारा व्यंग किया है। युद्ध क्षेत्र में जिस प्रकार द्वोणाचार्य को हराने के लिए उनका प्रिय शिष्य युधिष्ठिर अर्थसत्य बोलकर द्वोण को मरवा देता है उसी प्रकार नाटक में चंदू भी, जो अरविंद का प्रिय शिष्य है, यही व्यवहार अरविंद के साथ करता है। मनोहर पुरी तथा उषा पुरी अपनी पुस्तक समकालीन भारत में लिखते हैं—“शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव, शिशु सब प्रकार से विकसित होकर समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण करते हैं। शिक्षा के माध्यम से ही सहस्र वर्षों से राष्ट्र द्वारा अर्जित अनुभव बालक को हस्तांतरित कर दिए जाते हैं। शिक्षा के माध्यम से ही वह अपनी राष्ट्रीय थाती एवं संस्कृति को ग्रहण करता है, उनका सामाजीकरण होता है और वह मनुष्य की संज्ञा पाने योग्य बनता है।”⁸ शंकर शेष का यह नाटक ‘एक और द्वोणाचार्य’ इस परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण मिथकीय नाटक है। नाटक के केंद्रीय पात्र अरविन्द की तुलना महाभारतकालीन द्वोण से करते हुए आज के स्वार्थी शिक्षक समाज के खोखलेपन का पर्दाफाश किया है जो मिथ्याज्ञान के कारण स्वयं तो ढूबता ही है, होनहार प्रतिभाओं का भी नाश करता है। नाटक में विमलेंदु और अरविंद की बातचीत में शंकर शेष खुलासा करते हैं—अरविंद : मैं कौन हूँ। विमलेंदु : तू द्वोणाचार्य हैं। व्यवस्था और सत्ता के कोड़ों से पीटा हुआ द्वोणाचार्य, इतिहास की धार में लकड़ी की ठूंठ की तरह बहता हुआ—सड़ा गला द्वोणाचार्य। व्यवस्था के लाइट हाउस से अपनी दिशा मांगने वाले टूटे जहाज- सा- द्वोणाचार्य। अरविंद : मैं द्वोणाचार्य नहीं, अरविन्द हूँ, प्रोफेसर अरविंद।”⁹ समाज में सदा से

दोयम दर्जे पर रही नारी का शोषण भी ‘एक और द्वोणाचार्य’ में दिखाया गया है। नाटक में अनुराधा का महाभारतकालीन द्रौपदी के मिथक के समान चित्रण किया गया है। महाभारत में द्रौपदी को सभी गुरुओं, राजाओं और राजकुमारों के मध्य निर्वस्त्र करने का प्रयास किया जाता है तो यही व्यवहार अनुराधा के साथ अध्यक्ष के लड़के राजकुमार के द्वारा किया जाता है। अरविंद इस सब को देख कर भी मौन बना रहता है। ऐसे ही विमलेंदु की पत्नी पर भी उसके अफसर की नजर पड़ी होती है जो उसे किसी न किसी बहाने परेशान करता रहता है। शहर छोड़कर चले जाना ही उसे इसका समाधान प्रतीत होता है। नाटककार लिखता है, “छोटी सी नौकरी पर अपना पेट पाल रही है। बच्चों का पेट पाल रही है। कभी कभार मेरी याद में रोती है।..उसका एक नया अफसर आया है 60 साल उमर है उसकी, वह डोरे डाल रहा है मेरी पत्नी पर। प्रमोशन का लालच दे रहा है।”¹⁰

संदर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय मिथक कोश, , डॉ. ऊषापुरी विद्यावाचस्पति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नवी दिल्ली-110002, प्रथम सं. 1986, पृ. 22
2. मिथक और साहित्य, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नवी दिल्ली-110002, पृ. 23
3. साठोत्तर हिंदी नाटक, डॉ. नीलम राठी, संजय प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2001, पृ. 98
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत्-1986, पृ. 556
5. हिंदी नाटक, बच्चन सिंह, साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र. सं.1958, पृ. 127
6. समकालीन भारत, मनोहर पुरी एवं ऊषापुरी, अनमोल साहित्य प्रकाशन, बी-3-235, पश्चिम विहार, नवी दिल्ली, 110063, पृ. 226
7. एक और द्वोणाचार्य, शंकर शेष, पराग प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1978, पृ. 26
8. वही, पृ. 36
9. वही, पृ. 75
10. वही, पृ. 54, 55

–नवीन कुमार

शोधार्थी (हिंदी विभाग)

पंजे.एल.एन. पीजी कॉलेज, बाँदा बुदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

–अश्वनी कुमार शुक्ल

शोध निदेशक

महिलाओं के सशक्तीकरण में शिक्षा की भूमिका एवं प्रभाव (उ.प्र. के विशेष संदर्भ में)

—कोमल सिंह

देश के महान सपूत गोपाल कृष्ण गोखले ने ब्रिटिशकालीन विधानसभा (इंपीरियल असेम्बली) में शिक्षा के अधिकार की बात कही थी। तब से लेकर आज तक इसे कानून का रूप देने के लिए चरणबद्ध तरीके से कई बदलाव किए गए। करीब छह दशक के सफर के बाद केन्द्र सरकार ने शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा देकर ऐतिहासिक फैसला लिया है। इस कानून को लागू करते हुए प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा था कि शिक्षा हर बच्चे का मौलिक अधिकार है और अब बिना भेदभाव के सभी को शिक्षा मिलेगी। एक अप्रैल, 2010 से पूरे देश में शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 को शत-प्रतिशत लागू कर दिया गया है। यह कानून शिक्षा हासिल करने को हर बच्चे का अधिकार बनाता है। अधिनियम सभी संबंधित सरकारों के लिए यह सुनिश्चित करना बाध्यकारी करता है कि हर बच्चा मुफ्त शिक्षा प्राप्त करे। अधिनियम में यह भी अनिवार्य प्रावधान किया गया है कि निजी शिक्षण संस्थानों को भी अपने यहाँ 25 फीसदी सीटें कमज़ोर तबके के लिए आरक्षित रखनी होंगी। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार के द्वारा ग्रामीण इलाके में रह रहे लोगों को साक्षर बनाने के लिए कई कार्यक्रम चलाए गए, जिनमें 1989 में शुरू की गई महिला समाख्या योजना, 15 अगस्त 1995 से आरंभ मध्यान्ध्र योजना और 2001 में शुरू किया गया सर्वशिक्षा अभियान प्रमुख हैं। प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के जरिए किसानों के बीच अधिक उपज देने वाले बीजों की किस्मों को लोकप्रिय बनाने के लिए एक अन्तर-मंत्रालयीन परियोजना बनाई गई जो किसानों के लिए प्रशिक्षण एवं कार्यात्मक साक्षरता कहलाती है। साथ ही निरक्षरता उन्मूलन कार्यक्रमों में महिलाओं को विशेष प्राथमिकता दी गई है।

शिक्षा आज के आधुनिक, सभ्य, उन्नत और विकसित कहे जाने वाले समाज की आधारशिला है। शिक्षा के बिना प्रगति कभी भी पूर्ण और बहुआयामी नहीं हो सकती। एक शिक्षित व्यक्ति, शिक्षित समाज या शिक्षित राष्ट्र ही प्रगति के दुर्गम पथ पर अनवरत यात्रा कर पाने में समर्थ होता है। मानव की आत्मा को परिष्कृत करके उसे आत्म साक्षात्कार कराने जैसे शिक्षा के चरम् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमारे देश में शिक्षा रूपी ज्ञान का उदय काफी पहले उस समय हो गया था

जब आज के सुसभ्य, सुसंकृत और विकसित कहे जाने वाले देश असभ्यता के अंधकार में अपना जीवन पथ ढूँढ रहे थे। महिलाएँ एवं पुरुष दोनों समाज रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। महिलाओं के विकास के बिना किसी भी राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है। महिलायें राष्ट्र के विकास में उतना ही महत्व रखती है जितना उस देश के खनिज पदार्थ, नदियाँ एवं खेतीबाड़ी का है। महिलाएँ सामाजिक सुधार की आधार शिला हैं। वह देश की संस्कृति, धर्म, साहित्य, कला एवं ज्ञान विज्ञान का स्तम्भ हैं। महिलाओं की शक्ति का समुचित उपयोग करके एवं उन्हें सम्माननीय स्थान देने पर वे राष्ट्र के विकास को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित कर सकती हैं। महिलाओं पर सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं के कारण महिला शिक्षा प्रगति नहीं कर पाती है। विगत दशकों से साक्षरता के आंकड़ों से पता चलता है कि वर्ष 1951 में 8.86 प्रतिशत महिलायें ही साक्षर थीं। 2011 में साक्षरता दर 65.46 प्रतिशत तक पहुँच गयी, लेकिन पुरुषों की तुलना में यह अभी भी 16.68 प्रतिशत कम है। खुशी का इजहार करने वाली बात यह है कि साक्षरता में लैंगिक अन्तर 1981 से निरंतर कम हो रहा है। 1981 में पुरुष तथा स्त्रियों के साक्षरता दर के मध्य 26.62 प्रतिशत का अन्तर था जो 9.94 प्रतिशत कम होकर 2011 में 16.68 प्रतिशत ही रह गया। सन् 2011 में उत्तर प्रदेश में पुरुष साक्षरता 79.2 प्रतिशत थी जबकि महिला साक्षरता 59.3 प्रतिशत ही थी जो कि पुरुषों के मुकाबले 19.90 प्रतिशत कम है। स्वतंत्रता के 65 वर्षों के बाद भी तमाम सरकारी हस्तक्षेप महिलाओं को शिक्षा से रखने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक कारणों के प्रभुत्व को रोकने में असफल रहे हैं। देश एवं उत्तर प्रदेश में महिला शिक्षा की स्थिति के विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि आज भी शिक्षा में उच्च लैंगिक अन्तर बना हुआ है और शिक्षा के मामले में लड़कियाँ, लड़कों से काफी पीछे हैं हालांकि लैंगिक अन्तर पहले से काफी कम हुआ है। शिक्षा में उच्च लैंगिक अन्तर के बने रहने के कारण गरीबी तो है ही, सामाजिक, सांस्कृतिक विसंगतियों एवं सामाजिक कुरीतियों का बने रहना भी है। उत्तर प्रदेश में आज भी काफी परिवार गरीबी रेखा से नीचे बसर कर रहे हैं। गरीबी की स्थिति में परिवार शिक्षा पर अधिक ध्यान संकेन्द्रित नहीं कर पाते। यदि किसी भी कारण से शिक्षा की ओर उन्मुख होने का अवसर उन्हें मिलता भी है तो उनकी पहली प्राथमिकता लड़कों की ही होती है। गरीब परिवारों में जहाँ रोजी-रोटी का उचित प्रबन्ध नहीं है तो महिलाओं/लड़कियों को शिक्षा देने का प्रश्न ही नहीं उठता। सामाजिक-सांस्कृतिक

विसंगतियों तथा कुरीतियों के बने रहते हुए भी महिलाएं शिक्षा व्यवस्था से नहीं जुड़ पाती और जुड़ती भी हैं तो दो चार जमात के बाद पढ़ाई छोड़ देती है और शिक्षा के उच्च स्तरों तक पहुँच ही नहीं पाती। पुरुष प्रधान मानसिकता वाले कुछ परिवार आज भी यह सोचते हैं कि लड़कियाँ पराया धन हैं इसलिये उनकी शिक्षा पर खर्च करना लाभहीन निवेश है जिसका फायदा घर वालों को नहीं मिलेगा। यह भी सोचते हैं कि अधिक पढ़ा देने से वर ढूँढ़ने में समस्या तथा दोज की समस्या भी होगी। कुछ परिवारों विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र में परिवार का हर एक सदस्य लड़कियों से यह अपेक्षा करता है कि वह परिवार के छोटे बच्चों की देखभाल करेगी, पानी-चारा लायेगी और घर के अन्य छोटे-बड़े कार्य करेगी। ऐसे में वह शिक्षा संस्थानों में पढ़ने के लिए कैसे जा पायेगी या फिर शिक्षा के लिए कैसे समय निकाल पायेगी। आज भी बहुत से मुस्लिम परिवारों में और बहुत से अंदाविश्वासी रुद्धिवादी हिन्दू परिवारों में लड़कियाँ पर्दाप्रिथा और अन्य बदिशों के रहते पढ़ नहीं पाती या शिक्षा के उच्च स्तरों तक पहुँच ही नहीं पाती। अधिकांश महिलायें परम्परावादी जीवन मूल्यों के विषाक्त चक्र में फँसी हुई होती हैं और उनकी चिन्तन धारा आधुनिक मूल्यों से ओत-प्रोत सामाजिक विधानों के प्रतिकूल बैठती है। अधिकांश स्थितियों में वे अब भी अपनी शिक्षा, व्यवसाय एवं रोजगार को चयनित करने में स्वतंत्र निर्णय नहीं ले पाती। अतएव यह अपेक्षित है कि भारतीय महिलाओं में प्रौढ़ एवं सतत् शिक्षा के माध्यम से एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित किया जाए और उन्हें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मुख्यधारा में प्रभावशाली रूप से जोड़ा जाए।

महिला साक्षरता पर विशेष ध्यान देते हुए राष्ट्रीय स्तर पर शैक्षिक विकास कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता के आधार पर संचालित किया जाये और इसे अधिक प्रभावी एवं कारगर बनाने के लिए गैरसरकारी संगठनों को भी भागीदार बनाया जाय। जिन क्षेत्रों में महिलाएं शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कम हैं ऐसे क्षेत्र की पहचान की जाए तथा उनकी साक्षरता बढ़ाने के लिए समुचित रणनीति अपनायी जाए। लड़कियों की अशिक्षा के स्लिपिंग सामाजिक कारणों को दूर करने के लिए समाज में महिला में शिक्षा के प्रति जागरूकता लाइ जाए। नगरों की भाँति ग्रामीण अंचलों में भी शिक्षा एवं साक्षरता का प्रसार किया जाये। ग्रामीण अंचलों में एक स्वस्थ सामाजिक वातावरण तैयार किया जाये जिससे लड़कियाँ स्कूल में जाकर शिक्षा प्राप्त कर सकें तथा स्कूलों में प्रवेश लेने के बाद पढ़ाई जारी रख सकें। कन्या आश्रम तथा बालिकाओं के लिए आवासीय पाठशालाओं में जहाँ

तक संभव हो सके, वृद्धि की जाय। महिला छात्रावास अदि आकाधिक संख्या में स्थापित किये जायें तथा छात्रावासों का प्रबंधन एवं संचालन कुशलतापूर्वक किया जाय ताकि अभिभावकों की नजरों में छात्रावास की विश्वसनीयता बरकरार रहे। विभिन्न आयु समूह की महिलाओं की शिक्षा और व्यवसाय शिल्प प्रशिक्षण, स्वरोजगार, व्यवसाय मार्गदर्शन जैसे पाठ्यक्रम अपनाकर स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाय। गैर अनौपचारिक शिक्षा की विषय वस्तु पर नये सिरे से विचार किया जाये और इस क्षेत्र में पूरे उत्साह से कार्यवाही करने को उच्च प्राथमिकता दी जाए। महिलाओं और बालिकाओं के लिए शैक्षिक सुविधायें उपलब्ध कराने वाली संस्थाओं को दिशा-निर्देश देकर उन्हें कार्यान्वयन किया जाय। महिला समितियों का गठन करके उन्हें महिला शिक्षा के उन्नयन की जिम्मेदारी दी जाय। जो अभिभावक गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहे हैं, उन पर से शिक्षा का बोझ पूरी तरह से खत्म किया जाये। विकलांग एवं बेसहारा लड़कियों को अतिरिक्त सुविधायें दी जायें। जनजातीय महिलाओं की शैक्षिक प्रगति के लिए जनजातीय भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाये। बाल विवाह की प्रथा रोकी जाये। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचलों में महिला अध्यापकों की कमी है शहर की महिला अध्यापिकायें गांव में नौकरी करना नहीं चाहती और गांवों में महिलायें इतनी काबिल नहीं हैं कि ग्रामीण अंचलों में शिक्षा का पूरा दायित्व उठा सकें। इस पेचीदा स्थिति को सुलझाने के लिए आवश्यक है कि पर्याप्त शैक्षिक योग्यताओं से सम्पन्न स्थानीय महिलाओं को पात्रता स्तर में कुछ ढील देते हुए अध्यापिकायें नियुक्त की जाए तथा शिक्षण की विशेष सुविधायें दी जाएं। देश की आजादी के 7 दशक व्यतीत होने के पश्चात् भी महिला शिक्षा की दशा-दिशा में कोई विशेष रूप से परिवर्तन नजर नहीं आता है। इसी कारण से भारतीय सामाजिक स्वरूप व चेतना में जो अपेक्षित परिवर्तन होना चाहिए वह नहीं हो पाया है। मानवीय संसाधन का पूर्ण विकास बच्चों के चरित्र निर्माण व देश के बहुमुखी विकास के लिए महिला शिक्षा पुरुषों की शिक्षा से अधिक उपयोगी है।

उत्तर प्रदेश के सामाजिक विकास के लिए शिक्षा के क्षेत्र में निम्न योजनायें चलाई जा रही हैं- बालिका शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों में कस्तूरबा गांधी शिक्षा योजना की शुरुआत की गई है। इसके जरिए लड़कियों के लिए उन इलाकों में विद्यालय की स्थापना करना था, जहां महिला साक्षरता दर निम्न है। इसमें बालिकाओं को शिक्षित करने के साथ ही उनके

लिए आवासीय व्यवस्था करना भी शामिल है। यह योजना उन क्षेत्रों के लिए लक्षित की गई है जहां लोग स्कूल से दूरी पर रहते हैं। ऐसे में लड़कियों के लिए सुरक्षित माहौल देने की भी जिम्मेदारी निभाई जा रही है क्योंकि जिन इलाकों में आबादी स्कूल से दूर होती है वहां के अभिभावक लड़कियों को स्कूल भेजने से मना कर देते हैं। इसके मद्देनजर ब्लॉक में ही लड़कियों के लिए स्कूली छात्रावास का प्रावधान किया गया है। इसमें अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक वर्ग की लड़कियों के लिए 75 फीसदी आरक्षण का प्रावधान किया गया है। शेष 25 फीसदी उन लड़कियों को प्रवेश दिया जाता है, जो गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले परिवार से होती हैं। सर्वशिक्षा अभियान की शुरुआत एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के तहत 2001 में की गई। इसका उद्देश्य 2010 तक 6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग वाले सभी बच्चों को उपयोगी और प्रासंगिक प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना था। वर्तमान में सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में सर्वशिक्षा अभियान का व्यापक असर है, सर्वशिक्षा अभियान के लागू होने के बाद उत्तर प्रदेश में महिला शिक्षा के क्षेत्र में उत्साहजनक बढ़ोत्तरी हुई है। सर्वशिक्षा अभियान में भी अनुसूचित जाति एवं जनजाति और अल्पसंख्यक वर्ग की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने का प्रावधान है। इसमें बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की बात कही गई है। वहीं विद्यालय छोड़कर जा चुकी बालिकाओं को वापिस लाने के लिए अभियान चलाना, लड़कियों के लिए निःशुल्क पाठ्यपुस्तकें, बालिकाओं के लिए विशेष कोचिंग और तैयारी, कक्षाओं का आयोजन और सीखने के लिए सौर्वार्थपूर्ण वातावरण बनाना, शिक्षा के समान अवसर को बढ़ावा देने के लिए शिक्षक जागरूकता कार्यक्रम, बालिका शिक्षा से संबंधित प्रयोगात्मक परियोजनाओं पर विशेष ध्यान एवं 50 प्रतिशत महिला शिक्षकों की नियुक्ति करना शामिल है। भारत की स्वतंत्रता के बाद ग्रामीण इलाकों में रह रहे लोगों को साक्षर बनाने के लिए कई कार्यक्रम चलाए गए। इसी में से प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम भी रहा। इसके जरिए किसानों के बीच अधिक उपज देने वाले बीजों की किस्मों को लोकप्रिय बनाने के लिए एक अन्तर्र-मन्त्रालयीन परियोजना बनाई गई, जो किसानों के लिए प्रशिक्षण एवं कार्यात्मक साक्षरता कहलाती है। एक अन्य योजना एफएलएडब्ल्यू 1975-76 में शुरू की गई, जो प्रौढ़ महिलाओं के लिए कार्यात्मक साक्षरता बढ़ाने के उद्देश्य से चलाई गई। निरक्षरता उन्मूलन कार्यक्रमों में महिलाओं को विशेष प्राथमिकता दी गई।

इस वजह से साक्षरता अभियान के अधीन देश में साक्षरता दर 1951 में 18.33 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2001 में 65.38 प्रतिशत हो गई है, इस प्रकार से पांच दशकों में साक्षरता का प्रतिशत 47.05 प्रतिशत बढ़ा था या प्रति दशक 9.41 प्रतिशत की औसत वृद्धि हुई। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार पुरुष साक्षरता 78.85 प्रतिशत थी और महिला साक्षरता 54.16 प्रतिशत। महिला सशक्तिकरण से तात्पर्य महिलाओं की शिक्षा और स्वतंत्रता को समाहित करते हुए सामाजिक सेवाओं के समान अवसर प्रदान करना, राजनीतिक और आर्थिक नीति निर्धारण में भागीदारी, समान कार्य के लिए समान वेतन, कानून के तहत सुरक्षा देने का अधिकार आदि प्रदान करने से है। आज आवश्यकता इस बात की है कि महिलाओं में आत्मशक्ति के बारे में चेतना जागृत की जाए जिससे न केवल महिलाओं का कल्याण होगा बल्कि वे सामाजिक विकास की प्रवर्तक भी बन सकेंगी। एक सशक्त महिला न केवल स्वयं अपने लिए बल्कि समाज के समग्र विकास के लिए भी उपयोगी व महत्वपूर्ण साबित होंगी। महिलाओं में आत्मविश्वास, अपने अधिकारों के बारे में जागरूकता तथा अन्याय से लड़ने की नैतिक्‌वित्ति शिक्षा से ही पैदा होती है। महिलाओं में शिक्षित एवं जागरूक होने की महत्ता को समझते हुए और उन्हें राष्ट्रीय विकास की मुख्यधारा में शामिल करने के लिए भारत सरकार ने 1 अप्रैल 2010 से 6-14 वर्ष तक के बच्चों की अनिवार्य शिक्षा का कानून लागू कर दिया है। महिलाओं के शोषण एवं उत्पीड़न को रोकने के लिए उनका चुम्मुखी विकास जरूरी है। इसके लिए उनका कानूनी ज्ञान बढ़ाना भी समय की आवश्यकता है।

भारत में स्वतंत्रता के बाद से महिला कल्याण के लिए एवं 90 के दशक के बाद से महिला सशक्तिकरण हेतु सरकारी व गैर-सरकारी स्तर पर निरंतर प्रयास किए जाते रहे हैं। ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य स्थिति, आर्थिक सहभागिता, निर्णय क्षमता, कानूनी ज्ञान आदि के संदर्भ में पुरुषों की तुलना में कमज़ोर स्थिति को देखते हुए ग्रामीण क्षेत्रों में ‘महिला सशक्तिकरण’ जैसे कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों में शिक्षा की भूमिका व योगदान उल्लेखनीय रहा है। महिला सामाज्या भी उनमें से एक है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं विशेषकर सामाजिक, आर्थिक रूप से पिछड़ी एवं वर्चित महिलाओं को इस योग्य बनाना है कि वे अलग-थलग पड़ने और आत्मविश्वास की कमी जैसी समस्याओं से जूझ सकें और दमनकारी सामाजिक रीति-रिवाजों के विरुद्ध खड़े होकर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष कर सकें। वर्तमान

में महिला सामाज्या कार्यक्रम देश के 11 राज्यों में संचालित किया जा रहा है। 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से पंचायती राज व्यवस्थाओं में महिलाओं को सहभागिता प्रदान कर उन्हें राजनीतिक शक्ति संरचना में स्थान देने का जो प्रयास किया गया है, वह बेहद सफल साबित हो रहा है। आज निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने की जरूरत है। इसके लिए पुरुषों की रुद्धिगत सोच में बदलाव लाना होगा। जब महिलाओं को पंचों, सरपंचों, सदस्यों एवं अन्य प्रतिनिधियों के रूप में पुरुष प्रधान राजनीतिक व्यवस्था में अपनी भूमिका निभाने के लिए खड़ा कर दिया गया है तो ऐसे में उन्हें अपनी भूमिका को सफलतापूर्वक निभाने के लिए खुद को तैयार रहना ही पड़ेगा। इस कार्य में स्थानीय लोगों के साथ-साथ सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं आदि का सहयोग बेहद जरूरी है। भारत सरकार ने मनरेगा के तहत गांव के प्रत्येक परिवार को 100 दिन का रोजगार प्रदान करने का कानून बनाया है जिसके तहत 50 प्रतिशत रोजगार के अवसर महिलाओं को प्रदान करने का प्रावधान है। इस योजना के जरिए अधिकाधिक महिलाओं को लाभान्वित किए जाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे महिला सशक्तिकरण का उद्देश्य पूरा हो सके। पंचायत के एक तिहाई पदों पर महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान 73वें संविधान संशोधन द्वारा किया गया। कई राज्यों में इसे बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दिया गया है। परिणामस्वरूप पूरे देश में लगभग 17 लाख महिलाएं पंचायतों के कामकाज से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ गई हैं। अब संसद में और विधानसभाओं में भी 33 प्रतिशत आरक्षण का मुद्रा प्रक्रिया में है। इसका राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव तभी दिखाई देगा जब महिलाएं अपने आपको एक सशक्त भूमिका में प्रस्तुत करेंगी। सशक्तिकरण बाहर से थोपा नहीं जा सकता, वह तो स्वयं में उत्पन्न होना आवश्यक है।

महिलाओं को राष्ट्रीय विकास की धारा में भागीदार बनने के लिए उनका शिक्षित एवं जागरूक होना आवश्यक है। हमारे देश में ग्रामीण क्षेत्रों में बालिकाओं का शिक्षा में पिछड़ापन सर्वविदित है। यदि वे किसी प्रकार विद्यालय में प्रवेश ले भी लेती हैं तो भी ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा पूरी नहीं हो पाती है। अब उत्तर प्रदेश के प्रत्येक पंचायत में एक माध्यमिक शाला बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, तब क्या कारण है कि गांव की प्रत्येक लड़की आठवीं कक्षा तक भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाती है? भारत सरकार ने 6-14 साल तक के बच्चों की अनिवार्य शिक्षा का कानून 1 अप्रैल, 2010 से

लागू कर दिया है। उत्तर प्रदेश के गांवों में प्रत्येक परिवार के लिए यह जरूरी हो कि सभी लड़कियां दसवीं तक की शिक्षा अनिवार्य रूप से प्राप्त करें। उत्तर प्रदेश की लड़कियों के लिए बारहवीं तक की शिक्षा निःशुल्क है। इन सुविधाओं के होते हुए भी लड़कियों को छोटे-मोटे घरेलू कामकाज में लगाए रखकर उनको जीवन भर के लिए अशिक्षित छोड़ दिया जाता है। माता-पिता, अभिभावकों को समझा-बुझाकर, दंड देकर, सुविधाओं को प्रतिबंधित करके बाध्य करें जिससे बालिका शिक्षा का लक्ष्य पूरा हो सके। दलित एवं पिछड़े वर्ग की बालिकाओं में शिक्षा के लिए विशेष उपाय करने की आवश्यकता है। महिलाओं में आत्मविश्वास, अपने अधिकारों के बारे में जागरूकता तथा अन्याय से लड़ने की नैतिक शक्ति शिक्षा से पैदा होती है। वे अपने प्रति हो रहे सामाजिक एवं आर्थिक भेदभाव को जानकर उसका प्रतिकार करने योग्य बन सकती हैं। शिक्षा और जागरूकता के बढ़ने पर ही महिलाएं कानून द्वारा दी गई सुविधाओं का लाभ उठा सकेंगी। उत्तर प्रदेश में महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने लिए महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता देना अत्यन्त आवश्यक है। परिवार में अधिक श्रम महिलाओं को करना पड़ता है। परन्तु उनका श्रम पूर्णतः अवैतनिक रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि महिलाओं के श्रम का उचित मूल्यांकन हो ताकि उनके श्रम का सही प्रतिफल उन्हें मिले। इसके लिए उन्हें शिक्षित-प्रशिक्षित तो होना ही पड़ेगा, उन्हें गांव की स्थानीय महिला प्रशिक्षकों से मदद की जरूरत भी रहेगी। आठवीं तथा दसवीं पढ़ने वाली बालिकाओं को सामान्य शिक्षा के साथ ही व्यावसायिक शिक्षा दी जाए। लघु एवं कुटीर उद्योगों में प्रशिक्षण प्राप्त करने पर वे अपना रोजगार कर सकेंगी। इससे परिवार की आय में वृद्धि होगी। महिलाओं के शोषण एवं उत्पीड़न को रोकने के लिए आवश्यक है कि उनका चहुंमुखी विकास किया जाए। कानूनों के बारे में उनका ज्ञान भी बढ़ाया जाए। इसके लिए निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने की जरूरत है। पुरुषों की रुद्धिगत सौच में बदलाव लाना होगा। पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था तो कर दी गई है। जब महिला पंचों, सदस्यों एवं अन्य प्रतिनिधियों को पुरुष प्रधान राजनैतिक व्यवस्था में अपनी भूमिका निभाने के लिए खड़ा कर दिया गया है तब अपनी भूमिका को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए उन्हें खुद तो तैयार रहना ही पड़ेगा, साथ ही स्थानीय

लोग एवं सरकारी, गैर-सरकारी संस्थाएं सभी मिलकर उन्हें पूरा सहयोग प्रदान करें। महिलाओं को भी छोटे-छोटे समूह बनाकर विभिन्न मुद्रों पर गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श करना होगा। इससे उनमें आत्म विश्वास का संचार होगा व घर के कामकाज के साथ ही वे ग्रामसभा व पंचायतों की बैठकों में भाग लेने, योजना बनाने, उनका क्रियान्वयन करने, निर्णय लेने एवं उन्हें लागू कराने में सक्षम बनेंगी। हमारे संविधान से लेकर सामाजिक रीति-रिवाजों में भी महिला एवं बालिकाओं को अनेक अधिकार दिए गए हैं। इन अधिकारों की जानकारियां नहीं होने से महिलाएं अनेक लाभों से वंचित रह जाती हैं। अधिकारों के साथ ही अपने कर्तव्यों की भी जानकारी करवाई जानी आवश्यक है। उन्हें समाज में पुरुषों के साथ मिलकर ही कार्य करना होता है। समाज में पुरुष और महिला दोनों ही मिलकर परिवाररूपी गाड़ी को चलाते हैं। समाज में ऐसी व्यवस्था को विकसित करें जिससे कानूनी, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक अधिकारों व कर्तव्यों की ठीक से जानकारियां हो सकें। विचार-विमर्श, सभा, सम्मेलनों व साहित्य के माध्यम से इन जानकारियों को निरन्तर बढ़ाने के प्रति जागरूक रहना जरूरी है जो केवल शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है।

सन्दर्भ सूची

1. मालती सारस्वत, भारतीय शिक्षा का विकास एवं समस्याएं, कैलाश प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, संस्करण 2000।
2. पी.डी. पाठक, ‘भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं’, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संस्करण 2006।
3. गर्ग, वी.पी. (दिसम्बर-2008), ‘भारतीय शिक्षा पद्धति : कुछ मुद्दे’, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
4. अग्रवाल, उमेशचन्द्र (सितम्बर-2008), ‘भारतीय आधुनिक शिक्षा के बदलते आयाम’, कुरुक्षेत्र, प्रकाशन विभाग, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली।
5. शुभ किरण (30 अक्टूबर, 2008), ‘मौजूदा शिक्षा व्यवस्था कितनी सही’, विचार सारांश, फोर्थ डाइमेंशन मीडिया प्रा. लि., जनकपुरी, नई दिल्ली।
6. बंधु, विनोद (17 मार्च, 2009), शिक्षा की 22 प्रणाली, फिर भी अशिक्षा’ आउटलुक, साप्ताहिक, सफदरगंज, नई दिल्ली।

—कोमल सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग,
भदावर विद्या मंदिर (पी.जी.) कॉलेज, बाह, आगरा

शिक्षक की अपने विषय के प्रति जागरूकता एवं कक्षा अध्यापन में सम्प्रेषण तकनीकी की भूमिका

—डॉ. आशीष कुमार

छात्रों के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने के लिए शिक्षक को दिन-प्रतिदिन अपनी अध्यापन प्रक्रिया को विशिष्टता प्रदान करने की आवश्यकता पड़ती है। किसी भी विषय के परम्परागत स्वरूप में आधुनिक परिस्थिति के अनुसार हो रहे बदलावों को स्वीकार करना, उन्हें लागू करना तथा नये आयामों को शामिल करना आदि की विषय सजगता माना जाता है। विषय सजगता किसी विषय के प्रति उसकी नवीनता, सरलता एवं व्यावहारिकता को व्यक्त करती है। विषय के प्रति जानकारी के फलस्वरूप ही हम विषय सजगता के स्तर पर पहुँचते हैं। उदाहरण के तौर पर, यदि कोई व्यक्ति कम्प्यूटर के बारे में जानकारी रखता है, उसके अनुप्रयोग के बारे में उसको पता है परन्तु वह कम्प्यूटर का अनुप्रयोग स्वयं नहीं करता है तो उसका यह व्यवहार प्रकट करता है कि वह कम्प्यूटर के बारे में केवल जानकारी रखता है और उसका यह ज्ञान केवल जानकारी के स्तर तक ही सीमित हो जाता है, उसको हम कम्प्यूटर के प्रति सजगता के स्तर की संज्ञा नहीं दे सकते हैं। दूसरी तरफ यदि व्यक्ति कम्प्यूटर के अनुप्रयोग का लाभ किसी दूसरे व्यक्ति के माध्यम से लेता है तो उसका यह ज्ञान केवल जागरूकता स्तर तक सीमित हो जायेगा। इसके विपरीत यदि व्यक्ति कम्प्यूटर के विभिन्न अनुप्रयोगों के माध्यम से अपने शैक्षिक एवं व्यक्तिगत जीवन में नवीनता लाकर उसका लाभ उठाता है तो वह उसकी कम्प्यूटर सजगता मानी जायेगी। अपने विषय के प्रति जागरूकता वर्तमान समय में शिक्षकों के लिए एक आवश्यक अंग बन चुकी है। अध्यापन की समस्त प्रक्रिया शिक्षक के मूलभूत कौशल एवं प्रवीणता से सम्पादित होती है। उत्तम कोटि के शिक्षण हेतु शिक्षक को अध्यापन के मूलभूत सिद्धांतों के कौशलों से परिचित होना चाहिए। इसके साथ ही शिक्षक को अपने विषय के बारे में गहन जानकारी होनी चाहिए। विषय में हो रहे नित नवीन बदलावों एवं खोजों का ज्ञान शिक्षक को होना चाहिए तभी शिक्षण को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। इसलिए शिक्षण के मूलभूत कौशल को शिक्षक के लिए अनिवार्य आवश्यकता माना गया है। शिक्षण प्रक्रिया को कौशलों के समूह के रूप में देखने का प्रयास सबसे पहले स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय अमेरिका के शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत किया गया। सूक्ष्म शिक्षण की आधारशिला शिक्षण

प्रक्रिया को विभिन्न कौशल घटकों पर आधारित मानने और अलग-अलग कौशल अभ्यास करने की क्षमता पर आधारित है। शिक्षण प्रक्रिया के समय शिक्षक द्वारा विभिन्न व्यवहारों का सम्पादन होता है। एक शिक्षण कौशल क्रियाओं या समान व्यवहारों का समूह हैं जो बालकों को सीखने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सुविधा प्रदान करता है। विषय सजगता शिक्षण कौशल को प्रभावित करती है। शिक्षक अपने विषय के प्रति जितना सजग होगा उसका शिक्षण उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा। विषयगत शिक्षण कौशल संरचना या विचार से आशय है कि अपने विषय एवं शिक्षण में विशेषज्ञ होना। यदि कोई शिक्षक शिक्षण के मूलभूत कौशल से परिचित नहीं है तो बालकों को उचित मार्गदर्शन नहीं प्रदान कर पायेगा और न ही उनमें इच्छानुसार परिवर्तन लाने में सफल हो पायेगा। शिक्षण प्रक्रिया के समय शिक्षक द्वारा अनेक व्यवहारों का सम्पादन होता है। इस तरह के व्यवहारों को शिक्षण कौशल कहा जाता है। शिक्षण प्रक्रिया शिक्षण कौशलों का ऐसा समूह है जो परस्पर समन्वित होते रहते हैं। एक उचित शिक्षण प्रक्रिया का प्रारूप तैयार करने के लिए प्रत्येक औसत मानकों के अनुसार दक्षता प्राप्त करके व सभी कौशलों को पुनः नियोजित करके किया जाता है। विषय सजगता के परिणामस्वरूप ही शिक्षण कौशल प्रक्रिया सही संचालित हो पाती है। सूक्ष्म शिक्षण का आधार शिक्षण प्रक्रिया को अनेक कौशल पर आधारित मानकर चला जाता है। एक उत्तम शिक्षण कौशल शिक्षण क्रियाओं या समान व्यवहारों का समूह होता है। जो बालकों को सीखने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान करता है। शिक्षण कौशल शिक्षण की प्रक्रिया को अत्यधिक सक्रिय बना देता है। जिसका प्रतिफल अत्यंत सकारात्मक निकलता है और बालकों को अभिप्रेरित करता है। अभिप्रेरित होने से बालक अत्यंत उत्सुकता से शिक्षण प्रक्रिया में अपनी सहभागिता प्रकट करते हैं। शिक्षण के मूलभूत कौशल शिक्षक को निपुणता प्रदान करते हैं। अपने ज्ञान का समुचित प्रयोग हमें विषय सजगता वृद्धि में सहायता प्रदान करता है। अपने ज्ञान को तकनीकी के माध्यम से विषय की विभिन्न प्रक्रियाओं में प्रयोग करते हैं जो हमें शिक्षण के साथ-साथ हमारी तकनीकी दक्षता तथा विषय सजगता में सहायक होती है।

विषय के प्रति जागरूकता शिक्षक को उसकी कुशलता एवं योग्यता को बढ़ाने में सहायक होती है, शिक्षक कक्षा में अध्यापन करते समय विषय के प्रति जागरूकता के माध्यम से अपने नवीन एवं शोधप्रक्रियाओं को प्रस्तुत करता है। अध्यापन एक अद्भुत कला है क्योंकि इसमें सीखने वाले

को विभिन्न प्रकार की विषय-सामग्री का ज्ञान देने के साथ-साथ उसके व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाना एवं विविध क्षेत्रों में उसका समुचित विकास करना भी होता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सीखने वाले पर शिक्षक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से पड़ता है। अतः अच्छे शिक्षक को दक्षता आधारित शिक्षण प्रदान करने के लिए विभिन्न दक्षताओं एवं कौशलों का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। शिक्षण एक जटिल प्रक्रिया है तथा इसमें कई कौशलों का समावेश होता है, अतः उसे सभी कौशलों का अच्छा ज्ञान होना अनिवार्य है। शिक्षक को सूक्ष्म शिक्षण ज्ञान के साथ-साथ उसका क्रमवार प्रयोग कर शिक्षण में दक्षता लाने का प्रयास भी करना चाहिए। यूँ तो शिक्षण दक्षता के लिए अनेकों विधियाँ हैं, तथापि अभिरूपण, भूमिका निर्वाह, श्यामपट-लेखन, व्याख्या, प्रश्न, अनुशीलन तथा उद्दीपन कौशलों की अपनी विशेष भूमिका होती है। इसके साथ कम्प्यूटर, इंटरनेट के माध्यम से विभिन्न दृश्य-श्रव्य तकनीकि का प्रयोग कर शिक्षण कला को और अधिक रोचक एवं गुणवत्ता प्रदान की जा सकती है।

शिक्षण प्रशिक्षण का उद्देश्य समाज के लिए योग्य एवं दक्ष शिक्षक प्रदान करना है ताकि वे भली प्रकार से शिक्षण करा सके। दक्ष शिक्षक से तात्पर्य है शिक्षण की बारीकियों से परिचित शिक्षक। जिस प्रकार एक इंजीनियर अपने कार्य से सम्बन्धित सभी कार्यों में दक्ष होता है, ठीक उसी प्रकार एक डॉक्टर भी अपने कार्य में निपुण होता है। इसी प्रकार यदि शिक्षक को योग्य एवं शिक्षण कला में निपुण करना है तो उसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। शिक्षण निपुणता अथवा शिक्षण कौशल विकास की प्रक्रिया अध्यापकों के प्रशिक्षण शुरू होते ही शुरू होनी चाहिए ताकि उनमें कौशलों को पहचानने एवं प्रयोग की क्षमता विकसित हो सके। यदि हम किसी कार्य के दक्षता के साथ करना चाहते हैं तो इसके लिए आवश्यक है कि उस कार्य से सम्बन्धित कौशलों को सीखें। अकुशल शिक्षक अप्रशिक्षित शिल्पी के समान हैं जो भवन निर्माण की सामग्री से तो परिचित होता है लेकिन भवन निर्माण की कला को नहीं जानता, वह केवल सामग्री को प्रशिक्षित शिल्पी तक ही पहुँचा सकता है। इसी प्रकार अकुशल शिक्षक भी शिक्षण सहायक सामग्री, शिक्षण विधि आदि सभी को तो जानता है लेकिन उसके उपयुक्त प्रयोग आदि नहीं जानता। ऐसा शिक्षक प्रभावी शिक्षण नहीं करा सकता। कुछ शिक्षाशास्त्रियों का मानना है कि अप्रशिक्षित शिक्षक अथवा अकुशल शिक्षक उस कैप्टेन के समान है, जिसे जहाज चलाने के तौर तरीकों का पता ही नहीं। अतः

अकुशल शिक्षक अपनी जिम्मेदारी को नहीं समझ सकता। इसलिए शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान छात्राध्यापकों को विभिन्न शिक्षण कौशलों का प्रशिक्षण सूक्ष्म शिक्षणाभ्यास के द्वारा प्रदान किया जाता है। कुछ लोगों का मानना है कि शिक्षण कौशलों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, इनका प्रशिक्षण देना व्यर्थ है, समय की बर्बादी है, प्रभावी शिक्षण हेतु मात्र विषयवस्तु की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि अकुशल शिक्षक विषयवस्तु का प्रभावी सम्प्रेषण किस प्रकार करेंगे? विषयवस्तु को छात्रों के मानसिक स्तर का किस प्रकार बनायेंगे। प्रभावी शिक्षण हेतु अथवा विलष्ट विषयवस्तु को स्पष्ट करने हेतु शिक्षण सहायक सामग्री का प्रदर्शन अथवा प्रयोग कैसे करेंगे आदि। एक कुशल शिल्पी की भाँति शिक्षक को अपने कार्यों की बारीकियों का सम्पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।

कक्षा शिक्षण में आज शिक्षक द्वारा विभिन्न प्रकार की तकनीकी विधियों द्वारा शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को संचालित किया जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप गुणात्मक परिणाम हमें देखने को मिल रहे हैं। विषय सजगता के विकास के लिए आज तकनीकी उपकरणों, विधियों-प्रविधियों का अनुप्रयोग किया जा रहा है। जिससे विभिन्न विषयों में हो रहे शोधों एवं नवीन आयामों की जानकारी प्राप्त की जा रही है। वर्तमान परिदृश्य में शिक्षण अब एक दक्ष व्यावसायिक प्रक्रिया के रूप में उभर रहा है। बहुत समय से शिक्षण के क्षेत्र में अधिगम के सिद्धांतों का बोलबाला रहा है। जब ये सिद्धांत शिक्षण प्रक्रिया के माध्यम से विद्यार्थियों में वांछित परिवर्तन करने में असमर्थ पाये गये तो शिक्षक अधिगम सिद्धांतों के स्थान पर शिक्षक की कुशलता, दक्षता एवं शिक्षण सिद्धांतों पर जोर देने लगे। एक कुशल शिक्षक का यह दायित्व होता है कि वह शिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षण के नियम, शिक्षण के सामान्य तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों एवं शिक्षण सूत्रों का भली-भाँति आवश्यकतानुसार प्रयोग करें। शिक्षक अपने इन्हीं शिक्षण सिद्धांतों एवं शिक्षण कौशलों का अनुसरण कर अपने शिक्षण को प्रभावशाली बनाता है। शिक्षण कौशलों के माध्यम से वह छात्रों के व्यवहार में परिवर्तन लाने का कार्य करता है, शिक्षण एक सामाजिक प्रक्रिया है, अतः शिक्षक को समाज की घटनाओं एवं परिस्थितियों पर विशेष ध्यान देना होता है तभी वह छात्रों को आधुनिक एवं समसामयिक

चीजों के बारे में ज्ञान प्रदान कर सकता है। सूचना सम्प्रेषण तकनीकी के द्वारा आज विभिन्न क्षेत्रों में सृजनात्मक कार्य किये जा रहे हैं। इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में सूचना तकनीकी का बहुतायत प्रयोग किया जा रहा है। आदिकालीन शिक्षा व्यवस्था में जहाँ मौखिक रूप से ज्ञान का हस्तांतरण किया जाता था वही आज तकनीकी उपकरणों के माध्यम से ज्ञान का हस्तांतरण एवं प्रसार किया जा रहा है। शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में भी इसका प्रयोग अछूता नहीं है। बेहद कम समय में ही आज तकनीकी के माध्यम से विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव हो रही है। विषय सजगता वृद्धि में आज सूचना प्रौद्योगिकी मुख्य भूमिका निभा रही है। कम्प्यूटर एवं इंटरनेट के माध्यम से आज अधिगम प्रक्रिया काफी सरल हो गई है। जिसके माध्यम से दूरस्थ शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला है। विषय सजगता वृद्धि से आज घर बैठे वीडियोकान्फ्रेसिंग के माध्यम से दूर-दराज के क्षेत्रों तक अधिगम प्रक्रिया को संचालित किया जा रहा है।

संदर्भ सूची

1. कौल, लोकेश (2006), शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली, नई दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि.
2. पाण्डेय, के. पी. (2009), नवीन शिक्षा मनोविज्ञान, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृ. 312-16
3. पाठक, पी. डी. (2004), शिक्षा मनोविज्ञान, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर
4. दूरेन, रोसजीनेल्सन (2006), विद्यार्थियों की सीखने की प्रक्रिया पर इंटरनेट पर आधारित अनुदेशन के प्रभावों का अध्ययन, डिजरटेशन अब्सट्रैक्ट इंटरनेशनल, वैल्यूम, 48 नं. 10, जनवरी 2006
5. भदौरिया, अरुणा तथा अनामिका शुक्ला (2012), माध्यमिक शिक्षा और अध्यापक कार्य, आगरा, राष्ट्रीय प्रकाशन, पृ. 14-17
6. भटनागर, ए. बी. मीनाक्षी तथा अनुराग (2010), अधिगमकर्ता का विकास एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया, मेरठ, आर. लाल बुक डिपो, पृ. 238-50
7. भटनागर, सुरेश तथा अनामिका सक्सेना (2006), मॉर्डन इंडियन एज्यूकेशन एण्ड इंटर्स प्रालम, मेरठ, आर. लाल बुक डिपो।

—डॉ. आशीष कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा शास्त्र विभाग,
भदावर विद्या मंदिर (पी.जी.) कॉलेज, बाह, आगरा

भारतीय वाङ्मय में निहित मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में पर्यावरण संरक्षण

—मनीषा मिश्रा

मानव, पर्यावरण और उनके जीवों का परस्पर एक दूसरे के साथ सदैव से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है किन्तु मानव अपनी अतिमानवीय महत्वाकांक्षा, मानवीय प्रतिस्पर्धा, अतिभोगी प्रवृत्ति के कारण प्रकृति और पर्यावरण के समक्ष अनेक पर्यावरणीय विषम संकट उत्पन्न करता चला जा रहा है और इस अतिवादी प्रवृत्ति के कारण वर्तमान समय में पर्यावरण में व्याप्त अनेक जीव वनस्पतियों के अस्तित्व पर संकट खड़ा हो गया है। यदि परिस्थिति ऐसी ही बनी रही तब वह दिन दूर नहीं जहाँ मानव अपने नैतिक मूल्यों को भूलता जायेगा जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण पृथ्वी के साथ स्वयं मानव भी अपने आस-पास प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त हराभरा प्राकृतिक पर्यावरण और उनमें व्याप्त जीवों के अस्तित्व के लिए एक व्यापक संकट उत्पन्न कर देगा जिसका परिणाम यह होगा कि प्राकृतिक सौंदर्य अपने आप नष्ट हो जायेंगे जो मानव और प्रकृति दोनों के लिए अहितकर है। यदि मानव को अपना अस्तित्व अपना भविष्य सुरक्षित रखना है साथ ही स्वस्थ जीवन की सम्भावना को सुनिश्चित करना है तो इसके लिए सर्वप्रथम मनुष्य को कृतज्ञभाव के साथ पर्यावरण और उनके जीवों के अस्तित्व की महत्ता को समझना होगा साथ ही उनके संरक्षण, सम्बर्द्धन उनके पालन-पोषण जैसे नैतिक दायित्वों का निर्वहन भी करना होगा जिससे स्वयं का भविष्य भी सुरक्षित हो सकें। वर्तमान संकुचित मानवीय दृष्टिकोण के कारण पर्यावरण सम्बन्धी अनेक पर्यावरणीय समस्यायें अपने जटिल रूप में विकसित हुई है, जैसे- वैशिक जलवायु परिवर्तन अपने आप में एक जटिल समस्या है जल और वायु प्रदूषण, प्राकृतिक संसाधनों का हास, जैव विविधता का हास, परिस्थितिकी तंत्र का विनाश अनेक पर्यावरणीय समस्यायें पर्यावरणीय नैतिक मानवीय मूल्यों का एक अहम अंग है। स्थानीय और वैशिक स्तर पर जो भी पर्यावरणीय समस्यायें व्याप्त हैं। इस समस्या ने प्राकृतिक जीवों के अस्तित्व पर नहीं बल्कि स्वयं मानव के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है। इन समस्याओं का एक मात्र निवारण स्वयं मानव है उसका अपना स्वयं का नैतिक दृष्टिकोण और यह नैतिक दृष्टिकोण ही उसे पर्यावरण के प्रति अनुशासन प्रिय होना अपने भीतर कठोर नैतिक मानवीय मूल्यों को जीवन्त करना सिखाता है और यही दृष्टिकोण समस्त पर्यावरणीय समस्याओं

के निवारण का एकमात्र विकल्प है। इन नैतिक मानवीय मूल्यों का वर्णन प्रायः प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्राप्त होता है। जिसमें प्रकृति और उसके समस्त जीवों को देवतुल्य बताया गया है, तब मानव का एक मात्र कर्तव्य नीतिपरक नियम, शुद्धचरण परोपकार, सत्याचरण, समत्व मैत्रीभाव, सत्संगति, ज्ञान, विवेक जैसे नैतिक मूल्यों के पालन के साथ समस्त प्राकृतिक जीवों के प्रति प्रेम भाव के साथ जीवन व्यतीत करना जहाँ प्रकृति और उसके जीव के साथ मानव के अपने नैतिक मूल्य भी होते हैं जहाँ पर्यावरण नैतिकता की बात मानवीय मूल्यों के संदर्भ में होती है और यह परिवर्तन अपने आप में एक जटिल समस्या है। मानवीय मूल्यों के संदर्भ में पर्यावरण और मानव के बीच एक वार्तालाप होता जहाँ मानव का मानव होना अपने आप में एक दार्शनिक दृष्टिकोण विकसित करता है। भारतीय साहित्य में सबसे प्राचीन और प्रथम स्थान वेद का है, और वेदों में प्रकृति को ब्रह्म कहाँ गया है। सर्वमावृत्य तिष्ठति ‘‘विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्’’/ स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यछिद्रदशाङ्गुलम् ॥¹

वस्तुतः यह समस्त जगत् ही ब्रह्म है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है सर्व खलिदं ब्रह्म। वही परमात्मा सृष्टि का रक्षक तथा प्राणीमात्र जीव आधार स्वरूप नाभि है। वह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम विश्व का नियामक है अर्थात् ब्रह्म वह परम तत्व जिसने इस सृष्टि की रचना की है और सृष्टि रचना में उसकी सर्वोत्तम कृति मानव है जो मानवीय गुणों से संयुक्त है उसमें प्रेम, करुणा, दया, त्याग, सहदयता, प्रविवर्द्धिता, सल्कार, सहयोग, परोपकार धर्म जैसे अनेक मानवीय गुण होते हैं ये मानवीय गुण अपने आप में नैतिक मूल्य कहलाते हैं। प्रकृति विभिन्न प्रकार के साधन और संसाधनों से सम्पन्न है। जहाँ मानव की समस्त आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आप सहज हो जाती है। यथा जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी अनेक खनिज पदार्थ वन, उपवन, वाटिकायें जो अपने आप में प्रकृति का एक अभिन्न अंग हैं और यही प्राकृतिक तत्व अपने सम्मिलित व्यवस्था के रूप में पर्यावरण की रचना करते हैं। स्वच्छ और स्वस्थ पर्यावरण मानव के मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक पक्ष के साथ ही उसके वैयक्तिक पक्ष को भी प्रभावित करते हैं और इनके प्रभाव के परिणामस्वरूप मानव का स्वभाव सकारात्मक, सात्त्विक सौहार्दपूर्ण निष्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। प्रारम्भ में मानव का स्वभाव सौहार्दपूर्ण था जिस कारण प्रकृति के साथ वह सन्तुलन बनाकर चलता था क्योंकि प्रकृति के पास असीमित प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध थे और आज भी है परन्तु प्रारम्भ में मानव की आवश्यकताएं

सीमित थी और इन आवश्यकताओं की पूर्ति मानव प्रकृति से सहज प्राप्त कर लेता था। परिणाम स्वरूप परिस्थिति में परिवर्तन होता चला गया और मानव ने अपने बुद्धि चिंतन और विज्ञान के आधार पर प्रगति की और मानव की महत्वाकांक्षा जो प्रारम्भ में सीमित थी परन्तु वर्तमान अतिमहत्वाकांक्षी प्रवृत्ति के कारण वह प्रकृति का अत्याधिक दोहन करना आरम्भ कर दिया वैज्ञानिक युग में अनेक आधुनिक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और इस परिवर्तन का परिणाम यह परिलक्षित हुआ कि हमारा पर्यावरण इस परिवर्तन से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। इस संदर्भ में भारतीय महर्षि के वाक्य उनका सम्पूर्ण ज्ञान भण्डार वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टि के कल्यार्थ के लिया है जहाँ वह मानव के प्रत्येक कर्तव्य और उसके द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कर्म को धर्म से सम्बन्धित करते हुए धर्म आधारित आचरण और मानवीय नैतिक कर्तव्य को अत्याधिक महत्व दिया क्योंकि मानव सभ्यता का विकास समाज में होता है और समाज का एक बड़ा वर्ग धर्म पर आत्मविश्वास के साथ पूर्ण श्रद्धा रखते हुए अपने समस्त कार्यों को अत्यधिक चिंतन मनन के साथ सम्पादित करता है जहाँ मानव जीवन में धर्म अपनी उत्कृष्ट भूमिका में परिलक्षित होता है और इस संदर्भ में मनुस्मृति जैसे धर्मग्रन्थों में मानव के प्रत्येक कार्य के लिए एक सामान्य धर्म बताए गये हैं, जिनके अनुरूप आचरण और उनका पालन करने से मानव का अन्तःकरण उसका हृदय पटल अत्यन्त ही शुद्ध सात्त्विक होता है जिससे मानव के भीतर सर्वकल्याण की भावना उत्पन्न होती और इसके साथ वह अपना सम्यक विकास करते हुए जीवन पथ पर अग्रसर होता है। ऐसा ही एक प्रसंग हमें मनुस्मृति में प्राप्त होता है। मनुस्मृति के अनुसार—धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिद्विय निग्रहः/धीर्विधा सत्यमक्रोधे दशकं धर्मलक्षणम् ॥²

इस श्लोक का आशय यह है कि सन्तोष, दया, क्षमा, दम, अस्तेय, अशौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य एवं अक्रोध जैसे दस मानव धर्म का आचरण मनुष्य को सदैव ही करना चाहिए क्योंकि इसी में सृष्टि का अपना सर्वविध कल्याण निहित है। मनुस्मृति जैसे अनेक वैदिक धार्मिक ग्रंथ में वर्णित प्रत्येक श्लोक उनकी ऋचायें पर्यावरण संरक्षण उनके सम्बद्धन के लिए वृक्ष, वनस्पति, नदी, पहाड़, सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह नक्षत्र, तारों को देवतुल्य मानकर उनकी पूजा स्तुति से सम्बन्धित उनके विधि विधान और नियम बताये गये हैं। इस प्रकार वृक्ष, वन और उपवन सबको महत्वपूर्ण मानते हुए पौराणिक भारतीय ऋषियों ने वृक्षारोपण को सुख-समृद्धि का प्रतिक माना और मनुष्यों को वृक्षारोपण

के लिए प्रोत्साहित करते हैं जहाँ मानव जीवन एक स्वर्णिम जीवन काल में निवास करता है और इस श्रेष्ठ जीवन काल में मनुष्य को वृक्षों, वनस्पतियों, वनस्पति का दान-पुण्य करना उसका परम नैतिक कर्तव्य बन जाता है। ऐसा एक प्रसंग वाराहपुराण में प्राप्त होता है जहाँ वृक्षदान को विशिष्ट दान मानते हुए कहाँ गया है कि संसार कि समस्त वस्तुओं के दान से भी ज्यादा पुण्य फल वृक्षदान से प्राप्त होता है, भूदान और गोदान से भी उत्कृष्ट दान वृक्षदान है। भूमिदानेन ये लोका गोदानेन च कीर्तिः/ते लोकाः प्राप्यन्ति पुरुषे पाददानां प्ररोहणे¹³ वृक्षों में पूज्यनीय और औषधि गुणों से सम्पन्न तुलसी वृक्ष का एक प्रसंग वृहदपुराण में स्वयं भगवान् श्रीहरि विष्णु के मुख से तुलसी वृक्ष की अति महत्वपूर्णता का बखान प्राप्त होता है, जहाँ तुलसी वृक्ष के संकीर्तन के साथ इनकी दैनिक पूजन में अनिवार्यता को स्पष्ट किया गया है—एकतः सर्वनैवेद्यं नाना पुष्पविभूषणम्/एकतः पत्रमेकं ते द्वादशाक्षरमन्त्रवत्¹⁴

अर्थात्, विविध प्रकार के पुष्प से विभूषित समस्त नैवेद्य एक तरफ और तुलसी का एक पत्र दोनों ही एक कोटि के साथ महत्व रखते हैं अतः तुलसी के एक पत्र में समस्त नैवेद्य समाहित है। प्राचीन वैदिक ऋषि पर्यावरण के शुद्धिकरण और जीवों के कल्याणार्थ हेतु यज्ञ कर्म को दैनिक कर्तव्य के रूप में आवश्यक माना है जहाँ नित्य हवन पूजन द्वारा मानव अपने आस-पास के वातावरण की शुद्धि हेतु प्रयत्न करता है क्योंकि यज्ञ की आहुति के लिए प्रयोग की जाने वाली सामग्री में अनेक प्रकार की औषधि, समिधाएः, मिष्ठ, कस्तुरी, सुगन्धित पुष्प और पदार्थों का मिश्रण होता है और इन पदार्थों का मिश्रण मानव के आस-पास के वातावरण को शुद्ध करते हुए भूमि, जल, वायु आदि में व्याप्त समस्त व्याधियों को भी नष्ट कर देता है।

इस प्रकार यज्ञ करना कराना मानव का मानव होने के कारण परम नैतिक कर्तव्य बन जाता है जहाँ प्रकृति के साथ सम्पूर्ण पर्यावरण का शुद्धिकरण स्वतः हो जाता है। जहाँ धरती को माता और आकाश को पिता कहा गया है। माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या/अप्रसन्नो विनाशाय प्रसन्नः सर्वसिद्धये¹⁵ अर्थात्, पृथ्वी हमारी माता और आकाश पिता तुल्य है। जिनके प्रति श्रद्धा, सेवाभाव से परिपूर्ण व्यवहार करने की आज्ञा हमें प्राप्त होती है। मनुष्य अपने कल्याणार्थ हेतु सर्वसिद्धि प्राप्ति के लिए इन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि इनकी प्रसन्नता ही समस्त कार्यों की सिद्धि है और इनकी अप्रसन्नता का एक मात्र कारण विनाश है। विनाश का यह विकराल स्वरूप मानव के साथ सम्पूर्ण पर्यावरण के लिए अति कष्टदायी स्थिति

है। अतः मनुष्य को प्रकृति के प्रति आदर-सम्मान, श्रद्धापूर्वक समर्पण भाव के साथ इनकी प्रसन्नता हेतु इनके प्रति सेवाभाव को अपनाकर इनका उपभोग करना समस्त पर्यावरणीय समास्याओं का एक मात्र समाधान है। इसी प्रकार त्यागपूर्ण उपभोग की बात ईशावास्पोपनिषद् के एक श्लोक में प्राप्त होता है—ईशावास्पनिदं सर्व यत्किंचित् जगत्यां जगत्/तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृथः कस्यस्यिद्धनम्¹⁶ अर्थात्, जगत् में जो कुछ भी स्थावर जंगमात्मक है उन सबमें परमात्मा विद्यमान है इन सभी के प्रतिमानव को त्याग-भाग के साथ प्रेमपूर्ण भाव रखना चाहिए। प्रकृति के प्रति हित लाभ की इच्छा न करते हुए त्याग भाव के साथ आदर सहित उनका उपभोग करना मानव का एक मात्र परम कर्तव्य है जो समस्त पर्यावरणीय संकट का एकमात्र निवारण है प्रकृति के प्रति सचेतन मन के साथ नैतिक उपभोग की प्रवृत्ति को जागृति करना मानव एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए है क्योंकि मानव का अस्तित्व और उसके जीवन के मूल में पर्यावरण है और यही उसका आधार की है क्योंकि बिना आधार के मानव का कोई अस्तित्व नहीं तब मानव के लिए अत्यन्त ही आवश्यक हो जाता कि वह प्रकृति पर्यावरण और प्राकृतिक जीवों के साथ समष्टि मानव समाज के कल्यार्थ हेतु उनके साथ मित्रवत्व व्यवहार करे ऐसे ही नैतिक आचरण के संदर्भ में यजुर्वेद ने चर-अचर सभी जीवों के प्रति मानव का दृष्टिकोण कैसे होने चाहिए? इस पर एक विशेष प्रसंग प्राप्त होता है जहाँ मानव का दृष्टिकोण जीवों के प्रति मित्रवत होने की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है। मित्रस्याहंचक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षाम है¹⁷ अर्थात्, पर्यावरण और उनमें व्याप्त समस्त प्राकृतिक जीवों के प्रति जब मानव मैत्रीपूर्ण भाव रखेगा तब इस भाव के साथ ही समस्त पर्यावरण अपने आप स्वस्थ सुरक्षित होने लगेगा और अपनी पूर्वत समृद्धि स्थिति को प्राप्त कर लेगा, जो उसका वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार मानव का एक मात्र कर्तव्य यह है कि वह अपने आस-पास के प्राकृतिक संसाधन और प्राकृतिक वस्तुओं का उपभोग स्वयं का एक मित्र समझकर करे और समस्त प्राकृतिक जीवों के प्रति श्रद्धा भाव अपने मन में स्फूटित करें।

मानव जीवन में नैतिक मूल्यों का अपना विशिष्ट स्थान है। इन मूल्यों के रूप में मनुष्य में उदारता, करुणा, मैत्री ईमानदारी, स्नेह, कृतज्ञता, प्रेम, सहयोग और सहानुभूति का भाव होना अत्यन्त ही आवश्यक है। प्रकृति स्वयं अपने संसाधनों का उपभोग नहीं करती बल्कि वह मानव जाति के कल्यार्थ के लिए सदैव अपने असीमित प्राकृतिक भण्डार

सहज उसके समक्ष उपलब्ध कराती जहाँ प्रकृति और उसमें पनपने वाले जीव, जन्मु, वनस्पतियाँ स्वयं मानव पर आश्रित हैं इस प्राकृतिक मैत्री भाव को उसे समझना होगा प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति मानव का यह परम कर्तव्य होता कि वह पर्यावरण उनके जीवों के प्रति कृतज्ञता, आदर भाव, सौहार्दपूर्ण संतुष्टि भाव के साथ इसके उपभोग की प्रवृत्ति को अपनाना जिससे प्राकृतिक संतुलन अपने आप स्थिर हो जायेगा और हर परिस्थिति में उसका संरक्षण होता रहेगा इस भाव के साथ मानव को अपने जीवन यापन के पथ पर अग्रसर होना चाहिए और यही भाव पर्यावरण संतुलन का आधार है। वेद, वेदांग और उपनिषद् से प्रकृति को देवतुल्य मानकर उनमें चेतना की स्थिति को स्पष्ट किया गया कि प्रकृति अपने चेतन स्थिति में सदैव से विद्यमान रही है, जहाँ जीवित चेतन स्थिति के रूप में प्रकृति और उनमें निवास करने वाले जीव-जन्मु भी सुख-दुःख के भाव से अभिभूत होते हैं और इस पूरित एवं संवर्द्धित अवस्था में प्रकृति सदैव अपने सकारात्मक भाव में होती इस अवस्था में वह स्वयं मानव की सहायता करने के लिए उन्मुख होती परन्तु अपने अनादृत स्थिति में वह सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति प्रतिकूल फल देना प्रारम्भ कर देती है। इस प्रतिकूल परिस्थिति का निवारण स्वयं मानव है। जहाँ वह प्रकृति के प्रति अनुग्रह भाव के साथ उसके समक्ष प्रस्तुत होता है। साथ ही अपनी अज्ञेय अभिलाषा पर अंकुश लगाते हुए प्रकृति को सचेत आत्म चैतन्ययुक्त समझकर उसके साथ प्रेमवत् व्यवहार करता है। भारतीय संस्कृति प्राचीन समय से अपने सम्बृद्धि अवस्था में विद्यमान रही है। जो सम्पूर्ण मानव कल्यार्थ के लिए समाज में प्रेम एवं अनुराग के अनुष्ठान का संदेश देती है ऐसी स्थिति में अहिंसा प्रतिरोध की अवस्था में भी मानव समाज में सहयोग के साथ मैत्री भावना का विकास करती अतः मानव जो समाज का एक आवश्यक और अनिवार्य अंग है। सुखार्थः सर्वभूतानां मताः सर्वः प्रवृत्तयः/सुखं च न बिना धर्मात्माभ्यर्मपशो भवेत् ॥⁸

अर्थात् जो सम्पूर्ण जीव जगत को ग्रहण करता हो जिसके बिना विश्व की संभूति कल्पनाशील न हो जिससे सब कुछ सुव्यवस्थित, सुनियोजित, सुसंचालित हो वही धर्म है और यह मनोवृत्ति केवल मानव में निहित है, क्योंकि मानव विवेकवान है उसमें धर्म को धारण की इच्छा शक्ति होती और यही धर्म मानवीय मूल्य के रूप में उपस्थिति है। अतः मानव सभ्यता का विकास उसका पतन मानव के अपने चिंतन पर निर्भर करता है चिंतन की संसुति जिस दिशा में होगी विकास की दिशा भी वही होगी। यह सर्वविदित है कि वर्तमान परिस्थितियाँ जो परिलक्षित हो रही हैं उस

आधार पर यह निष्कर्ष स्पष्ट होता है कि मानव चिंतन उसका ध्यान और विकास करने की जो अखण्ड धारा प्रवाह है वह विनाश की ओर प्रवाहित हो रही है। इन स्थिति में मानव केवल स्व कल्याण की भावना से प्रेरित होकर विगत कई वर्षों से सम्पूर्ण पर्यावरण और प्राकृतिक सौदर्य पर घातक अधिक्रमण करता चला जा रहा है ऐसी अवस्था में पर्यावरण सुरक्षा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रश्न हो जाता है जिसकी सुरक्षा, सम्बर्द्धन और संरक्षण मानवीय मूल्यों से सम्बन्ध है मूल्यगत व्यवहार से मानव अपने अन्दर उत्पन्न होने वाले अवगुण, विषयास्त्रित, स्वार्थ लिप्सा, तृष्णा, माया इत्यादि दुर्गुणों से विमुक्ति होकर पर्यावरण के साथ आनंदित एवं समृद्ध खुशहाल जीवन व्यतीत करता है।⁹ वस्तुतः आधुनिक सभ्यता में पर्यावरण संरक्षण और उसके संतुलन के लिए भारतीय संस्कृति के वाङ्मय में निहित भावों को स्फुटित करना है। जहाँ सभी प्राकृतिक वस्तुओं का एकमात्र कारण ब्रह्म है। जन्मादायस्यत् इसका एक मात्र उद्देश्य पृथ्वी सहित सभी वस्तुओं के बीच संबंध स्थापित करना प्रकृति के प्रति परस्परा निर्भरता को दर्शाना जहाँ प्रत्येक वस्तु सहोदर बंधुत्व के साथ है क्योंकि इनकी उत्पत्ति का आदि कारण ब्रह्म है।¹⁰ इस प्रकार पर्यावरण संरक्षण मात्र सैद्धांतिक विचार नहीं जिसकी केवल वैचारिक अभिव्यक्ति मात्र समाधान हो बल्कि व्यवहारिक रूप से इस विचार को धरातल पर उतारकर प्रकृति का संरक्षण करना है और इसके संरक्षण का उद्देश्य स्वस्थ्य, स्वच्छ, सुन्दर पृथ्वी को आगामी पीढ़ियों के हाथों में प्रेमपूर्ण सौंपना है।¹¹

सन्दर्भ सूची

1. श्वेताश्वतरापनिषद् 3/7, 2. मनुस्मृति 6/92
3. वराहपुराण 170/39, 4. वृहदपुराण
5. अथववेद 12/1/26, 6. ईशावास्योपनिषद् 1/1
7. शुक्लयजुर्वेद 36/17
8. सोजीत्रा, डॉ. विजय एस : वैदिक संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण (आधुनिक पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान) पैराडाइज पब्लिशर्स जयपुर, 2011, पृ. 37
9. पाण्डेय, डॉ. ए.के. : भारतीय दर्शन में पर्यावरण चेतना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 2011 पृ. 22
10. सिंह, प्रो. किस्मत कुमार : भारतीय चिन्तन दर्शन और पर्यावरण स्वत्व प्रकाशन पटना, 2021, पृ. 99
11. मिश्र, प्रो. नित्यानंद : नीतिशास्त्र : सिद्धान्त और व्यवहार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2014, पृ. 440

—मनीषा मिश्रा

शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग
दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रेमचंद के उपन्यास ‘रंगभूमि’ में गांधीवाद : एक मूल्यांकन

—डॉ. सपना भूषण
—डॉ. प्रीति विश्वकर्मा

यह सच है कि सत्य के साथ निरंतर प्रयोग करने वाले महात्मा गांधी ने आग्रह किया था कि उनके विचारों को किसी वाद में न बाँधा जाए और हिन्दी के उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने भी कभी यह दावा नहीं किया कि वे गांधीवादी हैं। फिर भी मुहावरे में ‘प्रेमचंद को साहित्य का गांधी और गांधी को राजनीति का प्रेमचंद’ कह सकते हैं। हिन्दी साहित्य के अध्येता इस तथ्य को सहजता से स्वीकार करेंगे कि प्रेमचंद ने जीवन के सभी पहनुआओं को अपनी लेखनी का विषय बनाया है लेकिन वे तत्कालीन भारत के राजनीतिक जीवन की व्यथा को भी अपनी तमाम कहानियों व अधिकांश उपन्यासों की विषय-वस्तु से बाहर नहीं करते हैं और प्रेमाश्रम से लेकर गोदान तक राजनीतिक चेतना की गहरी लकीर खींचते चलते हैं। इस सम्बन्ध में ब्रजभूषण सिंह आदर्श का कहना है कि ‘प्रेमाश्रम हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है जिसमें तत्कालीन जर्मांदारी प्रथा के विरुद्ध लखनपुर के कृषकों के संघर्ष की उज्ज्वल गाथा किसान जीवन के विशाल फलक पर अंकित की गई है।’¹ इस लिहाज से समीक्षक उन्हें हिन्दी साहित्य के प्रथम राजनीतिक उपन्यासकार की उपाधि प्रदान कर सकते हैं। इस राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में एक बात यह भी साफ हो जानी चाहिए कि प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ने के बाद भी वे महात्मा गांधी की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। उनके अनुसार ‘महात्मा गांधी के पदार्पण से हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक अद्भुत स्फूर्ति, सजीवता व व्यवहारिक उद्यमिता का विकास हुआ।’

प्रेमचन्द की लगभग 25 कहानियों में गांधी विचार व दर्शन की साफ झलक दृष्टिगत होती है। लाल फीता, सुहाग की साड़ी, जेल, जुलूस, आखिरी हीरा, इस्तीफा, स्वत्व-रक्षा इत्यादि में गुलामी से मुक्ति तथा आजादी के प्राप्ति के प्रति प्रयास प्रत्यक्षतः परिलक्षित होती है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि व गोदान जैसे उपन्यासों को भी इसी पंक्ति में रखा जा सकता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रेमचन्द और गांधी का क्रमशः भारतीय साहित्यिक व राजनीति में पदार्पण लगभग साथ-साथ ही होता है। महात्मा गांधी 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे किन्तु उनके सफल सत्याग्रह की चर्चा उनके भारत पहुँचने से काफी पहले ही पहुँच चुकी थी विशेषकर ‘हिन्दी स्वराज’ के माध्यम से। चंपारण सत्याग्रह के सफल संचालन के उपरान्त मोहनदास करमचंद गांधी राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रभावशाली नेता के रूप में स्थापित हो चुके थे। इधर

1908 में देश-प्रेम की गूँज से गुफित ‘सोजे-वतन’ पर अंग्रेजों द्वारा प्रतिबंध लगाए जाने से प्रबुद्ध बुद्धिजीवी भारतीयों में धनपत राय उर्फ नवाब राय एक जाना पहचाना नाम बन गया था। सोजे-वतन की उर्दू में लिखित पाँच कहानियों-दुनिया का सबसे अनमोल रतन, शेख मखमूर, यही मेरा वतन, शोक का पुरस्कार और सांसारिक प्रेम से हमीरपुर जिलाधिकारी इतने क्रोधित हुए कि इस किताब को देशद्वाही घोषित करके इसकी सभी प्रतियाँ जब्त कर आग लगा दिया। इसी आग ने उन्हें प्रेमचन्द बनाया और औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज व सभ्यता को समझने के उनकी रचनाएँ आज भी एक विशाल साहित्यिक द्वारा की तरह हैं।

जहाँ तक रंगभूमि का संबंध है इसे प्रेमचन्द के माध्यम से महात्मा गांधी के राजनीतिक दर्शन को समझने के लिए सर्वोक्तृष्ट साहित्यिक प्रलेख के रूप में रेखांकित कर सकते हैं। सभी को विदित है महात्मा गांधी ने जलियांवाला हत्याकाण्ड के उपरान्त असहयोग आंदोलन प्रारम्भ किया था जिसे सम्पूर्ण भारत में व्यापक जनसमर्थन मिला किन्तु चौरा-चौरी की घटना से अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी इतने विचलित हुए थे कि कांग्रेस के मोतीलाल, सी.आर. दास व नेता जी सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेताओं के विरोध के बावजूद उन्होंने फरवरी 1921 में असहयोग आंदोलन स्थगित कर दिया। प्रेमचन्द इस असहयोग आंदोलन से भी बहुत ज्यादा प्रभावित थे और इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने 16 फरवरी 1921 को अपनी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया जो उनकी आजीविका का प्रधान स्रोत थी। इसीलिए असहयोग आंदोलन का प्रभाव उनकी महान रचना रंगभूमि पर भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है जिसका प्रतिनिधित्व प्रधान रूप से सूरदास करता है जो इस उपन्यास का नायक भी है। बनारस के पांडुपुर में स्थित अपनी जमीन को बचाने के लिए सूरदास एक संकल्पबद्ध सत्याग्रही के रूप में सामने आता है जो ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध निहत्या किन्तु दृढ़ता से खड़ा है और व्यक्तिगत लड़ाई लड़ता है। इस लड़ाई में वह तकनीकी दृष्टि से पराजित होता है किन्तु नैतिक दृष्टिकोण से उसे विजय मिलती है जब हथियारबंद पुलिस जनता पर कार्यवाही करने से इंकार कर देती है। यह महात्मा गांधी के उस सिद्धान्त के अनुरूप है जिसमें वे कहते हैं कि अन्यायी सरकार तभी तक कायम रह सकती है जब तक लोग उसका सहयोग करते हैं। सूरदास इस सिद्धान्त को मानता है और सरकार द्वारा जमीन अधिग्रहण के प्रयासों का अंत तक अहिंसक विरोध करता है।

गांधीवाद के अनुरूप है ‘रंगभूमि’ में प्रेमचन्द ने हिंसा की आलोचना और अहिंसा का समर्थन किया है। सूरदास

अपनी जमीन और झोपड़ को बचाने के लिए संघर्ष करता है किन्तु वह किसी भी स्थिति में खून खराबा नहीं होने देना चाहता। गांधी की तरह वह भी साधनों की पवित्रता से ही अपने साध्य को प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए जब अंत में उसका संघर्ष हिंसक होने लगता है तो वह भीड़ को समझाते हुए कहता है कि ‘मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक अंधा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है। तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है। तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धर्म बल से लड़ना चाहता था।’² किन्तु गोरखपुर के चौरा-चौरी की भीड़ की तरह पांडेपुर की जनता भी अनियंत्रित हो जाती है जिसके कारण मिस्टर क्लार्क को गोली चलानी पड़ती है जिसमें सूरदास घायल होता है। वह हिंसा को रोने के लिए ही आगे आता है और आत्मबलिदान के माध्यम से सच्चे सत्याग्रही का चरित्र प्रकट करता है। गांधी ने भी यही कहा है कि ‘असहयोगी के सर्वोच्च स्थिति वह है जब वह हिंसा को रोकने के प्रयास में अपने प्राण दे देता है।’³ रंगभूमि का एक अन्य किरदार, विनय भी हिंसा रोकने के लिए आत्महत्या करता है और सूरदास भी घायल होकर अंततः मर जाते हैं किन्तु मरते-मरते वह यह भी घोषित करता है कि अन्याय के विरुद्ध लड़ाई भी न्याय व धर्म की सहायता से लड़ी जाएगी और इस ताल्कालिक असफलता के बाद भी अंतिम विजय जनता की होगी। उसके ही शब्दों में ‘तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना, तुम मझे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज मारपीट करते हैं, कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस इतना ही फर्क है। लेकिन तालियाँ क्यों बजाते हो यह तो जीतने वालों का धर्म नहीं। तुम्हारा धर्म तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या? मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धांधली तो नहीं की, फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो। हार हारकर तुम ही से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी जरूर होगी।’⁴ 15 अगस्त 1947 को प्रेमचन्द की यह घोषणा सच हो गई। भारत आजाद हो गया।

भारत की तरह रंगभूमि में भी ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ दोहरा संघर्ष साफ-साफ दृष्टिगत होता है। अंग्रेजों के अन्याय और शोषण के विरुद्ध लड़ाई में एक तरफ खुदीराम बोस से लेकर चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रांतिकारी थे जो मानते थे कि विदेशी हुकूमत को सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही

समाप्त किया जा सकता है तो दूसरी तरफ गांधी के नेतृदृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सत्य और हिंसा के बल पर स्वाधीनता संग्राम की लड़ाई को आगे बढ़ा रही थी। महात्मा गांधी पर आलोचकों द्वारा यह आरोप भी लगाया जाता है कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के क्रांतिकारियों का समर्थन नहीं किया। गांधी-इरविन समझौता के समय भगत सिंह और उनके साथी कारावास में थे और उनकी फॉसी तय थी फिर भी गांधी ने उस समझौते के समय उनकी रिहाई की कोई शर्त नहीं रखी जिससे भारतीयों का एक बड़ा वर्ग काफी निराश हुआ। किन्तु महात्मा गांधी हिंसा को किसी भी तर्क से स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे चाहे वह स्वाधीनता के लिए ही क्यों न की जाए। यह वैचारिक अंतर्विरोध 'रंगभूमि' में भी है जिसमें वीरपाल सिंह उदयपुर रियासत में हुक्मत द्वारा दिए जा रहे अत्याचारों के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति का संगठित प्रयास करता है जिसमें अनाचारी अधिकारियों की हत्या और खजाने की लूट भी सम्मिलित है। प्रेमचन्द ने वीरपाल सिंह के चित्र के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के क्रांतिकारी समूह की गतिविधियों का संकेत तो किया है किन्तु उसे राष्ट्रभक्त होने के बावजूद भटका हुआ चित्रित करके महात्मा गांधी के अहिंसा के विचारधारा में अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की है। गांधी पूर्ण अहिंसा का विचार रखते हैं जो कायरों की नहीं बल्कि वीरों की अहिंसा होती है। सूरदास के माध्यम से प्रेमचन्द भी मन, वचन व कर्म से अहिंसा का समर्थन करते हैं। सूरदास भयहीन है, पूरी निडरता से है राजा महेन्द्र कुमार सिंह, मिस्टर ब्राउन व मिस्टर क्लार्क का विरोध करता है किन्तु सोफिया द्वारा उत्प्रेरित करने पर भी क्रोधित नहीं होता है और कहता है, 'उसके हृदय में अपने विरोधी राजा महेन्द्र कुमार के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं है।'¹⁵ प्रेमचन्द यहाँ टिप्पणी करते हैं कि 'उसका जीवन दर्शन एक खिलाड़ी का दर्शन है जो हार कर अपने प्रतिपक्षी पर क्रोध नहीं करता और जीतकर उसका उपहास नहीं करता।'

गांधीवादी विचारधारा में सच्चा सत्याग्रही वह व्यक्ति होता है जो स्वयं कष्ट चाहता है, यहाँ तक कि देश के लिए मर जाना भी एक साहस का कार्य समझता है किन्तु वह अपने शत्रु का खून बहाने के स्थान पर अपना खून बहाने वाला होता है। गांधी को यह यकीन था कि इसके माध्यम से अत्याचारी शासक का भी हृदय परिवर्तन हो सकता है और ऐसा परिवर्तन उन्हें स्वीकार है क्योंकि यह परिवर्तन ही स्थायी और स्तुति योग्य होता है। 'रंगभूमि' में सूरदास द्वारा किए जा रहे संघर्ष में एक स्थिति ऐसी आती है जब

पुलिस के सिपाहियों का हृदय परिवर्तन होता है और वह सूरदास और उनके समर्थकों पर गोली चलाने से मना कर देते हैं। इस स्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं कि 'राजा साहब और ब्राउन दोनों खोए हुए से खड़े हैं। उनकी आँखों के सामने एक ऐसी घटना घटित हो रही थी जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी, जो परंपरा के विरुद्ध, मानव प्रकृति के विरुद्ध और नीति के विरुद्ध थी। सरकार के पुराने सेवक जिनमें से कितनों ही ने अपने जीवन का अधिकांश प्रजा का दमन करने में ही व्यतीत किया था, यूँ अकड़ते हुए चले जाएँ, अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राणों को भी समर्पित करने को तैयार हो जाएँ।' यह अद्भुत आश्चर्य का विषय था। यद्यपि जिला कलेक्टर मिस्टर ब्राउन की सहमति से गोरखाओं की नई टुकड़ी आती है और पुलिस अधिकारी मिस्टर क्लार्क की गोली से सूरदास की मौत हो जाती है, फिर भी सैद्धान्तिक स्तर पर रंगभूमि का सूरदास गांधी की विचारधारा के और करीब आ जाता है। ऐसे भी सूरदास की पवित्र भावना से प्रभावित होकर 'अपने अपराधों को स्वीकार कर लेता है।'¹⁶ यह हृदय परिवर्तन बजरंगी में भी होता है और वह भी अपनी गलती पर पश्चाताप करता है।¹⁷ सूरदास प्रतिहिंसा नहीं चाहता बल्कि वह उसके ऊपर 'जुल्म करने का अधिकारियों के दिल में दया, धरम' जगाने की दुआ माँगता है, उनको हानि पहुँचाने की कल्पना भी नहीं करता।¹⁸

गांधीवाद अस्पृश्यता को पाप मानता है। उपन्यास में जिस सूरदास को नायक बनाया गया है वह हरिजन जाति से जुड़ा हुआ है। इस तथ्य को भी हम गांधीवादी विचारधारा के समर्थन के रूप में विश्लेषित कर सकते हैं। वास्तव में महात्मा गांधी छुआळू की परंपरागत व्यवस्था को छूणा की दृष्टि से देखते थे और मानते थे कि जाति के आधार पर भेदभाव करना अन्याय है। प्रेमचन्द भी जाति-पाति के विरोधी हैं और सूरदास को प्रधान पात्र बनाकर उन्होंने एक प्रकार से महात्मा गांधी के सामाजिक सुधार की महती आवश्यकता को स्वीकार किया है।

अस्पृश्यता के विरोध के साथ-साथ गांधी का पूरा जीवन साम्प्रदायिक एकता के लिए संघर्ष करते हुए व्यतीत हुआ था। वे स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि ब्रिटिश हुक्मत जानबूझकर हिन्दू-मुस्लिम विभेद को बढ़ावा दे रही हैं। इसलिए वे खिलाफत आंदोलन से लेकर भारत विभाजन के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों, सभी का विरोध करते रहे। उनके मतानुसार साम्प्रदायिकता एक ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित नहीं। इसीलिए गांधी 'अटूट हार्दिक एकता' की स्थापना का स्वप्न देखते हैं जिसमें कोई दिखावे का

समझौता नहीं हो। कृत्रिम समझौते से उत्पन्न राजनीतिक एकता से धार्मिक कटुता व समाज में हिंसक वातावरण का ही निर्माण होता है।⁹

रंगभूमि में प्रेमचंद भी साम्प्रदायिक सोच की आलोचना करते हैं। जब विनय सिंह को बचाने के लिए उसका मुसलमान सेवक अपनी जान दे देता है और यह सूचना उसकी माँ रानी जाहनवी को मिलती है तो वह कहती है, “क्या कहा? मुसलमान है। कर्तव्य के क्षेत्र में हिन्दू व मुसलमान का भेद नहीं, दोनों एक ही नाव पर बैठे हुए हैं, डूबेंगे तो दोनों डूबेंगे, बचेंगे तो दोनों बचेंगे।”¹⁰ सोफिया और विनय का प्रेम अपने अंजाम तक तो नहीं पहुँचता लेकिन हिन्दू धर्म की कट्टर समर्थक रानी जाहनवी के घर में एक ईसाई लड़की का साहित्यिक प्रवेश कराकर भी प्रेमचंद साम्प्रदायिक अलगाव की जगह धार्मिक सहिष्णुता की बात का समर्थन करते हैं। गांधी की तरफ सोफिया भी धर्म या मजहब को किसी संकीर्ण परिभाषा में नहीं बांधती अपितु उसे प्रेम, समाज सेवा, निजी हितों के त्याग, लोकहित में सर्वस्व समर्पण तथा सत्य व अहिंसा के रूप में लेती है। रंगभूमि में ही एक स्थान पर उन लोगों को ऐतिहासिक दृष्टि देते हुए प्रेमचंद कहते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम में कोई अंतर्विरोध नहीं है। सभी मूलतः व अनन्त एक ही हैं। राष्ट्रीय मुक्ति के पथ पर शहीद होने वाला हर व्यक्ति केवल भारतीय हैं क्योंकि ‘चाहे कोई भी हो, मरते हैं तो तुम्हारे ही भाई बंधु। तुम्हीं से निकलकर वे मुसलमान हुए हैं।’

एक अंतिम बात रंगभूमि की, जो इसे गांधीवादी विचारधारा से जोड़ती है वह है इसमें औद्योगिकीकरण व शहरी सभ्यता का विरोध। वास्तव में गांधी का अर्थशास्त्र नैतिकता की नींव पर खड़ा है जहाँ निजी लाभ के स्थान पर समाज कल्याण सर्वोपरि माना जाता है। इसलिए वे भारी मशीनों व बड़े उद्योगों का विरोध करते हैं क्योंकि भारत की विशेष परिस्थितियों में कुटीर उद्योग, खेत और आत्मनिर्भर गाँव ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। बड़ी मशीनों से शोषण का जन्म होगा जो ग्राम्य गणतंत्र और परंपरागत शिल्पकला को समाप्त कर देगा। आत्मनिर्भर ग्राम की संकल्पना के केन्द्र में खेत व कृषि है। इसलिए सूरदास के मध्य खेत के नष्ट होने का सीधा मतलब गाँव का बर्बाद होना है। यह दृष्टि रंगभूमि के शुरुआत से ही नजर आने लगती है। सूरदास का संघर्ष केवल जमीन बचाने का ही संघर्ष नहीं है यह

जान सेवक द्वारा सिगरेट के कारखाने को स्थापित करने का भी विरोध है। इसी प्रकार प्रेमचन्द शहर बनाम गाँव के विमर्श में गांधी के समान ही ग्रामीण जीवन का पक्ष लेते हैं। एक स्थल पर ‘रंगभूमि’ में यह टिप्पणी पढ़ने को मिलती है जहाँ जगधर कहता है कि देहात देहात है, सहर सहर है, सहर में पानी तक तो अच्छा नहीं मिलता, वही बम्बे का पानी पियो, धरम जाए और कुछ स्वाद भी ना मिले।’

इस विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रंगभूमि में मुंशी प्रेमचंद ने गांधीवाद के मूलभूत सिद्धान्तों को समाहित करने का पूरा प्रयास किया है। चूँकि रंगभूमि असहयोग आंदोलन के बाद लिखी गई थी इसलिए असहयोग आंदोलन के मूलभूत सिद्धांत भी इसमें असरदार ढंग से मिलते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रंगभूमि में गांधीवाद की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है।

संदर्भ

1. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ. 131
2. रंगभूमि, पृ. 365
3. संपूर्ण गांधी वाड्मय, भाग-19, पृ. 540
4. रंगभूमि, पृ. 366
5. रंगभूमि, पृ. 206
6. प्रेमचन्द और गांधीवाद- रामदीन गुप्त, पृ. 178
7. वही, पृ. 180
8. रंगभूमि, पृ. 196
9. प्रेमचन्द घर में- शिवरानी देवी, पृ. 156
10. रंगभूमि, पट्ट० 370

-डॉ. सपना भूषण

सह-आचार्य (हिन्दी)

वसन्त कन्या महाविद्यालय

कमच्छा, वाराणसी

मो.नं.- 9555076662

ईमेल : sapnabhushanvkm@gmail.com

-डॉ. प्रीति विश्वकर्मा

मानदेय प्रवक्ता (हिन्दी)

वसन्त कन्या महाविद्यालय,

कमच्छा, वाराणसी

मो.नं.- 8010062233

ईमेल : pritiashwanisharma10@gmail.com

जोतिराव फुले : सामाजिक क्रांति के अग्रदूत

—डॉ. प्रकाश वीर दहिया

जोतिराव फुले ने ऐसे समय में सामाजिक भेदभाव को दूर करने का बीड़ा उठाया जब दलितों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। 18वीं सदी तक उनकी स्थिति में सुधार हेतु कोई गंभीर प्रयास नहीं हुए। 19वीं शताब्दी को आधुनिक भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण और सुधार का काल माना जाता है यद्यपि ज्योतिराव से पूर्व राजा राम मोहन राय और स्वामी दयानंद सरस्वती ने मुख्य रूप से तत्कालीन सामाजिक बुराईयों को रेखांकित ही नहीं किया बल्कि उन्हें दूर करने का प्रयास भी किया। परन्तु दलितों में शिक्षा का घोर अभाव था परन्तु उच्च जातियों की प्रताङ्गना के कारण वे इसका लाभ उठाने से वंचित रह गए। रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने मानव सेवा को ईश्वर सेवा बताया और निर्धनों की सेवा पर विशेष बल दिया। उन्होंने किसी भी व्यवसाय को ऊंचा नीचा नहीं माना और छुआझूत का विरोध किया, किन्तु दलितों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ और उनकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। जोतिराव फुले एक महान शिक्षाविद् सामाजिक सुधारों के पुरोधा, अस्पृश्यता और जातिवाद के कलंक को मिटाने वाले युग परिवर्तनकारी व ज्ञान की किरणों को बिखरने और उनमें आत्मसम्मान की भावना भरने का प्रयास करने वाले व्यक्ति के रूप में जाना जाता है। उन्हें आधुनिक भारत की सामाजिक क्रांति का जनक कहा जा सकता है। वे नारी सुधार के प्रथम मुक्तिदाता, दलितों और शोषितों के आधुनिक युग के अग्रणी समाज सुधारकों में से थे। 11 नवंबर 1887 एक अभूतपूर्व महती सभा में उन्हें महात्मा के पद से विभूषित किया गया। पी.के. अंत्रे की 'महात्मा फुले' नामक फिल्म का निर्माण का उद्घाटन करते हुए डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने ज्योतिराव फुले की गणना भारत के महानतम समाज सुधारकों में की थी।¹ फुले ने दलितों में आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना पैदा की। उस समय दलित राजनीति शून्य प्राय थी किंतु उन्होंने दलितों में राजनीतिक चेतना पैदा करने का प्रयास किया जो अम्बेडकर के राजनीतिक जीवन का आधार बना।² जोतिराव फुले अमेरीकी बागी लेखक 'टामस पेन' के विचारों से प्रभावित थे। उन दिनों विदेशी ईसाई पादरी उन सभी लोगों को पाखण्डी समझते थे, जिनका इसा मसीह और बाईबल पर विश्वास नहीं होता था, टॉमस पेन इस विचार के विरोधी थे। वे कट्टर एकेश्वरवादी थे, उनका मन ही उनका चर्चा था। ईश्वर के नाम पर जो धर्म का बाजार लगाया जाता था, वह केवल अनावश्यक और अनिष्कर ही नहीं है, बल्कि पापमूलक और पाखण्ड सर्जक भी है। पेन ने स्त्री-पुरुष समानता पर बल

दिया। आर्थिक और सामाजिक गुलामी से श्रद्धातिशूदों की मुक्ति और नारी-दास्य विमोचन इन दोनों विषयों में ज्योतिराव फूले को विशेष रूचि थी।

ज्योतिराव फूले सामाजिक, पारंपरिक समाज-व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने हजारों वर्षों से चली आ रही धार्मिक तानाशाही को चुनौती दी। वे कर्मठ समाज सुधारक और सच्चे अर्थों में मानवतावादी महात्मा थे, महात्मा फूले ने क्रांतिकारी सुधारवाद के माध्यम से वह ठोस कृतिशीलता प्रदान की, जो उस समय के अन्य सुधारवादी प्रयासों में नहीं थी, महात्मा फूले एक समतामूलक और न्याय पर आधारित समाज की बात करते थे। ज्योतिबा फूले का जन्म 11 अप्रैल 1827 को पुणे में महाराष्ट्र की एक पिछड़ी माली जाति में हुआ था। ज्योतिबा के पिता का नाम गोविंदराव तथा माता का नाम विमला वार्ड था, एक साल की उम्र में ही ज्योतिबा फूले की माता का देहांत हो गया, पिता गोविंदराव जी ने आगे चल कर सुगणा वार्ड नामक विधवा, जिसे वे अपनी मुंहबोली बहन मानते थे को बच्चों की देख-रेख के लिए रख लिया। गोविंदराव ने तय किया कि वह ज्योतिबा को पढ़ाएंगे, उस समय यह निर्णय लेना अपने आप में बहुत बड़ा साहस का काम था क्योंकि समाज में उच्च वर्णों की दृष्टि में शूद्रों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही एक गुनाह था, यहाँ तक कि उच्च वर्ण के लागों के विरोध के कारण ज्योतिबा की स्कूल से हटाना पड़ा, ज्योतिराव का स्कूल जाना भले ही छूट गया था, लेकिन शिक्षा का रंग उन पर से नहीं हट पाया था। वह काम के बाद बचे हुए समय में पुस्तकें पढ़ते और विविध विषयों पर चर्चा करते हुए सभी को प्रभावित करते थे।³

ज्योतिराव नास्तिक नहीं थे, वे ईश्वर के अस्तित्व को मानते थे, वास्तव में ज्योतिराव प्रमुख बुद्धिवादी थे, उनका विचार था कि ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता, फिर भी ज्योतिराव के साहित्य में ईश्वर का उल्लेख बार-बार मिलता है, उसे वे कभी देव-देवता, कभी करता तो कभी परमेश्वर कहते हैं, लेकिन वे ईश्वर का उल्लेख प्रायः निर्माणकर्ता (निर्भिक) शब्द से करते हैं, उन्होंने विश्व में ईश्वर के लिए प्रचलित ‘अल्लाह’, ‘गॉड’, ‘ब्रह्मा’, आदि शब्दों में से किसी शब्द को नहीं अपनाया क्योंकि उनकी राय थी कि इन शब्दों के मूल में आराधना, भक्ति या पूजा करने के भिन्न-भिन्न विशिष्ट कर्मकाण्ड हैं और ये कर्मकाण्ड व्यर्थ और मनुष्य-मनुष्य के बीच सामाजिक फूट डालने वाले हैं, ज्योतिराव ईश्वर के साकार रूप को अस्वीकार करते हैं, उनकी राय में इस विश्व के सभी गोचर-अगोचर अस्तित्वों की निर्माणकर्ता शक्ति ही ईश्वर है, वह निराकार

के साथ-साथ निरपेक्ष भी है। ईश्वर कभी इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि उसके अपने ही द्वारा निर्मित जीव उसकी पूजा करे। ईश्वर ने तो यह सारा विश्व मनुष्य के समान उपभोग के लिए बनाया है। ऐसी स्थिति में विधियाँ, ब्रत, कर्मकाण्ड, सन्यास आदि मार्गों से मनुष्य द्वारा अपने शरीर को पीड़ा देने और उपभोग एवं आनंद को त्याग देने की अपेक्षा क्यों करेगा? आत्मा के शरीर से अलग, स्वतंत्र अस्तित्व की ज्योतिराव नकारते हैं। इससे मोक्ष, स्वर्ग, पुर्जन्म आदि पारलौकिक या मरणोपरांत जीवन की धारणाएं निरर्थक हो जाती हैं। देव, भाग्य आदि जैसी संकल्पनाएं भी अर्थहीन हो जाती हैं। हर एक को अपने भले-बुरे करने का फल मिलता है, जिसे हम भाग्य कहते हैं। वह मनुष्य की करनी और सामाजिक शक्ति की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का फल होता है। ज्योतिराव फूले के पिता गोविंदराव ने 1847 में स्कॉटिश मिशन के अंग्रेजी स्कूल में ज्योतिबा का दाखिला करवाया, तभी से ही ज्योतिराव की शिक्षा का महत्व समझ में आने लगा। स्कूल में विविध जाति-धर्मों के छात्र थे। उनके संपर्क में आने से ज्योतिराव को महसूस हुआ कि गुलामी का मुख्य कारण मानसिक है। समाज के एक मार्ग को इस व्यवस्था ने सर्वथा अछूत बनाकर अपमान, दरिद्रता और अभावों की अंधेरी खाइयों में फेंक रखा था। विद्यालय में उनका सदाशिव वल्लाल गोवड़े नामक ब्राह्मण गहरा मित्र बना। दोनों सदैव समाज, धर्म तथा देश की हालत पर विचार-विमर्श करते रहते थे, ज्योतिराव की तब और धक्का लगा, जब उनके मित्र की शादी में ही उनको घोर अपमान का सामना करना पड़ा। जब उन्होंने घर आकर अपने पिता से सारी घटना के विषय में बताया। तो पिता ने उन्हें ही समझाना शुरू किया कि हम जाति से शूद्र हैं। अपमान के उस प्रसंग ने ज्योतिबा के जीवन की दिशा ही बदल दी। उन्होंने यह भी जान लिया था कि इस दुर्दशा का कारण अशिक्षा है।⁴

हिन्दू समाज यह दावा करता है कि वर्ण हिन्दू संस्कृति का एक भाग है। परंतु अवर्ण साधारण तथा अछूतों के नाम से जाने जाते हैं। सामाजिक पृथक्करण सम्पूर्ण जीवन उन्हें अछूत बनाए रखता है। वे सामाजिक रूप से निरंतर निम्न स्तर पर, आर्थिक रूप से दरिद्र, राजनीतिक रूप से उच्च वर्गों के नौकर और स्थाई रूप से शैक्षणिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से दूर रहेंगे। वे अछूत ही पैदा हुए थे, अछूत ही रहेंगे और अछूत ही मरेंगे।⁵ अंधविश्वासों के विश्वास में जाति संरचना सनातन है, शाश्वत है और स्थिर है। लेकिन यह भी सत्य है कि कोई भी संस्था सदैव एक जैसी नहीं रह सकती। चाहे उसके परिवर्तन की गति धीमी क्यों न हो,

चाहे सामाजिक ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन न होता रहा हो, लेकिन मनुष्यों की सामाजिक परिस्थिति में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य होता रहा है इसके अनेकों कारक और कारण हैं।⁶ जोतिराव फुले ने स्पष्ट रूप से कहा है—विद्या बिना मति गई, मति बिन गई नीति/नीति बिन गति गई, गति बिन सम्पत्ति/सम्पत्ति बिन शूद्र निर्बल हो गए।⁷

महात्मा फुले ने अविद्या को सारे अन्याय की जड़ माना है। उनका मानना है कि शिक्षा के अभाव में मानव मनोवैज्ञानिक रूप से गुलाम बनता है तथा मानसिक गुलामी अन्ततः शारीरिक गुलामी का रास्ता खोल देती है। इस सन्दर्भ में फुले द्वारा प्रयोग किए गए ‘शूद्र’ की अवधारणा उनके चिंतन के माध्यम से समाज के व्यापक और विभिन्न प्रकार से वंचित जैसे अति शूद्र महिलाएँ (ब्राह्मण, विधवा महिलाओं) किसान इत्यादि को इंगित करता है। जोतिराव फुले की पुस्तक ‘गुलामगिरी’ और ‘किसान का कोड़ा’ जाति व्यवस्था को पूरी तरह से एक नकारात्मक और शोषणकारी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करती है, इसे ईश्वर की देन न मानकर समाज के द्वारा कृतित मानती है। 19वीं शताब्दी में ये दोनों पुस्तकें एक बहुत बड़ी क्रांति की प्रारम्भ विशेष रूप से सामाजिक व्यवस्था से चुनौती के रूप में देखी जा सकती हैं। क्योंकि यह वह दौर था जब आम जनता अन्याय को तो मिटाना चाहती थी परन्तु वर्णव्यवस्था को नकारात्मक नहीं मानती थी। जहाँ ‘गुलामगिरी’ विस्तार से स्पष्ट करती है कि कैसे एक समाज का छोटा सा भाग ज्ञान को नियंत्रित करके, एक बड़ी आबादी को अज्ञानी रखते हुए शोषण की एक बहुत बड़ी व्यवस्था का निर्माण कर सकते हैं। महात्मा फुले की ‘किसान का कोड़ा’ जाति व्यवस्था के माध्यम से किसानों के होने वाले आर्थिक और सामाजिक शोषण का विस्तारपूर्वक वर्णन करती है। इसमें ‘डारविन के सिद्धांत के अनुसार ब्राह्मण की ग्रह गति में परिवर्तन के चलते जैसे बंदर परिष्कृत होकर नव मान बने।’⁸ अतः फुले सामाजिक संरचना को समाज की ही देन मानते हैं तथा सामाजिक संरचना में कोई भी परिवर्तन समाज के माध्यम से ही हो सकता है। यह उनकी गहन और वैज्ञानिक एवं तार्किक सोच थी। इस पुस्तक की मुख्य विशेषता है कि यह किसानों पर सामाजिक एवं आर्थिक शोषण को रोककर कृषि विस्तार का मॉडल भी प्रदान करती है तथा कृषि के विस्तार के लिए क्रांतिकारी समझ भी इस पुस्तक में स्पष्ट दिखाई देती है। किसानों में योग्यता एवं फसल की पैदावार को आधार पर ईनाम देना, तथा विदेशों में कृषि विद्यालयों में कृषि विस्तार हेतु अनुभव लेने के लिए भेजना इत्यादि शामिल है।

महात्मा फुले का मानना है कि अज्ञानता और जातिवादी समाज आधुनिक के मार्ग को अवरुद्ध करता है और एक ऐसी कार्य संस्कृति का निर्माण होता है जो समाज में बढ़े स्तर पर भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। दूसरे शब्दों में वे अज्ञानता और शिक्षा को वे समाज में भ्रष्टाचार के रूप में देखते हैं। फुले का मानना है कि जातीय चेतना किसी भी पढ़े लिखे शिक्षा में शिक्षक होने की चेतना को पैदा नहीं होने देती। परिणामस्वरूप ऐसा शिक्षक जिसमें भेदभाव की भावना रहती है बल्कि शिक्षण संस्थानों को भी विकसित नहीं होने देता, यह सब संकुचित सोच के कारण ही होता है। सामाजिक गुलामी का मूल कारण ज्ञान का अभाव है, इसलिए शूद्र के लिए ज्ञान के दरवाजे खोल देना आवश्यक है।⁹ अधिकतर सभी समाज सुधारकों ने समाज में संदेश और गतिशीलता प्रदान करने के लिए सबसे पहले सामाजिक संगठन की स्थापना की जिससे उनका संदेश अधिक से अधिक लोगों तक पहुंच सके और भविष्य में भी समाज को निरन्तर प्रेरणा मिलती रहे। इसी प्रकार जोतिराव फुले ने भी सत्यशोधक समाज की स्थापना की। ‘सत्यशोधक समाज’ अर्थात् सत्य सच की खोज करने वाला समाज 24 सितम्बर सन् 1873 में जोतिराव फुले द्वारा स्थापित एक पन्थ है। यह एक छोटे से समूह के रूप में प्रारम्भ हुआ और इसका उद्देश्य शूद्र और अस्पृश्य जाति के लोगों को विमुक्त करना था। इनका विचार गुलामगिरी और सार्वजनिक सत्यधर्म में निहित है। ‘सत्यशोधक समाज’ मुख्यतया ब्राह्मण वर्ग श्रेष्ठता के विरुद्ध आन्दोलन था, इस आंदोलन ने एकेश्वरवाद पुरोहितवाद, मूर्तिपूजा तथा तीर्थयात्रा का निषेध किया। सत्यशोधक समाज के माध्यम से समता बंधुत्व और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन किया। 1888 में समाज सुधारक विठ्ठलराव कृष्णजी ने जोतिराव फुले को महात्मा की उपाधि दी।

सत्यशोधक समाज का मुख्य कार्य शूद्रों-अतिशूद्रों को पुजारी पुरोहित, सूदखोर आदि की सामाजिक-सांस्कृतिक दासता से मुक्ति दिलाना, धार्मिक सांस्कृतिक कार्यों में पुरोहितों की अनिवार्यता को समाप्त करना, शूद्रों-अतिशूद्रों को शिक्षा के लिए प्रेरित करना ताकि वे उन धर्मग्रंथों को पढ़ एवं समझ सके, जिन्हें उनके शोषण के लिए रखा गया है, सामूहिक हितों की प्राप्ति के लिए उनमें एकजुटता का भाव पैदा करना, धार्मिक एवं जाति आधारित उत्तीड़न से मुक्ति दिलाना, पढ़े लिखे शूद्र अतिशूद्र युवाओं के लिए प्रशासनिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना आदि था। यह उस समय सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक समरसता को समाज में बढ़ाने का कार्य था।

सत्यशोधक समाज का घोष वाक्य था- “सर्वसाक्षी जगत्पति नहीं चाहता बिचवाई”।” उनके कुछ सिद्धांत ऐसे हैं— ईश्वर एक ही है, वह सर्वव्यापी, ईश्वर हिन्दू मुसलमान, ब्राह्मण आदि से भेदभाव नहीं करता। उसे सभी समान रूप से प्रिय है। सभी लोगों को ईश्वर की आराधना करने का अधिकार है, इसके लिए किसी विचौलिये की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य जाति से नहीं, गुणों से श्रेष्ठ बनता है। कोई भी ग्रंथ ईश्वर रचित नहीं है। ईश्वर साकार रूप में अवतार नहीं लेता। पुर्णजन्म की धारणा, कर्मकाण्ड, जप-तप अज्ञान मूलक है आदि।” सत्यशोधक समाज ब्राह्मणों का विरोधी नहीं था। वह धर्म के नाम पर उत्पन्न होने वाली ब्राह्मणी कृति का विरोधी था। सत्यशोधक समाज की विवाह पद्धति निःसंदेह क्रांतिमय थी। विवाह संस्था के विचौलियों को नकार कर ज्योतिराव फुले ने पुरोहिती वृति को बहुत बड़ी चुनौती दी। वे सभी जीवन-संस्कारों में बुद्धिवादी, मानवतावादी, वैज्ञानिक परिवर्तन के पक्षधर थे और अंधविश्वास के विरोधी थे। सामाजिक सद्भाव को किसी भी विशेष समाज में अन्य लोगों पर उनके राष्ट्रीय मूल, वैवाहिक स्थिति जातियता, रंग की परवाह किए बिना प्यार, विश्वास, प्रशंसा, शांति सद्भाव, सम्मान, उदारता, समानता को महत्व देने व्यक्त करने और बढ़ावा देने की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। सामाजिक समरसता के घटकों में हम शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, आत्मीयता, समन्वय, बंधुत्व, सर्वहित, सदस्यता, सरोकार और सामूहिक चेतना को ले सकते हैं। परन्तु भारतीय सामाजिक संरचना में जाति धर्म और विवाह जैसी संस्थाएँ हैं। जाति स्तरीकरण की व्यवस्था है जहां विभिन्न जातियों और जातियों को पारस्परिकता की प्रक्रिया के माध्यम से व्यवस्थित किया जाता है। महात्मा फूले बीसवीं सदी के प्रारम्भ के मुख्य समाज सुधारकों में से एक थे, जिन्होंने न केवल शिक्षा के महत्व को समझा बल्कि उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का भी प्रयास किया। फूले का सम्पूर्ण चिंतन तर्क और वैज्ञानिकता और व्यवाहारिकता पर आधारित था। सर्वप्रथम महात्मा फूले मानते हैं कि किसान का सबसे बड़ा शोषण पुजारी वर्ग करता है। सर्वप्रथम किसानों के बच्चों को शिक्षा से बाहर रखकर, दूसरा कर्मकाण्डों के नाम पर जैसे राशि चक्र, विवाह पूर्व जारी यात्रा इत्यादि अवसरों पर किसान की सम्पति हड्डप कर। किसानों के शोषण का मुख्य कारण भी यह है कि राज्य को कर्ज चुकाने के लिए भी किसान को कर्ज लेना पड़ता है, फूले का मानना है कि शिक्षा के अभाव में किसान वर्ग सदैव कर्ज में रहता है। ऐसे तनावपूर्ण वातावरण में सामाजिक

समरसता की भावना को स्थापित नहीं किया जा सकता। जिस समाज में किसी विशेष वर्ग को विशेषाधिकार और अन्य वर्गों को समान अधिकार भी न मिले तो सामाजिक समरसता किसी भी सभ्य एवं आधुनिक समाज के लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य होगा। उत्पीड़ित वर्गों के हित और उनकी मुक्ति अनिवार्य रूप से भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों से जुड़ी है। वह राजनीतिक जनतन्त्र के विकास से ही दूर होगी। नए सामाजिक संबंध और समान हित पुराने सम्बन्धों का स्थान ले लेते हैं। जाति व्यवस्था और छुआछूत जो स्थिति आजादी से पूर्व और स्वाधीनता के बाद वर्षों में थी। वह वर्तमान समय में नहीं है। विशेषकर शहरी क्षेत्रों में। यद्यपि ग्रामीण इलाकों में कुछ क्षेत्रों में जाति व्यवस्था वहां के समाज की पहचान है परन्तु समय-समय पर छुआछूत की घटनाएँ हमें व्यापक रूप से अविकसित सुदूर और शहरी क्षेत्रों में भी देखने को मिलती हैं।

संदर्भ

1. देवेन्द्र कुमार बेसेतरी, भारत के सामाजिक क्रांतिकारी, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 122
2. डॉ. एल. जी., मेश्वाम विमलकीर्ति (अनुवादक एवं संपादक) महात्मा जोतिराव फुले रचनावाली, खंड 2, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण, 1994, पहला संशोधित संस्करण 1996, पहली आवृत्ति, 2002, पृ. 307
3. युवराज कुमार, भारतीय दलित चिन्तक, सेज पब्लिकेशन इंडिया, नई दिल्ली 2020, पृ. 55-56
4. वही, पृ. 57-58
5. डॉ.एन. कुवेर, बिल्डरस ऑफ मार्डन इंडिया, बी. आर. अम्बेडकर' पब्लिकेशन डिविजन, गवर्नरमेंट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1978, पृ. 2-3
6. रामअवतार शर्मा, भीमराव रामजी अम्बेडकर मूक नायक आकार बुक्स, दिल्ली, 2019, पृ. 20
7. जोतिराव फुले किसान का कोड़ा, अनुवादक, संजय गजभिए, सम्पर्क प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 13
8. जोतिराव फुले, किसान का कोड़ा, अनुवादक, संजय गजभिए, सम्पर्क प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 44
9. कीर धनंजय, अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन, तृतीय संस्करण, पुर्नमुद्रित 1981, पापुलर प्रकाशन, बॉम्बे, पृ. 95

—डॉ. प्रकाश वीर दहिया
एसेसिएट प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
सत्यवती कॉलेज (सांघ्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

सदियों के बहते जख्म में अभिव्यक्त दलित-संवेदना

—कुमारी अनीता

प्रो. दामोदर मोरे अम्बेडकरवादी कवि व रचनाकार हैं। आपका जन्म 5 फरवरी 1953 ई. में गाँव मोप, तहसील रिसोड, जिला वाशिमपुर (महाराष्ट्र) में हुआ। पिता कचरुजी रामजी मोरे एक सामाजिक कार्यकर्ता और माता पंजाबाई कचरुजी मोरे थीं। आपकी पत्नी पल्लवी मोरे जी का आपके जीवन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मोरे जी का आरंभिक जीवन अभाव, दुःख, पीड़ा व गरीबी में बीता है। आप बचपन से ही संवेदनशील व प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के धनी हैं। मोरे जी ने शिक्षा के माध्यम से अपने जीवन की दशा और दिशा ही बदल दिया है। आपके जीवन में महात्मा बुद्ध, ज्योतिबा फूले व बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के विचारों का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। मोरे जी का लेखन कार्य के तरफ झुकाव कालेज के समय से रहा है। क्योंकि आप समाज सेवा व दलित आन्दोलन में भी महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। प्रो. दामोदर मोरे ने अपने भोगे हुए दुःखो, अपमानों की चुभन को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मनुवाद की जंजीरों में जकड़ा समाज और मनुष्य के बीच असमानता की दीवारों को तोड़ने का आक्रोश भी आपकी कविताओं में दिखाई देता है। शसदियों के बहते जख्म कविता-संग्रह में दलित मन की पीड़ा-व्यथा को बहुत ही बारीकी से व्यक्त किया है। ‘मेरा बचपन’ नामक कविता में कवि ने दलित समाज की लाचारी, बेबसी, भूख की कसक, गरीबी की छवि को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं—‘मेरा बचपन जल रहा था/ भूख की ज्वाला में.../ मेरा बचपन भींग रहा था/ ऑर्खों की बरसात में.../ मेरा बचपन जिंदगी टूँट रहा था/ फटी किताब में...’¹ भारतीय समाज-व्यवस्था में जातिवाद एक अभिशाप बन गया है। जिसके कारण दलितों को बहुत अपमान सहना पड़ता है। जिसे देख कवि का हृदय तिलमिला उठता है कि जातिवाद के जहरीले पानी से दलित समाज लाश बनकर रह गये हैं। उनकी वेदना दिन-प्रतिदिन असहाय होती जा रही है, वे चाहकर भी उन्हें बचा नहीं पा रहे हैं। कवि के भीतर की ज्वाला उन्हें बचाने के लिए अपनी जान तक न्यौछावर करना चाहती है। ‘कैसे बचाऊँ’ कविता में इस दर्द को व्यक्त करते हैं—‘यह जातिवाद का जहरीला पानी मैं, कब तक बहने दूँ...?/या, मैं ही बांध बनकर अपने आपको दफना दूँ...?’² इन जिन्दा लाशों को मैं, कैसे बचाऊँ...?

प्रो. दामोदर मोरे की कविताएँ बोधगम्य हैं, उनका उद्देश्य है दलित समाज को सही रास्ता दिखाना। आज भी हमारे समाज में छुत-अछूत का भेदभाव बना हुआ है। व्यक्ति की पहचान उसकी योग्यता से नहीं उसकी जाति से होती है। डॉ.

अम्बेडकर ने जाति-व्यवस्था को शसमाज का प्रदूषक कहा है। भारतवर्ष में जाति-व्यवस्था जितनी पुरानी है, उतना ही पुराना इसका प्रतिरोध दलित समाज सदियों से अस्पृश्यता के दंश को झेल रहा है। इस संवेदना को कवि ने ‘जाल’ कविता के माध्यम से व्यक्त करते हैं—‘रोशनी को कैद किया तुमने/जातिवाद के काले जाल में/तड़पती रही सदियाँ अस्पृश्यता के अंधेरे में’⁸ मोरे जी कविता को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में वही कविता अच्छी होती है जिसमें उच्च विचार हो, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और धर्मनिरपेक्षता का भाव हो, अम्बेडकरवादी विचारधारा आदि का भाव हो। जिससे बहुजन समाज में गति उत्पन्न हो और वह अपने हक के लिए संघर्ष करें। कवि ‘भीख’ कविता में अपने भावों को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं—‘मैं एक भिखारी हूँ/हाथ में लेकर कटोरा चौराहे पर खड़ा/माँग रहा हूँ/आपके विकारों की भीख है कोई दाता...? दे दो...दे दो/अपने विकारों की भीख दे दो/इस घने अंधेरे को/रोशनी के फूल दे दो’।⁹

मोरे जी समय के सजग प्रहरी हैं। इनकी की कविता में विद्रोह और आक्रोश का भाव भी प्रकट हुआ है। कवि के सामने जो घटित होता है, उसे आँख बंद करके देखना पसंद नहीं करते हैं और न ही खामोशी से बैठना। वे दलित समाज की समस्या को सुलझाते हुए अपने आप से सवाल करते नजर आते हैं। जिसकी झलक ‘मैं’ कविता में व्यक्त हुई है—‘मैंने, अपने से पूछा/ मैं कहाँ हूँ...?’/मैं बोला—तू नहीं है मैं बिखरा है समाज में...’¹⁰

जीवन और समाज को सही दिशा दिखाने का कार्य साहित्यकार करता है। कवि दामोदर मोरे उन्हीं में से एक है। कवि की कविताओं में स्त्री चेतना से भी परिपूर्ण है। वर्तमान समाज में चल रही परंपरा, रीति-रिवाज, अंधश्रद्धा आदि का भी चित्रण उनकी कविताओं में हुआ है। ‘सावित्री से सावित्री तकश कविता में वर्तपूर्णिमा के दिन पति की लम्बी उम्र के लिए स्त्रियाँ वटवृक्ष की पूजा करती हैं और डालें तोड़- तोड़कर घर ले जाकर पूजा की जाती है। कवि ने वटवृक्ष की व्यथा को व्यक्त करते हैं—‘वह रोते-रोते बोला/भारतीय नारी अंधश्रद्धा में ढूब रही/यही बात मेरे मन में चुभ रही/पूजा के लिए वह मेरी डाल तोड़ रहे हैं/उन्हें पता नहीं/वह अपने ही हाथ पैर काट रहे हैं।’¹¹

प्रो. दामोदर मोरे का मन प्रकृति के साथ संवादपूर्ण संबंध स्थापित कर न केवल उसके सौंदर्य से अभिभूत होता दिखता है, अपितु प्रकृति की हर अदा तथा उसकी हर हलचल से कुछ ऐसा पाने की कोशिश करते हैं कि कविता दलित समाज के लिए सार्थक हो सके। कवि ने दलित

समाज की संवेदना को नदी, झरना, पानी, पहाड़, फूल, पत्ती, पशु, पक्षी आदि के माध्यम से व्यक्त किया है। कवि ने दलित समाज की वर्तमान संवेदना को ‘कविता की खुशबू’ में कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं—‘देते आये हैं मुझे कड़ी धूप/ये ऊँचे पेड़/धूप को मैं छांव कैसे कहूँ/अन्याय सहती रहती हैं/जिंदा लाशें जहाँ/उसे मैं गाँव कैसे कहूँ।’¹²

प्रो. दामोदर मोरे अम्बेडकरवादी कवि एवं जय भीम के सिपाही हैं। साहित्य और समाज के सजग प्रहरी है, उनके लिए कविता आनन्द की वस्तु न होकर कविता एक आन्दोलन है। जो हर प्रकार की विषमता को मिटाकर स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और धर्म-निषेक्षता के लिए संघर्षरत है। मनुष्य का आत्मबल ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है, क्योंकि उसके व्यक्तित्व की स्वाधीनता इसी पर निर्भर है। डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से बहुजन समाज में आत्मबल पैदा हुआ है। इसी आत्मबल से वह आगे बढ़ रहा है। अब उनकी राह में कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता है। इस संवेदना को कवि अपनी कविता ‘रोशनी’ में व्यक्त करते हैं—‘मैं उन्हें बाहर की रोशनी दूंगा/तुम इतना ही करो/उनके अन्दर के डर को जगा दो/फिर देखो—अमावस्या की रात ही क्यों न हो/इस बस्ती में सवेरा होगा।’¹³

मोरे जी की कविताएँ भारतीय संस्कृति पर प्रहार करती नजर आती है। मनुष्य के अन्दर उबलते हुए लावा को जागृत करने का काम करती है। पूरे समाज की बुनावट का ताना बाना ‘वर्ण-व्यवस्था’ से होकर गुजरता है। सर्वर्ण समाज के अत्याचार व शोषण के शिकार दलित समाज के स्त्री-पुरुष और बच्चों को बनना पड़ता है। उनके यातना को भोगते हुए स्त्री-पुरुष सभी लोग हिंसक प्रवृत्ति को अपना लेते हैं। इस अमानवीयता को खत्म करने का संकल्प लेने वाले बहुत कम पैदा होते हैं। सामाजिक बुराईयों व दुर्गुणों को खत्म करने के लिए कभी-कभी करो या मरो का रास्ता अपनाना लेते हैं। मेहनत-मजूरी, भूखा पेट, घर-गृहस्थी आदि समस्याओं को पार कर फूलन देवी ने बुलंद हौसले के साथ अत्याचार का बदला लेकर वीरांगना बन गयी। कवि इस भाव को ‘फूलन देवी’ कविता के माध्यम से व्यक्त करते हैं—‘फूलन देवी से मैंने कहा/अपनी नीचे रखी बंदूक मुझे दे दो/वह बोली, बेटा ये युद्धयुग नहीं, बुद्ध युग है/अल्फाज को ही प्रक्षेपास्त्र बना दो।’¹⁴

प्रो. दामोदर मोरे की आंतरिक आस्था कविता और शब्द की शक्ति में है। कवि के शब्दों में दलित अस्मिता की ताकत केवल विरोध और विद्रोह तक सीमित नहीं है, उसे व्यापक करुणा तक विस्तारित करना है। तभी व्यक्ति और समाज संबंध में संवाद पूर्ण हो सकता है। उनकी प्रत्येक

कविता की हर पंक्ति में, हर शब्द में क्रांतिकारी बदलाव की आहट है। कवि 'शब्दरंग' में अपने मन के भाव को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं—मैंने कहा—'यह नयी कविता देख, मैंने शब्दों के रंग से/कैसे संवारा है यह रेखाचित्र...'¹⁰

प्रो. दामोदर मोरे की कविताएँ विविध अंगी हैं। कवि ने अपनी कविता के माध्यम से दलित समाज के संपूर्ण समस्या से अवगत कराया है तथा उसके समाधान के लिए शिक्षा को विशेष महत्व दिया है। कवि की कविताएँ मनुष्य की अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वासों तथा व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर दलित समाज के लिए समर्पित हैं। इनकी कविताओं में सदियों से पीड़ित, दमित, अन्याय व अत्याचार सहने वाले दलितों की आवाज़ बन गयी है। मोरे जी अपनी कविता के माध्यम से भारतीय समाज में दलितों के प्रति समानता का अधिकार मांगते हैं। कवि कविता के केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं मानते हैं। उनकी नजर में वही कविता अच्छी है, जिसमें उच्च विचार हो, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और धर्मनिरपेक्षता का भाव हो। जो दलित समाज में गति, संघर्ष और बेचेनी पैदा कर सके।

संदर्भ ग्रंथ

1. सदियों के बहते ज़ख्म /प्रो. दामोदर मोरे, पृ. 126
2. वही पृ. 103
3. वही पृ. 101
4. वही पृ. 118
5. वही पृ. 104
6. वही पृ. 138
7. वही पृ. 59
8. वही पृ. 104
9. वही पृ. 144
10. वही पृ. 79
11. अम्बेडकरवादी सौंदर्य- शास्त्रीय यथार्थवाद और प्रो. दामोदर मोरे की रचनाधर्मिता/डॉ. विनय कुमार पाठक, डॉ. इंद्रबहादुर सिंह

-कुमारी अनीता

शोधार्थी- पी.एच.डी.

मौलाना आज़ाद नेशनल

उर्दू युनिवर्सिटी, गच्छीबौली,

हैदराबाद

मो.न.9452571129

ईमेल : kumarianita5648690@gmail.com

आदिवासी समाज के संदर्भ में स्त्रियों की समस्याएँ

—राजलक्ष्मी जायसवाल

भारत की संस्कृति, साहित्य एवं इतिहास में आदिवासियों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति में विविध संस्कृतियों का समुच्चय है जिसमें आदिवासियों का मूल स्थान है, यह आदिवासी हमें हमारी पुरानी संस्कृति एवं परम्पराओं से रूबरू करवाते हैं लेकिन समाज की असंगतियों के कारण यह पिछड़ गए हैं और इससे सबसे ज्यादा प्रभावित आदिवासी समाज की स्त्रियाँ हुई हैं। जल, जंगल और जमीन की समस्या के साथ ही साथ स्त्रियों से जुड़ी समस्याएँ जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, स्त्री मानवीय मूल्यों का हनन जैसी समस्याएँ दिन-प्रतिदिन गंभीर होती जा रही हैं। आदिवासी महिलाओं का चित्रण रचनाकारों ने अनेक दृष्टिकोण से किया, जिससे उनकी दशाओं के साथ दिशाओं की भी बात कही गयी। आदिवासी कथा साहित्य में आदिवासी महिलाओं की पारिवारिक, समाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, रिति का चित्रण किया गया है। तथा उनके संघर्ष को भी केन्द्रिकृत किया गया है जिसमें आदिवासी स्त्रियाँ अपनी अस्मिता को बचाने के लिए संघर्षरत हैं। आदिवासी महिलाओं का सभी तरह से शोषण किया जाता है। इनका सबसे ज्यादा शोषण गैर आदिवासियों के द्वारा ही होता है। आदिवासी समाज में औरतों को मारना पीटना तथा उनका यौन-शोषण आम बात है लेकिन फिर भी सभी कामों में पुरुषों का साथ देती है, बल्कि पुरुषों से अधिक काम करती है। इन्हीं समस्याओं एवं संघर्षों का चित्रण वर्तमान कथा साहित्य में हो रहा है इसमें आदिवासी नारी केन्द्र में है। नर और नारी दोनों ही एक दूसरे के पूरक होते हैं। ये एक ही गाड़ी के दो पहिये होते हैं, जिनको हमेशा साथ-साथ चलाना होता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही मिलकर अपनी जिंदगी को समाज को आगे बढ़ाते हैं, ये दोनों ही मिलकर बहुत सम्बन्धों को जीते हैं, जैसे-पति-पत्नी, माता-पिता, प्रेमी-प्रेमिका, माता-पुत्र, देवर-भाभी आदि। लेकिन इसके बावजूद आदिवासी महिलाएँ को कई प्रकार के संघर्षों एवं समस्याओं से गुजरना पड़ता है। आदिवासी महिलाएँ सभी क्षेत्रों में अपनी भूमिका जिम्मेदारी के साथ बखूबी से निभाती हैं। पारिवारिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, राजनैतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र तथा कलाओं के क्षेत्र में आदिवासी नारी संघर्ष करती हुई आगे बढ़ रही है।” आदिवासी महिलाओं की दिनचर्या निम्नलिखित तरीके से शुरू होती है-सवेरे उठकर घर में झाड़ देना, लीपा-पोती करना, चूल्हा जलाना, दूर-दराज झरननों, जल स्रोतों, नदियों व गहरें कुओं से पानी भरकर लाना। कई बार तो दोने से

पानी उल्लीचकर एक धैता (घड़ा) पानी भरने में एक घंटा लगता है। खाना बनाना भी इन्हीं के जिम्मे है। इस बीच मर्द दातून करने के सिवाय कोई काम नहीं करता। अपने मर्द, बच्चों तथा बूढ़ों को खाना परोसने के बाद खाना, बरतन मांजना परिवार में स्त्रियों का नियम होता है। अगर गाय-गोरु घर में हो तो उनकी देखभाल करने का काम भी औरतों को ही करना होता है। घर के काम से निपटकर वे मर्द के साथ काम की तलाश में निकल जाती है। अन्यथा जंगलों में मर्द के साथ लकड़ी काटने के लिए जाती है। दोनों मिलकर लकड़ी काटते हैं और औरत उस लकड़ी को सिर पर लादकर बेचने के लिए बाजार जाती है। उसके बाद रात को आकर औरत को खाना बनाना पड़ता है। मर्द के सोनें के बाद सोने जाना तथा मर्द के उठने के पहले उठ जाना भी औरतों के दिनचर्या में शामिल होता है”¹ इस तरह की जिम्मेदारियों को एक आदिवासी महिला निभाते हुए रोजमर्रा की जिंदगी में दिखती है। और यह संघर्ष सालों से एक स्त्री अपनी चिंता किये बिना परिवार के खुशी के लिए करती आयी है और इसी में एक स्त्री को संतुष्टि मिलती है।

विणा सिन्हा ने ‘सपनों से बाहर’ उपन्यास में एक आदिवासी स्त्री रूप कुँवर को पारिवारिक कर्तव्य निभाने का वर्णन बड़ी रोचकता के साथ किया है—“पीले नारंगी रंग का घाघरा-चोती पहने एक युवती बस्ती से पानी लेकर आ रही थी। माथे से खींचकर पीछे बैंधें बालों की वजह से चौड़ा माथा और भी चौड़ा लग रहा था। कानों के ढार में लगा शीशा धूप में चमक रहा था। लुरकियाङ्गल जाती थी। छोटी सी नाक में कँसी लौंग काफी बड़ी थी। गुदने से गुदे हाथ चुरा मांगरां और बाकों से भरे थे। चलते समय पाँव के टोलड़ खनखना उठते थे।”² इसमें पानी लेकर आती हुई रूप कुँवर का चित्रण है। एक स्त्री अपने बच्चों एवं पति के लिए सदैव समर्पित रहती है और इसी कारण उस पर बहुत सारी जिम्मेदारियाँ आ जाती है। जिसका पालन उसे समझदारी से करना होता है वीणा सिन्हा के ‘सपनों के बाहर’ उपन्यास में श्रीमती सिंह जब लड़कियों के पढ़ने का विरोध करती है और उन्हें पारिवारिक जिम्मेदारियाँ निभाने के लिए कहती है, तब निशिगंधा कहती है—“यह रानी का मान पाकर औरत और भी अधिक गुलाम हो जाती है। साधारण गुलाम तो मालिक के डर से गुलामी करते हैं, परंतु औरत तो स्वेच्छा से भावात्मक गुलामी करती है। इस व्यवस्था में महिलाओं को पूरी तरह गुलाम बनाने की साजिश हैं उन्हें घुट्टी में पिलाया जाता है कि उनके चरित्र के आदर्श पुरुषों के

आदर्श से बिलकुल अलग है। उन्हें यह एहसास कराया जाता है कि दूसरों की अधीनता स्वीकार करने में ही सार्थकता है। सभी नैतिकताएँ स्त्री-स्वतंत्रता के खिलाफ हैं।”³

पिरुसत्तात्मक परिवारों में नारियों की स्थिति विशेषकर निवास स्थान और सम्पत्ति पर अधिकार के मामले में बिलकुल पीछे पाई जाती है। इस कारण परिवारों में पति का उच्च स्थान तथा महिलाओं की स्थिति काफी खराब होती है। एक आदिवासी महिला अपना समस्त जीवन घर परिवार के सुख समृद्धि में ही त्याग देती है” आज भी भारत में औरत अगर अपने त्यागमयी रूप से जरा सी भी विचलित होती है तो वह तुरन्त कुलता या खलनायिका करार दी जाती है। उसके लिए पति के प्रति एक निष्ठ होना ही कसौटी माना गया है। वह पति, परिवार, देश अथवा समाज की ही सम्पत्ति है, वहाँ तक उसकी हृद है। कहने के लिए ही भारतीय मानस औरत को पूज्य कहता है लेकिन डग-डग पर उसे माया, ठगनी, कुटनी कहकर अपमानित करता रहा है। कृष्ण ने तो गीता में उसे ‘पाप की पोटली’ ही कह दिया है⁴ धारू आदिवासियों में महिलाओं की समाजिक स्थिति बेहद दुखद है वहाँ पर स्त्रियों का क्रय-विक्रय किया जाता है और उससे देह-व्यापार करवाया जाता है। संजीव के ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ में निम्न कथन से महिलाओं पर हुए अत्याचार को समझा जा सकता है—“हम गरीब नीच जाति की औरतों की क्या इज्जत? खुला दरवाजा है, जो चाहे मुँह मार ले⁵ ‘हमारा कसरू बस इतना है कि गरीब है, औरत जात है, जो ही आता है, डरा-धमका के जबरदस्ती करने को मगजूर (मजबूर) करता है।”⁶ उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि आदिवासियों में स्त्रियों की स्थिति बेहद गंभीर है जिसका निवारण अति आवश्यक है “आदिवासी समाज में स्त्री को मनुष्य खाने वाली डायन कहकर कुचला जाता है”⁷ इसी प्रकार मैत्री पुष्टा के उपन्यास ‘अलमा कबूतरी’ में सौतेली की बहू कहती है—“वह तो मर्द के लिए सौ सुखों का सुख स्त्री-सुख मानती है”⁸ आदिवासी समाज में व्याप्त पुरुषवाद से प्रभावित आदिवासी स्त्री दुःखित है, यही कारण है कि आदिवासी समाज की स्त्रियाँ आगे नहीं बढ़ पा रही हैं।

आदिवासी स्त्रियों के उन्नतशील भविष्य के लिए आदिवासी समाज में औरतों को लेकर सोच में परिवर्तन लाना अतिआवश्यक है और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना आदिवासी स्त्रियों का मजबूती प्रदान करेगा, क्योंकि यही कहकर उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता है। आदिवासी

महिलाएँ किसी भी प्रकार से पुरुषों से पीछे नहीं हाती लेकिन फिर भी उसे मजबूर, लाचार और कमजोर पक्ष की दृष्टि से प्रायः देखा जाता है इस सोच को पुरुषों को बदलना होगा। क्योंकि स्त्रियाँ हमेशा ज्यादा खटती हैं। और अपने हक की लड़ाई खुद से ही लड़नी होगी। आदिवासी औरतों को शिक्षित करके उनके आने वाले भविष्य को संवारा जा सकता है, और जन जागृति लाकर, इनमें व्याप्त बुराईयों से अवगत कराकर इन्हें आगे बढ़ाया जा सकता है। आदिवासी महिलाएँ अपने घर परिवार के लिए जीवन भर संघर्ष करती रहती हैं तथा सम्पत्ति में भी उन्हें पूरा हक मिलना चाहिए है क्योंकि पुरुषवादी समाज में इन स्त्रियों को कोई अधिकार नहीं दिया जाता है ऐसी महिलाओं को सम्पत्ति में हिस्से का हक न होने की वजह से विधवा या परित्यक्ता होने पर अपमानित, प्रताड़ित या उनकी हत्या कर देना आजकल इनके समाज में आम बात हो गई है। अतः आदिवासी समाज में औरतों को लेकर सोच में परिवर्तन होना चाहिए तभी उनकी स्थितियों में परिवर्तन आयेगा और उन्हें समाज में बराबरी का हक मिलेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्श, कलम और कुदाल के बहाने, शिल्पायन, पृ. 131
2. वीणा सिन्हा, सपनों से बाहर, मेथा बुक्स, पृ. 205
3. वही, पृ. 25
4. रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्श: कलम और कुदाल के बहाने, शिल्पायन; पृ. 20
5. संजीव, जंगल जहां शुरू होता है, राधाकृष्ण एपर बैक्स, पृ. 182
6. वही, पृ. 196
7. संरमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, राधाकृष्ण, पृ. 21
8. मैत्रीय पुष्पा, अलमा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 244

—राजलक्ष्मी जायसवाल

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,

रांची विश्वविद्यालय, रांची

पिन-834004

मोबाइल नं.-8789711959

दिन बहुरने की बाट जोहता विमुक्त या धुमन्तू समुदाय

—शेषांक चौधरी

‘बस्ती से थोड़ी दूर, चट्ठानों के दरमियाँ
ठहरा हुआ है, खानाबदोशों का कारवा’
उनकी कहीं जमीन, न उनका कहीं मकाँ
फिरते हैं यूँ ही शामो-शहर ज़ेरे आसमाँ।’¹

शायर असराल-उल-हक मजाजइन की उपरोक्त पंक्तियों में विमुक्त या धुमन्तू जन-समुदाय की वस्तुस्थिति का यथार्थ अभिव्यंजित हुआ है। आखिर यह विमुक्त या धुमन्तू समुदाय है क्या ? किसे विमुक्त या धुमन्तू समुदाय की संज्ञा दी गई है? विभिन्न विद्वानों ने इस समुदाय को परिभाषित करने का प्रयास किया है—“किसी एक स्थान पर स्थायी निवास न कर आजीविका हेतु बार-बार स्थानान्तरण करने वाला मनुष्य समूह ‘धुमन्तू’ कहलाता है। आज भी इनके पास आजीविका के निश्चित मार्ग नहीं हैं। परिणामतः इनका जीवनस्तर पिछड़ा, अस्थिर गरीबी से भरा और उपेक्षित है।”² ‘द रॉयल एन्थ्रो पॉलिजिकल इंस्टिट्यूट ऑफ ब्रिटेन’ ने विमुक्त या धुमन्तू लोगों की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—“किसी भी तरह का निश्चित निवास-स्थान का न होना, शिकार या भोज्य सामग्री इकट्ठा करते हुए धूमना, इसी पर वे आश्रित होते हैं। ये ‘धुमन्तूपन’ उनके जीवन का स्थायी भाव हो जाता है। ऐसे लोक समूह को धुमन्तू समाज कहा जाता है।”³ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार—“कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनका कहीं एक जगह पर घर न गाँव है। यह कहना चाहिए कि लोग अपने गाँव और घर को अपने कंधे पर उठाए चलते हैं। ऐसी जातियों को धुमन्तू कहना चाहिए।”⁴ इस प्रकार हम देखते हैं कि विमुक्त या धुमन्तू जन-समुदाय एक ऐसा जन-समुदाय है जिसके निवास का कोई निश्चित ठिकाना नहीं है। ‘रमता जोगी, बहता पानी’ की तरह यह समुदाय सतत विचरणशील है। किसी स्थान पर पाँच-सात दिनों का पड़ाव डालकर विश्राम करता है, फिर उसे उस स्थान से अन्यत्र प्रस्थान करना पड़ता है। इस समुदाय के लोग अपने साथ बैलगाड़ी, गधों आदि पर गृहस्थी का सामान लादे जीविकोपार्जन हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरणशील रहते हैं। विमुक्त या धुमन्तू जनजाति संघ मुंबई के अध्यक्ष रंजीत नायक कहते हैं—“सामान्य लोग आदिवासी और विमुक्त में

अंतर नहीं समझते। हजारों वर्षों से आदिवासी जंगल और पहाड़ों में रहते हैं। उनके पास जमीन है, जंगल अधिकार है, पर हम विमुक्त या धुमन्तू लोग न तो शहर के हैं, न ही जंगल के और न ही गाँव के बाशिदे। हम जंगल, गाँव और शहर के बीच झूल रहे हैं।”⁵ इन विमुक्त या धुमन्तू जनजाति के लोगों की स्थिति दलित व आदिवासी लोगों से भी गई गुजरी है। रमणिका गुप्ता अपने एक लेख में लिखती हैं—“दलित, आदिवासी लोगों को आरक्षण तो मिला पर इन्हें वह भी नहीं मिला।”⁶ इन विमुक्त धुमन्तू जनजाति के लोगों का अतीत गौरवशाली था। ये धुमन्तू लोग अतीत में हमारी मौखिक इतिहास व ज्ञान की समृद्ध परंपरा के संवाहक रहे हैं। भारतीय संस्कृति को प्रसारित करने के पुनीत कार्य को करते हुए इस समुदाय के लोग बैलों और गधों व यातायात के अन्यान्य साधनों की सहायता से पूरे देश और यहाँ तक कि मध्य-एशिया के देशों तक व्यापार-वाणिज्य चलाते हुए देश उत्थान में अपना योगदान देते आए हैं। धुमन्तू समाज के लोगों ने अपने विविध उद्यमों से न केवल समाज की रोजमर्ग की ज़रूरतों को पूरा किया है, बल्कि भारतीय समाज को एक सूत्र में बांधने में भी महनीय भूमिका का निर्वाहन किया है।

देश के स्वातंत्र्य-संघर्ष में इस समाज की महती भूमिका रही है। “1857 ई. के प्रथम स्वातंत्र्य समर में इसी धुमन्तू समाज के बंजारे थे, जो क्रांतिकारियों तक रसद व हथियार पहुँचाने का प्रबंध करते थे। कर्नाटक के ‘धंटीचोर’ नाम के धुमन्तू समाज के लोगों ने अंग्रेजों के खिलाफ कित्तूर चेन्नम्मा जैसे राजाओं का साथ दिया। महाराष्ट्र में ये धुमन्तू वीर शिवाजी महाराज के संघर्षों के साथी थे।”⁷ धुमन्तू समाज की इसी देश-निष्ठा व देश-प्रेम के कारण उन्हें अंग्रेजों का कोप-भाजन बनना पड़ा। इस समाज के लोगों ने अंग्रेजों के हर जुल्म को सहना मंजूर किया परंतु अपनी राष्ट्र-निष्ठा में तनिक भी कमी नहीं आने दी। अंततः तत्कालीन ब्रिटिश हुकूमत ने उनके दमन व उन पर अपनी हुकूमत कायम करने के उद्देश्य से 1871 ई. में ‘क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट’ बनाया। इस कानून के अंतर्गत अंग्रेजों ने विमुक्त या धुमन्तू समुदाय के लोगों को आपराधिक श्रेणी में डाल दिया। सबसे पहले इस अधिनियम को उत्तर भारत में लागू किया गया। उसके बाद 1876 ई. में बंगाल प्रेसिडेंसी, 1911 ई. में मद्रास प्रेसिडेंसी तथा 1929 ई. में इस कानून को हैदराबाद और मैसूर के धुमन्तू समुदायों पर लागू कर दिया गया।⁸ ‘क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट’ के अंतर्गत व्यक्ति को ‘जन्मजात अपराधी’ घोषित कर दिया जाता था। इस कानून के तहत अंग्रेजी हुकूमत ने उनकी सत्ता के

लिए खतरा बनी इन धुमन्तू विद्रोही जातियों का कूर दमन करना प्रारंभ कर दिया, जिसका इन जातियों पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इन जातियों के समाज की आर्तिक व्यवस्था का ढांचा पूर्णतया तरह चरमरा गया। वे अब अपनी आजीविका आदि अन्य चिंताओं को त्याग कर थानों में नित्य हाजिरी लगाने को बाध्य थे। गणेश देवी के अनुसार—“‘क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट’ के तहत सुधार बस्तियों की स्थापना करने का प्रावधान बना, जहाँ तथाकथित ‘अपराधी’ धुमन्तू लोगों को बंदी बनाकर रखा जाता और उन्हें बेगार करने के लिए बाध्य किया जाता। उन्हें दिन में कई बार पहरेदारों के पास जाकर हाजिरी देना जरूरी था, ताकि वे इन दमनकारी बस्तियों से भागने का प्रयास न कर सकें।”⁹

अंग्रेजों ने इन्हें ‘जन्मजात अपराधी’ घोषित कर के तार के बाड़ों से धेरे हुए एक निश्चित स्थान (उसे ‘टांडा’ कहा जाता था) पर रहने के लिए मजबूर कर दिया गया था। उनके इस अमानुषिक अत्याचार के बारे में बताते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि—“इनके बच्चों को जन्मते ही अपराधी होने का सार्टिफिकेट दे दिया जाता था। बारह साल तक के बच्चों को भी हर रोज थाने में हाजिरी देनी पड़ती थी। ये लोग थाने को खबर किए बिना बाड़े से, जिसे ‘टांडा’ कहा जाता था, बाहर नहीं जा सकते थे।”¹⁰ वर्ष 1947 ई. में जब देश को अंग्रेजी हुकूमत से मुक्ति मिली तो पूरे देश के जनमानस के समान इस समाज के लोगों के मन में भी अपने हालत की बेहतरी की आशाओं के अंकुर फूटे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में जन-विकास के विविध प्रक्रम शुरू किए गए। देश को तरक्की की राहों पर ले जाने के लिए कई उपक्रमों का श्रीगणेश हुआ। किसी भी देश की उन्नति व सर्वांगीण विकास के लिए उसमें रहने वाले सभी समूहों, वर्गों का समान विकास हो, यह अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। आजादी के बाद विकास की जो परिकल्पना की गई उसमें देश की धुमन्तू जनजाति के रूप में एक बहुत बड़ी आबादी की अवहेलना स्पष्ट रूप से रेखांकित की जा सकती है। उनका वैसा विकास नहीं हुआ, जैसा वांछित था। इससे बड़ी विडंबना क्या हो सकती है कि जहाँ सम्पूर्ण देश को 15 अगस्त 1947 ई. में स्वतंत्रता प्राप्त हो गई, वहाँ देश की एक बहुत बड़ी आबादी जो धुमन्तू समुदाय के रूप में थी उसे 31 अगस्त 1952 को मुक्ति मिली। अंग्रेजी हुकूमत ने जिन कठूर सशस्त्र विद्रोही समुदायों को ‘क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट-1871’ के तहत ‘जन्मजात अपराधी’ घोषित कर दिया था, वह विद्रोही समुदाय इन्हीं धुमन्तू लोगों का था। स्वतंत्रता के पाँच वर्ष बाद 31 अगस्त 1952 ई. को भारत

सरकार ने इस बर्बर एवं भेदभावपूर्ण, अमानुषिक कानून से घुमन्तू समाज के लोगों को मुक्ति दिलाई और इनको भी मुक्त घोषित किया गया। अंग्रेजों के भेदभावपूर्ण कानून के स्थान पर 'हैविचुअल ऑफेंडस एक्ट' लागू कर दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि जो ब्रिटिश विद्रोही समाज 1951ई. तक 'जन्मजात अपराधी' माने जाते थे अब 'आदतन अपराधी' माने जाने लगे और उनके नाम के आगे 'विमुक्त' शब्द का ठप्पा टांग दिया गया; जिससे यह पता चले कि यह पहले तथाकथित 'अपराधी समाज' के थे। बात यहीं नहीं खत्म होती, इस समुदाय के अनेक वीर योद्धाओं ने देश की आजादी के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। उन्होंने अंग्रेजों को नाकों चने चबाने पर मजबूर कर दिया। उन वीरों की दास्तान भी अब किसी को नहीं पता। अंग्रेजों तथा उनके चाटुकार इतिहासकारों की कुत्सित मानसिकता के कारण उनके संघर्ष को देश की आजादी के इतिहास में वह स्थान नहीं मिला जो मिलना चाहिए था। इतिहास में स्थान मिलना तो दूर की बात, उन्हें उनके बलिदान का सिला 'जन्मजात अपराधी' के संबोधन के रूप में मिला। इस बात का प्रमाण वर्ष 2008 में देश की संसद में एक 'एप्रोप्रिएशन बिल' की बहस के दौरान उड़ीसा के एक सांसद 'ब्रह्मानंद पांडा' के वक्तव्य में मिलता है जिसमें उन्होंने जिक्र किया था कि-'उनके निर्वाचन क्षेत्र का 'लोधा समुदाय' जो वास्तव में स्वतंत्रता सेनानी थे, उन्हें आज भी तथाकथित मुख्यधारा के समाज के लोग 'जन्मजात अपराधी' मानते हैं।' सांसद का उड़ीसा के लोधा समाज के बारे में दिया गया यह वक्तव्य देश की अन्य घुमन्तू जातियों- 'गुर्जर', 'महावत', 'नट', 'सांसी', 'सहारिया', 'कबूतरा', 'बंजारा', 'धनगर', 'वडार', 'विसाड़ी' आदि समुदायों पर भी लागू होता है।

अंग्रेजों के जाने के बाद स्वतंत्र भारत की सरकारों ने भी इन पर यथोचित ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम है कि आज भी इस समुदाय के लोग अत्यंत नारकीय जीवन यापन को विवश हैं। इस समाज की मुख्य समस्या- रोटी, कपड़ा और मकान की है। अन्य समस्याएं तो द्वितीय चरण की समस्याएं हैं। इस समाज के लोग तो इन मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति से महरूम हैं। न उनके पास रहने को घर है; घर की बात छोड़ो एक टुकड़ा जमीन जहाँ ये अपना तंबू लगा सकें, वह भी इनको मयस्सर नहीं है। अंतिम संस्कार के लिए इनके पास दो गज जमीन नहीं है। तथाकथित मुख्यधारा का समाज इन्हें अपने शमशान /

कब्रिस्तान के उपयोग की अनुमति नहीं देता। यह चुपके से किसी तरह जंगल या झाड़ी में अपने मृतकों का अंतिम संस्कार करते हैं। इनके पास जो परंपरागत रोजी के साधन थे वह या तो विविध सरकारी प्रतिबंधों के कारण या आधुनिक मशीनी युग के उत्पादों का मुकाबला न कर पाने के कारण समाप्त हो चुके हैं / रहे हैं। आजीविका का कोई मुकम्मल साधन न होने के कारण ये तरह-तरह की आपराधिक गतिविधियों में संलिप्त होने को अभिशप्त हैं। अब जिस समाज को रोटी, कपड़ा, मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की ही आपूर्ति के लाले पड़े हों, उनकी अन्य समस्याओं की बात भी बेमानी है। अरे भाई पहले पेट तो भरने की जुगत हो, सर ढंकने को छत हो, पहनने को लता हो तब तो अन्य समस्याओं की बात हो।

सन्दर्भ सूची

1. <http://sablog-in@denotified/nomadic/ sami/nomaic/tribes/and/literature/14536> (19 january 2023, 11:29pm)
2. घुमन्तू लोक जीवन की संस्कृति के विविध आयाम, संपा.- डॉ. हुकुमचंद जाधव, प्रकाशन-मित्तल एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2016, पृ. 7
3. भारत के विमुक्त एवं घुमन्तू जनसमुदाय, संपा., व्यंकट धारासुरे, प्रकाशन-जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण, 2020, पृ. 72
4. भारत के विमुक्त एवं घुमन्तू जनसमुदाय, संपा., व्यंकट धारासुरे, पृ. 72
5. विमुक्त-घुमन्तू आदिवासियों का मुक्ति संघर्ष, संपा.-रमणिका गुप्ता, प्रकाशन-कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 13
6. विमुक्त-घुमन्तू आदिवासियों का मुक्ति संघर्ष, संपा., रमणिका गुप्ता, पृ. 13
7. घुमन्तू जनजातियाँ समाज का उपेक्षित वर्ग, संपा., प्रवीण अधाना, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण-2022, पृ. 214
8. विमुक्त-घुमन्तू आदिवासियों का मुक्ति संघर्ष, संपा.,रमणिका गुप्ता, पृ. 12
9. घुमन्तू जनजातियाँ समाज का उपेक्षित वर्ग, संपा., प्रवीण अधाना, पृ. 214

—शेषांक चौधरी
शोधार्थी, हिंदी विभाग
हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय

भोजपुरी समाज और भिखारी ठाकुर

—जितेंद्र कुमार यादव

भोजपुरी साहित्य की एक समृद्ध परंपरा रही है। गोरखनाथ, कबीर, रैदास, लक्ष्मी सखी जैसे संत इसी मिट्टी से निकल कर तत्कालीन भारतीय समाज में जागरण का विगूल फूंका।¹ इसी कड़ी में भोजपुरी के शेक्सपीयर कहे जाने वाले प्रसिद्ध नाटककार भिखारी ठाकुर का नाम भी आता है। भिखारी ठाकुर ने 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अपने रंगकर्म के माध्यम से भोजपुरी समाज में लोक जागरण का कार्य किया। वह दौर स्वाधीनता आंदोलन का था। भिखारी ठाकुर अपने नाटकों में राजनीतिक सवालों के बरक्स सामाजिक-आर्थिक सवालों से जूझते नजर आते हैं। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से भोजपुरी समाज में नई सामाजिक चेतना का संचार किया। वे समाज-सुधार की भावनाओं से ओतप्रोत थे। उन्होंने तत्कालीन भोजपुरी समाज की सामाजिक कुरीतियों, बिंदंबनाओं एवं समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया। उनके कुछ महत्वपूर्ण नाटक बिदेसिया, बेटी वियोग, विधवा विलाप, गबरधिचोर, भाई विरोध, गंगा स्नान, पुत्र वध, पियवा निसइल आदि हैं। साहित्य जगत में ‘बिदेसिया, बेटी वियोग, गबरधिचोर की व्यापक चर्चा हुई है परंतु अन्य नाटक भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। भाई-विरोध नाटक भिखारी ठाकुर का एक महत्वपूर्ण नाटक है जिसमें संयुक्त परिवार के विघटन की समस्या को उठाया गया है। भाई विरोध का उपदर अपने बड़े भाई उपकारी से अलग हो जाता है और अंत में पत्नी के कहने पर छोटे भाई उजागर की हत्या कर देता है। भाई विरोध पारिवारिक संवेदना की एक दर्दनाक कहानी है। अंत में उपदर को यह आभास होता है कि उसने पत्नी के बहकावे में आकर यह नृशंस कृत्य किया। अंत में उसकी पत्नी भी उससे नफरत करने लगती है। वह कहती है—‘मरलस रे बेदरदा भाई के/ कइले हतियारी धोर, मुंह ना देखब तोर;/ करब खिदमत नझहर जाके भाई के/ चीकन बोलत बात काटि के सहोदर भ्रात;/ कइसे होखबछ तूं दोसरा के जनमाई के’² प्रेमचंद की तरह भिखारी ठाकुर का किसान भी मरते दम तक मरजाद को निभाता है। जग हंसाई का भय उसे सालता रहता है। गोदान में होरी के भाई ने गाय को जहर देकर मार दिया, परंतु होरी उस भाई को बचाने के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगा देता है। भाई विरोध में भी उपकारी की बहू कहती है—‘रो के हम करब काइ, सब लोग जानि/ जाइ; हंसियन गांव के जवार’³

उपदर चोरी किया है। पुलिस पकड़ने दरवाजे पर आई है परंतु उपकारी कह रहा है—‘ई हमार छोट भाई हवन / हम

इनकरा के बहुत जनलें-मनलें बानी। हमार दण्ड सजाय करीं।’¹² भिखारी ठाकुर अंततः संयुक्त परिवार के आदर्श को ही पुष्ट करते हुए दिखते हैं। भिखारी ठाकुर के सभी पात्र नाटक के अंत में अपने कृत्य पर पश्चाताप करते हैं। उपदर भी अपने भाई उपकारी से अलग होकर पश्चाताप करता है—‘हमरा कवना हेत से बिगड़ गइल मतिया/ लोक लाज सब खोके, भाई से अलग होके/ सहत बानी बहुत बिपतिया/ हमरा’¹³ भोजपुरी इलाके में नशा एक बहुत बड़ी समस्या है जिसके कारण अनेक घर बर्बाद हुए हैं। इसने निम्नवर्गीय परिवारों को उजाड़ने, उन्हें तबाह करने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की है। नशा के दुष्परिणामों की सबसे ज्यादा भुक्तभोगी स्त्री ही होती है। अधिकांश पुरुष नशा करके अपनी महिलाओं का मानसिक और शारीरिक शोषण करते हैं। भारतीय समाज में औरत को उस नशाखोर पति के साथ जिंदगी काटने की मजबूरी है। कलयुग प्रेम नाटक में नशा के दुष्प्रभाव और उससे मुक्ति की समस्या को प्रमुखता से उठाया गया है। निसइल नशा करके और शराब पीने में घर की समूची संपत्ति बेच चुका है। घर की हालत बताते हुए निसइल की पत्नी दुखहारिन कहती है—‘रात-दिन गारी चाहे फजिहत मारत-जूता लात/ आधा पाव खरची नइखे घर में लड़िका भूखे मरि जात/ ई दुख आइ के पहुंचल सिर पर हमरा से नइखे सहात/ अब का कहीं बस्तर नइखे तन पर सगरो गतर लखात।’¹⁴ निसइल अपनी पत्नी को छोड़कर एक अन्य औरत के साथ रहता है। वह घर का अधिकांश धन उसी पर लुटा रहा है।

भिखारी ठाकुर ने नशा के साथ उसकी सहोदर बुराईयों का भी चित्रण किया है। भिखारी की समूची रचना में पारिवारिक संबंधों की चिंता उभर कर सामने आई है। दरअसल ‘बिदेसिया’ पारिवारिक संबंधों की चिंता से ही ऊपजा हुआ कला रूप है। पलायन, परायी औरत, नशा आदि किसी भी कारणों से परिवार टूट रहा हो, बिदेसिया अंततः उसे जोड़ने का प्रयास करता है। वे बताते हैं कि परिवार कितना महत्वपूर्ण है। इसलिए यहां आज भी संयुक्त परिवार के प्रति लगाव देखा जा सकता है। भारतीय समाज में ‘रामचरित मानस’ की लोकप्रियता का महत्वपूर्ण कारण संयुक्त परिवार का आदर्श भी है। जर्मांदारी प्रथा के भयंकर शोषण के दिनों में भी भोजपुरी समाज ‘मनीआर्ड तंत्र’ के माध्यम से अपने आपको संभाले रखा। नगदी कमाने के लिए मजदूरों का प्रवसन भोजपुरी समाज की एक महत्वपूर्ण परिवर्तना थी। यह किसानों के अर्थतंत्र का महत्वपूर्ण स्रोत था। चंद्रशेखर लिखते हैं—‘पुराने सारण जिले में, जहां

बिदेसिया का जन्म हुआ था, वहां के किसान मनीआर्ड अर्थतंत्र से संतुष्ट थे।’¹⁵ ‘पियवा निसइल’ के अंतिम दृश्य में कलकत्ता कमाने गया दुखहारिन का बड़ा बेटा शंकर घर आ जाता है। आर्थिक संकट से गुजर रही दुखहारिन का दुख छूट जाता है—‘दुखहारिन के दुख भुलाइल। बहुत सा रूपया रहल कमाइल/ बेटा परत मातु के पांव। दुखहारिन के लवटल दांव।।’¹⁶ गहना प्रेम स्त्रियों की बहुत बड़ी कमजोरी रही है। प्रेमचंद ने भी ‘गबन’ उपन्यास में इस समस्या को उठाया है। निम्नवर्गीय परिवारों में ‘गहना’ महिलाओं के कलह का प्रमुख कारण होता है। यह बहुत सारी कुकृत्यों की जड़ भी बनता था। गहना के प्रेम में पागल ‘कलयुग प्रेम’ नाटक की छोटकी के बहकावे में आकर चपाट राम अपने बेटे की हत्या कर देता है। उसकी पत्नी उससे फरमाइस करती है—‘पिया हमरा के, हमरा के हसुली दे दज बनवाई/ बड़का भतिजवा के गवना हवहिसि/ का जाने अइहन बोलावे छोट भाई/ सिकरी, जोसन, बाजू, कंगना, पहुंची पुरनका दे दज झरवाई/ पटना से ढाका के ललका चदर, सबुजा गोटा दीहड़ लगवाई/ कहत भिखारी तिनपतिया झुलनी, नाहीं त नाक अइसहीं रह जाई।’¹⁷ घर की आर्थिक हालत खराब है और पत्नी गहने की जिद लगा रखी है। चपाट अपनी पत्नी को गहना का आश्वासन देता है—‘कहत भिखारी दास जिस दिन होई रुपया पास; आस पूरन होई तोप देब गहनवां में।’ परंतु चपाट की बहू छोटकी को अपनी गहना की आकांक्षा जल्द पूरी करनी है चाहे जो भी करना पड़े। इसी बीच गांव में फेरी वाला मिलनुआं सोनार उसके यहां आता है। वह उसे गहना देता है और बदले में उसके साथ शारीरिक संबंध भी बनाती है। इन दोनों के मिलने की आजादी में चपाट का दूसरी पत्नी से पैदा हुआ बेटा मुश्किल पैदा करता है। चपाट स्वयं अपनी पत्नी के बहकावे में आकर अपने बेटे की हत्या कर देता है। भिखारी ठाकुर इस नाटक में दिखाना चाहते हैं कि गहना प्रेम की परिणति क्या-क्या हो सकती है। भिखारी का नाच देखकर घर लौटी महिला जरूर अपने गहना प्रेम की इच्छा को दबाती होगी। भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में सामाजिक समस्याओं के साथ साथ धार्मिक स्थिरियों पर भी कड़ा प्रहार किया है। वे संत कवियों की तरह धार्मिक कर्मकांड की आलोचना कर सच्चे धर्म की बात करते हैं। ‘गंगा स्नान’ नाटक में तमाम तरह के कर्मकांडों पर सवाल उठाते हुए भिखारी ठाकुर लिखते हैं—‘माई परलि पंका, बेटा दिलन डंका, सहजे भइल हतेयारी/ जियता में कुत्ते-कुत्ता, बनिके पतोहू पूता; कटलन खूब ललकारी/ मुअला पर पिण्डा-पानी, दान होइ सोना-चानी;

लोग खाई पूँडी तरकारी सुनज, मत मानज भेद, इहे हठ कुरान-वेद; कहे कुतुबपुर के भिखारी॥⁹ ‘गंगा स्नान’ के मेला में मलेछू बहू की मुलाकात इच्छाधारी बाबा से होती है जो उसका गहना-गुरिया सब ठग लेता है। ‘गंगा स्नान’ में भिखारी ठाकुर मां-बाप की सेवा का ब्रत दिलाते हैं। वे तमाम धार्मिक कर्मकांडों से इसे श्रेष्ठ साबित करते हैं। वे साधु-संन्यासियों के वेश में धूम रहे ठग ‘औलादी बाबाओं’ से सावधान करते हैं। भिखारी ठाकुर का व्यक्तित्व यहां कबीर की भाँति एक सच्चे समाज सुधारक के रूप में दिखाई देता है।

भिखारी ठाकुर बुजुर्गों की समस्याओं को लेकर बहुत चिंतित थे। उन्होंने अपने नाटकों में बूढ़े व्यक्तियों (खासकर महिला पात्रों) की समस्याओं को बड़े मार्मिक ढंग से उठाया गया है। ‘बिधवा विलाप’ की मुसमात काकी, गंगा स्नान में मलेछू की माता आदि ऐसे पात्र हैं जिनका बुढ़ापे में कोई आसरा नहीं है। परिवार इन्हें बोझ मान चुका है। मलेछू की मां कहती है—“हालत भइल सोहराई का सुअर के/ जेकर जवान बेटा चारी/थाकल देह नेह सब छोड़लन;/ अइसन भइल बे-बिचार ॥”¹⁰ इसी नाटक में मलेछू की माई ही बुढ़शाला की बात करती है—“पङ्यां परत बानी गङ्यां में मेल कके/ खोलि डज धरम के दुआरी/बुढ़शाला के हाला उठा के; जल्दी करउ तड़यारी ॥”¹¹ भिखारी ठाकुर ने बुढ़शाला बनवाने को लेकर ‘बुढ़शाला का बयान’ नामक कविता लिखी जिसमें वे हिन्दू मुसलमान दोनों लोगों से आग्रह करते हैं कि गांव-गांव बुढ़शाला बनाने के लिए सब कोई मदद करे, नहीं तो बुढ़े लोगों का अपमान हो रहा है। आग्रह करते हैं—“मदद लेके थोरा-थोरा/ बने बुढ़शाला गांव-गांव में/मांगत बानी अतने भीख, हईं ‘भिखारी’ बच्चेपन के ॥”¹² समाज के सामने बुढ़शाला बनाने का प्रस्ताव रखना बिल्कुल नई बात थी। इससे जाहिर होता है कि पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव हमारे समाज पर बढ़ता जा रहा था और परिवार में बुजुर्गों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। खासकर ऐसे बृद्ध जो समाज में अकेले रह गए हैं। भिखारी ठाकुर ने अपने समय में इस समस्या को समझा था और समय से आगे जाकर उन्होंने बुढ़शाला के रूप में इसका एक निदान भी खोज लिया था, परंतु आज के समय में यह समस्या और भी गहराती जा रही है। वैश्वीकरण की दौड़ में सब कुछ पा लेने की आग में बूढ़ी-मां की आत्मा जलकर भस्म हो रही है।

‘पंचपरमेश्वर’ प्रेमचंद की एक मशहूर कहानी है। इस कहानी में पंच और पंचायत को मोहक और रोमांटिक रूप

में पेश किया गया है। प्रेमचंद के पंचों के विपरीत भिखारी ठाकुर के पंच यथार्थ जीवन के पंच हैं, गत्पुनिया के नहीं। पंचायती कर रहा भिखारी ठाकुर का पंच पैसे का नाम सुनते ही बदल जाता है—“गड़बड़ी : ‘हम रावां के कहतानी कि छंड़ा के हमरा में रखवा देती, त रावां के दू सौ रुपया।’ रुपया का नाम सुनते ही पंच जी की आवाज बदल जाती है। सुनिये अब क्या कहते हैं : पंच : ‘जो होने बढ़। ममिला में ना घबराये के ह। गलीज-सलीज बेटा ते जइहन? तनी-मनी सवांग के खबर दे दीं, त इनकर चाम खींच लिहसन।’”¹³ वही जब गलीज पांच सौ देने का वादा करता है तो पंच उसके तरफ हो जाते हैं। भिखारी ठाकुर ने समाज की क्रूर सच्चाई को दिखाया है। उनके पंच परमेश्वर नहीं हैं। बाबा साहेब डॉ अम्बेडकर ने लिखा है—“मैं व्यक्तिगत मानता हूं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि मुख्य न्यायाधीश प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं। इस सबके बावजूद न्यायाधीश सभी कमजोरियों, सभी भावनाओं और सभी पूर्वग्रहों वाले व्यक्ति हैं जो हम आम लोगों के पास हैं।”¹⁴

संदर्भ

1. श्री दुर्गा प्रसाद सिंह, भोजपुरी के कवि और काव्य, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 2001
2. भिखारी ठाकुर, भिखारी ठाकुर रचनावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ. 68
3. वही, पृ. 69
4. वही, पृ. 70,
5. वही, पृ. 107
6. चंद्रशेखर, लोकप्रिय संस्कृति का ढंडात्मक समाजशास्त्र, संस-जसम, इलाहाबाद, 2011, पृ. 41
7. भिखारी ठाकुर, भिखारी ठाकुर रचनावली, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ. 112
8. वही, पृ. 153
9. वही, पृ. 147
10. वही, पृ. 147
11. वही, पृ. 161
12. वही, पृ. 261
13. वही, पृ. 167
14. डॉ अम्बेडकर, सी. ए. डीवेट, भाग-8, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली 1014, पृ. 260

—जितेंद्र कुमार यादव
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय
बैनितो हुआरेज मार्ग, नई दिल्ली-110021

संपर्क-9968124622